ओ३म्

वैदिक-संग्रहः

(टिप्पण्यादिसमलङ्कृतः)

डॉ० कृष्ण लाल
उपाचार्य (रीडर), संस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली



ईस्टर्न बुक लिंकर्स
दिल्ली

ईस्टर्न बुक लिंकर्स
५/८६, विजय नगर (डबल स्टोरी), दिल्ली ११०००९

द्वितीय संस्करण : १९७७
मूल्य : रु० १० ००

मुद्रक —
अमर प्रिंटिंग प्रेस, (श्याम प्रिंटिंग एजेन्सी),
८/२५ विजय नगर (डबल स्टोरी), दिल्ली-११०००९

प्रिय पत्नी
श्रीमती शशिप्रभा
को
समर्पित

प्राक्कथन

गत कतिपय दशकों से महाविद्यालयीय और विश्वविद्यालयीय पाठ्यक्रमो मे समावेश हेतु वैदिक सकलन प्रकाशित किये जाते रहे हैं। मैकडॉनल की वैदिक रीडर एव पीटरसन के 'ए सिलेक्शन ऑफ हिम्ज फ्रॉम दि ऋग्वेद' से लेकर अब तक अनेक भारतीय एव विदेशी विद्वानो ने वैदिक सकलन प्रकाशित किये है। सूक्तो के चयन एव उनकी व्याख्या मे हरेक का अपना अपना दृष्टिकोण रहा है। वैदिक सूक्तो के लिये यह कहना कि अमुक सूक्त अधिक उत्तम है समीचीन नही है। अपौरुषेय ज्ञानराशि का प्रत्येक कण उपादेय है, हृद्य है, महत्त्वपूर्ण है। तारतम्य तो सकलनकर्ताओ की रुचि पर आधृत है। 'तस्य तदेव हि मधुर यस्य मनो यत्र सलग्नम्'—जो भी सूक्त अथवा ब्राह्मणभाग सकलनकर्ता को भा जाता है वही उसे महत्त्वपूर्ण लगता है। वह समझता है कि उन सूक्तो अथवा वैदिक वाङ्मय के अशो से सस्कृत के विद्यार्थी वैदिक वाङ्मय का सम्यक्तया परिचय प्राप्त कर सकेगे। इसी भावना से प्रेरित हो वह सकलन कार्य मे जुट जाता है और टिप्पणी व्याख्यादि के साथ उसे प्रकाशित करवा देता है।

वेद के विषय मे एक सुप्रसिद्ध उक्ति है—बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामय प्रहरिष्यति। वेद की व्याख्या के लिये तो व्याख्याकार को बहुश्रुत होना चाहिए। तदर्थ भूयोविद्य व्यक्ति ही प्रशस्त माना जाता है—भूयोविद्य प्रशस्यो भवति। वद की आत्मा को जो पहिचाने वही उसके साथ न्याय कर सकता है। उसम तो एक स्वर के इधर से उधर हो जाने पर अर्थ का अनर्थ हो जाता है

शताब्दियो स विद्वानो ने वेद की आत्मा को पहिचानने का प्रयत्न किया है। जैसा उनका सामर्थ्य था या जैसी उनकी समझ थी—'यथाशक्ति यथामति—उन्होने वेद के अर्थ करने का प्रयास किया है। पाश्चात्य और भारतीय विद्वानो की कई पीढियाँ इस काम मे जुटी रही हैं। पर कोई निश्चय से कह सकता है क्या कि उनम से कोई भी सही रूप से वेद के स्वरूप को पहिचान पाया है ?

सकलनकर्त्ता के लिए इस स्थिति में आवश्यक हो जाता है कि वह सभी क सभी—यदि यह सम्भव न हो—तो कम से कम सभी प्रमुख—वैदिक व्याख्याकारो का मत मन्त्रो की व्याख्या के समय उद्धृत करे। यदि उसका अपना भी कोई मत है जो पूर्व व्याख्याकारो से भिन्न है तो उसका भी वह उल्लेख कर सकता है।

प्रस्तुत सकलन मे यही किया गया है। सकलनकर्त्ता डॉ० कृष्णलाल वैदिक वाड्मय के अधिकारी विद्वान् हैं। वर्षों इन्होंने वैदिक अध्ययन एव शोध मे बिताये हैं। वे सस्कृत और हिन्दी क ख्यातनामा कवि भी हैं। इसी कारण वैदिक मन्त्रो के प्रसग मे भी उनके भीतर का कवि अपने को रोक नही पाया है और उनकी (मन्त्रो की) व्याख्या से पूर्व उन्होंने उनका सरल-सरस हिन्दी पद्यानुवाद भी प्रस्तुत कर दिया है जिससे प्रस्तुत सकलन को चार चाद लगा दिये है।

डॉ० कृष्णलाल ने अपनी समझ से उन सूक्तो का सग्रह मे सकलन किया है जो भाषा के साथ भाव की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं। उनकी व्याख्या उन्होंने विस्तार से यहाँ दी है। पूर्ववर्ती सभी प्रमुख देशी-विदेशी विद्वानों की व्याख्याओ को भी इन्होंने यहाँ प्रस्तुत किया है। व्याकरण विषयक टिप्पणियाँ भी पर्याप्त दी हैं जिससे इसकी उपादेयता बहुत बढ गई है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह सकलन महाविद्यालयीय एव विश्वविद्यालयीय सस्कृत छात्रो के लिए बहुत उपयोगी रहेगा एव च सस्कृत जगत् के द्वारा इसका समुचित सम्मान किया जायेगा।

सत्यव्रत शास्त्री
आचार्य एव अध्यक्ष
सस्कृत-विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय

'सुरभि',
३/५४, रूपनगर,
दिल्ली-७



प्रथम संस्करण की भूमिका

वेद अगाध रत्नाकर है। इस महापयोधि की कुछ अमृत-कणिकाओं का भी यदि मनुष्य आस्वादन कर सके तो वह कृत-कृत्य हो जाता है। बहुत समय से इन कणिकाओं का एक लघु-संग्रह तैयार करने का विचार मन में था। ईश्वरेच्छा से अब वह साकार हो सका है। मैक्डॉनल, पीटर्सन प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों द्वारा तैयार किये गये जिन संग्रहों के अध्ययनाध्यापन का अवसर मिला, उनसे सर्वदा मन में एक असन्तोष की भावना व्याप्त रही क्योंकि ऐसा लगा कि एक तो उनसे वेद का वास्तविक स्वरूप उभर कर नहीं आता और दूसरे वह भी स्वामी दयानन्द, श्री अरविन्द प्रभृति विद्वानों के विचारों के समावेश के अभाव में अधूरा रह जाता है।

दिल्ली विश्वविद्यालय के एम० ए० पाठ्यक्रम के लिए श्री सत्यभूषण योगी द्वारा तैयार किये गये संग्रह 'वेदसमुल्लास' से मुझे और अधिक प्रेरणा प्राप्त हुई। और इस प्रेरणा को बल मिला दिल्ली विश्वविद्यालय के संस्कृत-विभाग के अध्यक्ष, पूज्य गुरुवर प्रोफ़ेसर डॉ० सत्यव्रत शास्त्री द्वारा मेरे विचार की पुष्टि से।

यह प्रयत्न किया गया है कि इस संग्रह में प्रमुख वेद (मन्त्रब्राह्मण)-ग्रन्थों का सम्यक् प्रतिनिधित्व हो जाये और दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा बी० ए० (ऑनर्ज़) संस्कृत के पाठ्यक्रम में निर्धारित वैदिक अंशों का भी समावेश हो जाये। प्रत्येक मन्त्र का हिन्दी पद्यानुवाद दिया गया है। इस अनुवाद की यह विशेषता है कि इसमें अर्थों का क्रम मन्त्रों में विद्यमान शब्दों का क्रम ही है। इससे शब्द का अर्थ से सम्बन्ध स्थापित करने में सुविधा होती है। पद्यानुवाद के पश्चात् कुछ वाक्यों में मन्त्र में निहित भाव स्पष्ट कर दिया गया है। प्रत्येक सूक्त के आरम्भ में देवता परिचय सम्बन्धी लेख है। इसमें तत्तद्देवता के विषय में प्रमुख विद्वानों द्वारा प्रतिपादित मतों को आलोचनात्मक रूप में सङ्कलित करके देवता का स्वरूप स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। अधिकांश मन्त्रों के सम्बन्ध में सायण-भाष्य का सकलपाठ देने के स्थान पर शब्दशः टिप्पणियों में सभी विद्वानों के उपलब्ध भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना अधिक उपयुक्त समझा गया है। इन टिप्पणियों में यथासम्भव व्याकरण और

र से सम्बद्ध पूर्ण विवरण देने का प्रयत्न किया गया है। इस विवरण के
लए मुझे सबसे अधिक सहायता पंजाब विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में
ीडर पूज्य गुरुवर डा० रामगोपाल की पुस्तक वैदिक व्याकरण (दो भाग) से
ाप्त हुई है। मैंने निस्सङ्कोच इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का उपयोग किया है और
थान-स्थान पर उसके सन्दर्भ संकेत दिये हैं। इनके साथ साथ यास्क, स्कन्द-
ामी, वेंकट माधव, सायण, स्वामी दयानन्द, योगी अरविन्द, मैक्स म्युलर,
ासमन, गेल्डनर, मैक्डॉनल, सातवलेकर, वासुदेव शरण अग्रवाल, हरिशंकर
ोशी प्रभृति जिन उद्भट विद्वानों का साहाय्य इस पुस्तक में प्राप्त किया गया
उनके प्रति आभार-प्रदर्शन करना मेरा पुनीत कर्तव्य है। वैदिक ग्रंथों के
यन में बहुमूल्य सुझाव देने के लिए पूज्य गुरुवर श्री सत्यभूषण योगी के प्रति
ौर सत्प्रेरणा तथा प्राक्कथन के लिए पूज्य गुरुवर डा० सत्यव्रत शास्त्री के
ति आभार प्रदर्शित करते हुए मुझे महान् सन्तोष का अनुभव होता है। इस
वसर पर मैं अपने हितैषी मित्रों श्री कैलाश चन्द्र, श्री विश्वमोहन, डॉ०
गदीश कुमार, डॉ० नित्यानन्द शर्मा, डॉ० सूबे सिंह राणा, डॉ० ब्रह्ममित्र
वस्थी और डा० प्रह्लाद कुमार का शुभ स्मरण करना चाहता हूं।

अधिक क्या कहा जाये। आशा है कि यह पुस्तक विद्वानों और छात्रों—
ोनों को ग्राह्य होगी और वेद का स्वरूप स्पष्ट करने रूपी अपने उद्देश्य में
फल होगी।

स्वाभाविक है कि पुस्तक में कुछ अशुद्धियाँ (मुद्रणसम्बन्धी भी) रह गई
ोंगी। विद्वान् तो स्वयं ही अशुद्धि संशोधन कर सकते हैं—वे अपने बहुमूल्य
ुझाव देकर भी अनुगृहीत करें। मुद्रणालय द्वारा बहुत प्रयत्न करने पर भी
चित अक्षरमुद्राओं के कारण स्वर चिह्न कई स्थानों पर पूरे उभर नहीं सके
। किन्तु ऐसे स्थलों पर मुझे विश्वास है कि पद पाठ सहायक होगा।

कृष्णलाल

प्राध्यापक, संस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली ७

/११, रूप नगर,
दिल्ली ७
सं० २०३०)

द्वितीय संस्करण की भूमिका

'वैदिकसंग्रहः' का द्वितीय संस्करण पाठकों के हाथ में देते हुए मुझे अत्यन्त हर्ष एवं सन्तोष का अनुभव हो रहा है। पाठकों ने इसका जो स्वागत किया उससे मेरा बहुत उत्साहवर्धन हुआ है। वेदाध्ययन की सम्यक् पद्धति और वेदव्याख्या का समीचीन मार्ग बताना ही इस पुस्तक का उद्देश्य था, और उसमें यह पर्याप्त सफल रही है।

छात्रों की दृष्टि से प्राय इस पुस्तक के विषय में यह कहा गया है कि इसमें पूर्ण सायणभाष्य होना चाहिये। मेरा इस सम्बन्ध में यह विनम्र निवेदन है कि टिप्पणियों में अन्य भाष्यों के समान ही सायणभाष्य के महत्त्वपूर्ण अंशों का समावेश किया गया है उसकी उपेक्षा नहीं की गई। पूर्ण भाष्य न देने के पीछे मेरी यही दृष्टि रही है कि सभी भाष्यों को समान महत्त्व देना चाहिये। और यदि सभी भाष्य पूर्णरूपेण दिये जायें तो एक तो पुस्तक का कलेवर बहुत बढ़ जायेगा तथा मूल्य अधिक होने के कारण यह सभी छात्रों की पहुँच के बाहर हो जायेगी और दूसरे आधुनिक वैज्ञानिक अध्ययन के लिये तुलनात्मक टिप्पणियों की अवहेलना नहीं की जा सकती। जिन प्रबुद्ध छात्रों को अधिक जिज्ञासा होती है वे पुस्तकालय का प्रयोग करके अपनी जिज्ञासा शान्त कर ही लेते हैं। केवल सायणभाष्य को एकमात्र आधार बनाने की बात भी मेरी समझ में नहीं आती। अन्यथा सम्पूर्ण सायणभाष्य उतार कर रख देना कोई कठिन कार्य नहीं।

मन्त्रों का जो हिन्दी-पद्यानुवाद किया गया है, इसके स्थान पर (या उसके साथ साथ) हिन्दी अन्वयानुवाद दिया जाये—ऐसा भी मन्तव्य मेरे पास पहुँचा। मेरे विचार में पद्यानुवाद का स्पष्टीकरण उसके नीचे दी गई संक्षिप्त व्याख्या में हो जाता है, फिर अपना वाक्य बनाना किसी के लिये कठिन नहीं।

फिर भी जिन सज्जनों ने उपर्युक्त बातों की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट किया, उनके प्रति मैं आभार प्रकट करता हूँ और आशा करता हूँ कि भविष्य में भी वे मुझे अनुगृहीत करते रहेंगे।

विगत संस्करण में कई स्थानों पर स्वरचिह्न टूट गये थे। उन्हें इस संस्करण में संशोधित करने का प्रयत्न किया गया है।

संक्षेप सूची

अ.—अरबी
अं—अंग्रेज़ी
अथर्व—अथर्ववेद (शौनक)
अ. प्रा.—अथर्ववेद प्रातिशाख्य
अर—योगी अरविन्द घोष
अवे.—अवेस्ता
उ.—उवट
ऋ.—ऋग्वेद
ऋ. प्रा०—ऋक्प्रातिशाख्य
ऐ. ब्रा.—ऐतरेय ब्राह्मण
(ओ) ओ. ब.—ओल्डन बर्ग
गिरि.—गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी
(वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति)
गेल्ड.—गेल्डनर (देअर ऋग्वेद)
गो.—गोपथ
ग्रास.—ग्रासमन (वोर्टरबुख त्सुम ऋग्वेद)
ज.—जर्मन
तु.—तुलनीय
तै. ब्रा०—तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै. सं.—तैत्तिरीय संहिता
दे.—देखिये
नि.—निरुक्त
प. पा.—पदपाठ
पा.—पाणिनीय अष्टाध्यायी
पी.—पीटर पीटर्सन
प्रिय.—प्रियरत्न (यमपितृपरिचय)
ब्लूम.—मौरिस ब्लूमफील्ड
मक्स.—मक्स म्युलर

मनु —मनुस्मृति
मही —महीधर
मै —आर्थर एन्थोनी मैक्डॉनल
या —यास्क
यू —यूनानी
ला —लातीनी
लिथु —लिथुआनी
वा प्र —वाजसनेयिप्रातिशाख्य
वा श (वा श अ)—वासुदेवशरण अग्रवाल
वा स —वाजसनेयिसंहिता
वि वै शो स —विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान
वें—वेंकट माधव
वेल —हरिदामोदर वेलणकर
वे वि नि —वेद विद्या निदर्शन भगवद्दत्त)
वै ग्रा स्टू —वैदिक ग्रामर फार स्टूडेंटस (मैक्डॉनल)
वै री —वैदिक रीडर (मैक्डॉनल)
वै वि द —वैदिक विश्व दर्शन २ भाग (हरिशंकर जोशी)
वै व्या —वैदिक व्याकरण—२ भाग (डा रामगोपाल)
वै स्व स —वैदिक स्वर समीक्षा (अमरनाथ शास्त्री)
वो ग्रु —वोतरबुख त्सुम ऋग्वेद (ग्रासमन)
व्हि —विलियम ड्वाइट व्हिटने
श ब्रा —शतपथ ब्राह्मण
स —संस्कृत
सा —सायण
सात —श्रीपाद्दामोदर सातवलेकर
स्क —स्कन्दस्वामी
स्वा द —स्वामी दयानन्द सरस्वती
ह ए—हरिशंकर जोशी (वैदिक विश्व दर्शन)

अग्निः

यद्यपि सूक्तों की सख्या की दृष्टि से इन्द्र (२५० सूक्त) का महत्व ऋग्वेद में सबसे अधिक प्रतीत होता है, तथापि तात्त्विक दृष्टि से २०० सूक्तों में वर्णित होने पर भी अग्नि सर्वप्रधान दिखाई देता है। सम्भवतया इसीलिये अन्यान्य देवों को अग्नि बताया गया है यथा अग्निर्वै द्वाः (श० ब्रा० ५।३।१।१०), अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः, इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः इत्यादि (ऋ० १।१६४।४६), अग्नेरनीक बृहतः सपर्यं दिवि शुक्र यजतं सूर्यस्य (ऋ० १०।७।३), अग्ने गर्भो अपामसि (वा० स० १२।३७), अग्निर्वै सर्वा देवता (ऐ० ब्रा० १।१), ते देवा अग्नौ तनूः सन्यदधत। तस्मादाहुरग्निः सर्वा देवता इति (तै० ब्रा० ३।२।६।१०) इत्यादि।

सर्वप्रधान और सर्वव्यापक होने के साथ ही साथ अग्नि अग्रणी भी है, सर्वप्रथम है। उसका जातवेदा नाम इस विशेषता का द्योतक है। इसकी पुष्टि श० ब्रा० १४।२।५ के इस वचन से होती है—अग्निर्वै सर्वेषां देवानामात्मा, और तै० स० २।१।६।४ में तो अग्नि का जन्म सब देवताओं से पूर्व बताया है—अग्निमेव देवताना प्रथममसृजत।

ऋग्वेद के सभी मण्डलों के आदि में अग्निसूक्तों के अस्तित्व से इस देव की प्रमुखता प्रकट होती है। भूमण्डल के विभिन्न प्रमुख तत्त्वों से अग्नि का सम्बन्ध बताया गया है। ऋ० २।१।१ के अनुसार अग्नि आकाश, सूर्य, जल, पाषाण, वनस्पतियों, ओषधियों और मनुष्यों से उत्पन्न होता है। यास्क का झुकाव भी अनेक देवों को अग्नि मानने की ओर ही है जैसा कि द्रविणोदा, वैश्वानर, इध्म, तनूनपात्, नराशस, द्वार, त्वष्टा, वनस्पति इत्यादि देवों के विवेचन से स्पष्ट होता है।

अग्नि होता है, पुरोहित है, यजमान है। यह विचित्र कीर्ति वाला है। अपने स्तोताओं को रत्नादि समृद्धि प्रदान करता है। घृत से अग्नि का सम्बन्ध अनेक स्थलों पर बताया गया है। वह घृतमुख है, घृतचक्षु है, घृतपृष्ठ है और उसका निवास भी घृत में है—घृतमस्य धाम। वह आकाश में सर्वप्रथम उत्पन्न

होता है—दिवस्परि प्रथमं जज्ञे (शायद सूर्य के रूप में)। अग्नि के तीन रूपों (त्रेधा) का उल्लेख है। इससे पृथ्वीस्थानीय, अन्तरिक्षस्थानीय और द्युस्थानीय अथवा गार्हपत्य, आहवनीय और, दक्षिणाग्नि, या मन, प्राण, वाक्, (सत्त्व, रजस् और तमस्) का संकेत प्राप्त होता है। इसी तथ्य को दूसरे शब्दों में ऐसे कहा गया है—एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धः। अग्नि को त्रिधातु भी कहा गया है, वही अर्क है, अजस्र घर्म और हवि भी है। यह अन्नाद है, सम्भवतया इससे जठराग्नि अभिप्रेत है। वह वरेण्य धनिधि है। वैश्वानररूप में इसे आकाश की मूर्धा, पृथिवी की नाभि और रोदसी की स्थिरता माना है। इसे दूत भी कहा गया है और इसलिये वह्नि तथा हव्यवाट् (आहुतियों का वहन करने वाला) भी। यह रयिपति (धन, ऐश्वर्य का स्वामी), गृहपति, पावक (पवित्र करने वाला), वृषा (प्रजननशक्ति से युक्त), राजा (द्युतिशील, शासक), हरिकेश, कवि (क्रान्तदर्शी), चन्द्र, चन्द्ररथ (चन्द्ररूपी रथ वाला), अप्सुषद् (जल में निवास करने वाला), स्वर्विद् (आकाश को जानने या प्राप्त करने वाला), अजिर, प्रत्न, (पुरातन), यज्ञस्य केतु (यज्ञ का चिह्न), कविक्रतु (क्रान्तदर्शी क्रियाओं वाला), नेता, ऋतुपा (ऋतुओं का रक्षक), वृत्रहा (वृत्र-नाशक), शुचिदन् (चमकीले दाँतों—अंगारों वाला), प्रचेता इत्यादि है।

इसके जन्म के विषय में यह विचित्र बात है कि यह स्वयं पिता है और स्वयं ही पुत्र (अग्नेरग्निरजायत)। वास्तव में इसके मूल में आत्मा वै जायते पुत्रः का सिद्धान्त है। इसकी दो माताएँ हैं क्योंकि यह दो अरणियों से उत्पन्न होता है। इसी प्रकार कहा गया है कि इन्द्र ने दो पाषाणों के मध्य अग्नि को जन्म दिया है। इसे दस युवतियों की सन्तान कहा गया है। स्पष्ट ही यहाँ दस युवतियों से अग्नि प्रज्वलित करने वाले की दस उंगलियाँ अभिप्रेत हैं। वह आकाश का शिशु है। इसे बल का पुत्र (सहस सूनु) तो बार बार कहा गया है। यह तीन माताओं वाला (त्र्यम्बक) है। ये तीन माताएँ आकाश अन्तरिक्ष और पृथ्वी हो सकती हैं। या आध्यात्मिक दृष्टि से इन्हें मन, प्राण, वाक कहा जा सकता है।[1] उत्पन्न होते ही अग्नि ने सभी लोकों को देख लिया—जातो यदग्ने भुवना व्यख्यः। अग्नि का जन्म जल से भी माना गया है—अपां नपात्। इसी प्रकार उसे अपां गर्भ भी कहा गया है। जल में अग्नि निरन्तर समिद्ध होता है (अप्सु अजस्रमिन्धानः। यहाँ जल से सम्भवतया विश्व-सृष्टि के मूल जल के प्रति संकेत है।

अग्नि की प्रमुख क्रियाएँ वनों का भक्षण, अन्धकार को ध्वस्त करना,

---

१ वेदरश्मि, पृ ७।

देवताओं को यज्ञों में लाना, आहुतियों का वहन करना इत्यादि हैं। यद्यपि ये क्रियाएं भौतिक अग्नि से सम्बद्ध हैं, तथापि ऋग्वैदिक ऋषियों ने उसके आध्यात्मिक रूप का भी विशद वर्णन किया है। प्रतीकार्थ में तो वासुदेवशरण अग्रवाल प्रभृति अनेक विद्वान् उपर्युक्त क्रियाओं को भी आध्यात्मिक ही मानते हैं। ऋग्वेद में स्पष्ट उल्लेख है कि मरणधर्मा मनुष्यों में अमर अग्नि का निधान किया गया—मर्तेष्वग्निरमृतो निधायि। यहाँ अग्नि परमतत्त्व के तुल्य है। वह न केवल भौतिक समृद्धि का स्वामी है अपितु अमर-समृद्धि का भी—ईशे ह्यग्निरमृतस्य भूरेरीशे रायः सुवीर्यस्य दातोः। उत्पन्न होते ही वह सब लोकों को देख लेता है। वह सब से प्रमुख है, वह मुख है। पुरुष सूक्त में अग्नि का जन्म पुरुष के मुख से बताया गया है—मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च। श०ब्रा० (३।७।२।६) में अग्नि को देवताओं का मुख कहा है—अग्निर्वै देवानां मुख प्रजनयिता। तै०ब्रा० (१।८।८।१) में आता है कि अग्नि ऋत की प्रथम सन्तान है, देवताओं से पूर्व उत्पन्न हुआ है और अमरत्व का केन्द्र (अमृतस्य नाभिः) है।

अग्नि का सबसे अधिक सम्बन्ध इन्द्र से है। अनेक सूक्तों में इनकी सह-स्तुति हुई है। सम्भव है कि इस रूप में ये दोनों देव सूर्य के रूप में आते हों। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि इन्द्र के मूल में मानी गई इन्ध् धातु का अर्थ अग्नि का गुण या प्रज्वलित होना ही है। दोनों को ही वृत्रघ्न कहा गया है। वे दोनों साथ साथ बढ़ने वाले हैं। श०ब्रा० (६।२।२।२८) में इन्द्राग्नी को सभी देवों का प्रतिनिधि माना गया है—इन्द्राग्नी वै सर्वे देवा.। अन्य देवताओं के अतिरिक्त अग्नि का सोम के साथ सम्बन्ध विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ऋ० ५।४४।१५ में सोम अग्नि के पास जाकर अपना सख्य प्रकट करता है। जिस प्रकार इन्द्र सोम से अभिवृद्ध होता है उसी प्रकार अग्नि भी। अग्नि का मरुतों के साथ आह्वान किया गया है। यों तो अनेक देवों को अग्नि के नाम से अभिहित किया गया है, किन्तु रुद्र के लिये अग्नि का नाम महत्त्वपूर्ण है क्योंकि अन्य संहिताओं तथा ब्राह्मणग्रन्थों में यह परम्परा पुनरावृत्ति के कारण और सुदृढ़ हो गई है (श०ब्रा० ५।२।४।१३—यो वै रुद्रः सोऽग्निः)।

अग्नि शब्द की तुलना लैटिन इग्निस्, स्लैवानिक ओगिन आदि से की जा सकती है। और इससे इस शब्द के विस्तार का ज्ञान होता है। यास्क द्वारा प्रदत्त निरुक्तियों अङ्गं नयति सन्नममानः (प्रत्येक पदार्थ की ओर प्रवृत्त होता हुआ उसके शरीर को ले लेता है), अक्नोपनो भवति (सुखा देता है), इतात् (इ=जाना), अक्ताद्दग्धाद्वा (अञ्ज्=लिप्त होना या दह्=जलना), नीतात् (नी=ले जाना) से अग्नि का भौतिक रूप, अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते (यज्ञों में आगे आगे ले जाया जाता है), अग्रणीर्भवति (सब का नेता है) से इसका

दिव्य रूप और उसके द्वारा उद्धृत ब्राह्मणवचन 'अग्निः सर्वा देवताः' से इसका आध्यात्मिक रूप प्रकट होता है। परन्तु उसका निष्कर्ष यह है कि प्रमुख रूप में सूक्तों मे इसी पार्थिव अग्नि की स्तुति की गई है और इसे ही यज्ञों मे आहुति अर्पित की जाती है। कुछ विद्वान् इसकी निरुक्ति अग् = अङ्ग् (जाना) धातु से भी करते हैं क्योंकि यह सर्वत्र जाता है। मैक्डॉनल ने इसका निर्वचन अज् धातु से किया है और इसे गतिमान् बताते हुए भूताग्नि माना है। परन्तु यह ध्यान मे रहना चाहिये कि इन गत्यर्थक धातुओं से व्याप्ति का बोध भी होता है। व्याप्ति मे आत्म-तत्त्व और ब्रह्मतत्त्व का सकेत भी मिलता है। श० ब्रा० ६।१।१।११ मे अग्नि की व्युत्पत्ति केवल अग्र शब्द से की गई है और कहा गया है कि देवताओं के परोक्षकाम होने के कारण अग्रि को ही अग्नि कहते हैं। तदनुसार अर्थ यह कि अग्नि सभी प्राणियों के अन्दर स्थित है और प्राणियों के जीवन मे सर्वप्रथम इसकी ही सृष्टि होती है (यो गर्भोऽन्तरासीत् सोऽग्निरसृज्यत, स यदस्य सर्वस्याग्रमसृज्यत तस्मादग्रिरग्रिर्ह वै तमग्निरित्याचक्षते परोक्षं परोक्षकामा हि देवाः)। इसके अनुरूप ही तै० ब्रा० का 'अग्निरग्रे प्रथमो देवतानाम्' वचन है। अग् (गतिशील होना, प्रमुख होना आदि) धातु से अग्नि का निर्वचन करते हुए अरविन्द ने इसे गतिशील जीवन तत्त्व तथा प्रकाश और शक्ति का प्रतीक माना है। इस तत्त्व का निवास अनन्त चिरन्तन सत्य में है। वह इस सत्य का सतत प्रकाश है जो मन की धुधली और पर्याक्रान्त दशाओं मे भी प्रदीप्त रहता है।

इसी विचारधारा के समानान्तर वासुदेव शरण अग्रवाल प्रभृति विद्वानों ने अग्नि को प्राणियों के भीतर विद्यमान अमर आत्मतत्त्व या शरीर को उष्ण रखने वाला प्राणतत्त्व माना है। यही प्राणतत्त्व रुद्र है और यही सोम का अर्थात् अन्न का भक्षण करके जीवन्त रहता है और शरीर को जीवित तथा गतिशील रखता है। इसे ही परम तत्त्व भी माना गया है। वस्तुत. सभी वैदिक देव परम तत्त्व के प्रतिरूप हैं जैसा कि मनु की इस उक्ति से स्पष्ट है :—

> एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ।
> इन्द्रमेकेऽपरे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥ (मनु० १२।१२३)

स्वामी दयानन्द ने इसी तथ्य की पुष्टि अन्यान्य प्रमाणों से भी की है। श० ब्रा० १।४।२।११ मे ब्रह्म ह्यग्निः तथा श० ब्रा० १।२।३।२ मे आत्मा वा अग्निः वचन भी इसके पोषक हैं। परन्तु इसके साथ ही स्वामी दयानन्द अग्नि का भौतिक स्वरूप भी स्वीकार करते हैं। इसकी पुष्टि श० ब्रा० १।३।३।३० के वचन असौ वा एष भूत्वा देवेभ्यो यज्ञं वहति तथा श० ब्रा० १।४।३।१२ के अग्निर्वै योनिर्यज्ञस्य से भी होती है।

निष्कर्षतः ऋग्वेद में तथा सामान्यतया वैदिक साहित्य में भी अग्नि का अध्यात्मोन्मुख भौतिक स्वरूप माना जा सकता है।

ऋ० १।१

ऋषिः—मधुच्छन्दाः, देवता—अग्निः, छन्दः—गायत्री।

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम् ॥१॥

अग्निम्। ईळे। पुरःऽहितम्। यज्ञस्य। देवम्। ऋत्विजम्। होतारम्। रत्नऽधातमम् ॥

अग्नि की मैं स्तुति करता, जो पुरःस्थित, यज्ञ का दिव्य ऋत्विज है।
जो करता आह्वान, श्रेष्ठ धनदाता, (सबका हो शुभचिन्तक है) ॥

अग्निम्—अनुदात्तौ सुप्पितौ (पा० ३।१।४) से अम् विभक्ति अनुदात्त होनी चाहिये, किन्तु उसका पूर्वरूप एकादेश होने के कारण 'एकादेश उदात्तेनोदात्तः' (पा० ८।२।५) से अन्त्य स्वर इकार उदात्त है।

ईळे—अधिकांश विद्वानों ने इसका अर्थ स्तौमि (मैं स्तुति करता हूँ) किया है। यास्क (या०)—याचामि (मैं मांगता हूँ—प्रेरित करता हूँ)। स्वामी दयानन्द (स्वा० द०)—दोनों अर्थ। दो स्वरों के मध्य आने वाला ड और ढ क्रमशः वेद में ळ और ळह् में परिणत हो जाता है—अज्मध्यस्थडकारस्य ळकार बह्वृचा जगुः। अज्मध्यस्थढकारस्य ळहकार वै यथाक्रमम्॥ 'तिङ्ङतिङः' (पा० ८।१।२८) से तिङन्त पद पहले न होने के कारण तथा वाक्य के मध्य आने के कारण यह पद सर्वानुदात्त है। ईड् धातु से यूनानी ऐदोमाई (लज्जित होना) की तुलना की जा सकती है।

पुरःऽहितम्—या०, सायण (सा०), मैकडॉनल (मै०), ग्रोल्डनबर्ग (ग्रो०) स्कन्दस्वामी (स्क०) प्रभृति विद्वान्—पुरोहित, यज्ञकर्म सम्पादित करने वाला। सा० और स्क० इसका लाक्षणिक अर्थ करते हुए कहते हैं कि जैसे पुरोहित यज्ञकर्मों द्वारा राजा की आपत्तियों से रक्षा करके उसका अभीष्ट सम्पादित करता है, उसी प्रकार अग्नि भी अभीष्ट सम्पादित करता है। (सा० यथा राज्ञः पुरोहितस्तदभीष्टं सम्पादयति तथाग्निरपि यज्ञस्यापेक्षित होमं सम्पादयति. स्क. शान्तिकपौष्टिकैः कर्मभिर्यो राजानमापद्भ्यस्त्रायते स पुरोहितः) इनकी वैकल्पिक व्याख्या तथा वेंकटमाधव (वें०) और मुद्गल (मु०) के अनुसार इस

पद का अन्वय 'यज्ञस्य' के साथ करके इसका अर्थ 'यज्ञ के पूर्व भाग में स्थापित आहवनीयाग्नि' किया गया है। स्वा० द० के अनुसार इसका अर्थ है, 'उत्पत्ति के समय से पहले परमाणु आदि सृष्टि का धारण करने वाला परमेश्वर या पदार्थों के उत्पादन से पूर्व भी छेदन, धारण आकर्षण आदि गुणों को धारण करने वाला भौतिक अग्नि (पुरस्तात् सर्वं जगद्दधाति छेदनधारणाकर्षणादि-गुणांश्चापि)। अरविन्द (अर०) ने इसे हमारे 'ईश्वरोन्मुख कार्यों का नेतृत्व करने वाली प्रेरक शक्ति' बताया है। सातवलकर (सात०) इसका अर्थ 'स्वयं आगे बढ़कर लोगों का हित करने वाला' करते हैं। गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी (गिरि०) ने इसका व्यापक अर्थ करते हुए कहा है कि 'जो कुछ हमारे सामने है, वह सब अग्नि है। तु० नि० ७।३।८—यत्त्व किञ्चिद्दार्ष्टिविषयिकमग्निक-र्मैव तत्—जो भी पदार्थ सामने हमारी दृष्टि में आता है वह सब अग्नि का ही कर्म है। मैं० के अनुसार समास में उत्तरपद क्तान्त होने पर पूर्वपद पर उदात्त होता है। परन्तु पा० के अनुसार 'समास अन्तोदात्त' से अन्तोदात्त प्राप्त होने पर भी 'तत्पुरुषे तुल्यार्थ' (पा० ६।२।२) इत्यादि से या पुरः पद की गति संज्ञा होने पर (पुरोऽव्ययम्), 'गतिरनन्तरः' (पा० ६।२।४९) से पूर्वपद का प्रकृति-स्वर अर्थात् पुरोहित का ओकार उदात्त है।

यज्ञस्य—सा० वें० आदि के समान इसका अन्वय केवल पुरोहितम् के साथ करना उचित नहीं प्रतीत होता। स्वा०द० ने इसका अन्वय सभी द्वितीयान्त पदों से माना है। यज् धातु के धातुपाठगत अर्थों के आधार पर वे इसका अर्थ 'महिमा, कर्म, विद्वानों का सम्मान या संगति' करते हैं। मैं० के मतानुसार इसका सम्बन्ध केवल पुरोगामी ऋत्विजम् के साथ है। सात० ने यहाँ यज का संगतिकरण अर्थ लेकर यज्ञ का अर्थ 'समाज का संगठन या शुभकर्म' किया है। गिरि० के अनुसार अन्य व्यक्तियों से अपने लिये कुछ ग्रहण करने और उन्हें कुछ प्रदान करने का नाम ही यज्ञ है। अर० भी समस्त विश्व का आधार यज्ञ अथवा दानक्रिया मानते हैं। देवताओं या परमात्मा को उद्दिष्ट सभी अन्तर्बाह्य क्रियाएँ यज्ञ नाम से अभिहित होती हैं। या० ने यज् धातु से निरुक्ति के अतिरिक्त इसकी निरुक्ति यजुषन्नो भवतीति वा...यजू-ष्येन नयन्तीति वा (यजुर्मन्त्रों से युक्त कर्म) भी की है। इस शब्द से अवेस्ता—यस्न, गाथा—यस्नह्य और यूनानी—हग्नोस् की तुलना की जा सकती है।

देवम्—दिव्यशक्तिरूप, प्रकाशक। इसकी व्युत्पत्ति दिव् धातु (चमकना या दान करना) से मानी जाती है।—सा० दानादिगुणयुक्तम्। अग्नि अथवा परमेश्वर सब पदार्थों को समस्त जनों तक पहुँचाता हुआ, सबको जीवनदान

देता हुआ मानो स्वयं यज्ञ के नियमों को प्रकाशित करता है। या० ने द्युस्थानो भवतीति वा (वह आकाश में अवस्थित होता है) निरुक्ति भी दी है। तु० अवेस्ता—दएव (राक्षस), लैटिन—दिउस्। अर० के अनुसार 'देव' बाह्य प्राकृतिक शक्तियों के इच्छा, मन आदि आभ्यन्तर रूप हैं—दिव्य तत्त्व।

ऋत्विजम्—ऋतौ यजति=(ऋत्विग्दधृक्...पा० ३।२।५९ से निपात) —जो ऋतु में अर्थात् नियत समय पर यज्ञ करता है। सा०, स्क० और मु० ने इसे होतारम् का विशेष्य माना है। दे० मा० देवानां यज्ञेषु होतृनामक ऋत्विगग्निरेव। वें० ने इसकी व्याख्या स्वे स्वे काले देवानां यष्टारम् (अपने अपने उचित समय में देवों का यज्ञ करने वाला) की है। उपरिलिखित निर्वचन के अतिरिक्त या० ने इसकी एक अन्य व्युत्पत्ति—ऋग्यष्टा भवतीति शाकपूणिः (ऋचाओं के द्वारा यज्ञ करने वाला) भी की है। स्वा० द० ने इसकी परमेश्वरपरक व्याख्या की है—य ऋतौ ऋतौ प्रत्युत्पत्तिकालं संसारं यजति, करोति, संगतं सर्वेषु ऋतुषु यजनीयः तम् (बारबार उत्पत्ति के समय में स्थूल सृष्टि के रचने वाले तथा ऋतुऋतु में उपासना करने योग्य)। गिरि० ने इसे सर्वव्यापी अग्नि मानकर अर्थ किया है, "विभिन्न ऋतुओं में जो अग्नि विभिन्न पदार्थों या तत्त्वों के रूप में प्रकट होता है।' अर० के अनुसार 'ऋतु' सत्य का नियम धर्म है, अग्नि उस धर्म के अनुकूल यज्ञ करने वाला पुरोहित है—दूसरे शब्दों में आत्मा। ऋतु के लिये तु० अवेस्ता—रतु, यूनानी, लातीनी —अर्तुस्। 'गतिकारकोपपदात् कृत्' (पा० ६।२।१३९) से कृत्-प्रत्यययुक्त उत्तरपद में प्रकृतिस्वर के कारण 'इ' उदात्त है। मै० के अनुसार समस्तपद होने पर भी प० पा० में इसका विग्रह नहीं किया गया क्योंकि उत्तरपद इज् स्वतन्त्र शब्द नहीं है।

होतारम्—वह अग्नि जो सब दैवी शक्तियों का अपने अपने कार्य के लिये आह्वान करता है, उन्हें प्रेरित करता है। या जो सब मनुष्यों का सत्कर्मों के निमित्त, यज्ञकर्म के निमित्त आह्वान करता है। जो उसका आह्वान सुनते हैं वे सत्कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। सात०—विद्वानों को बुलाने वाला। या० को भी (देवानाम्) ह्वातारम्, (देवों को बुलाने वाला) अर्थ सम्मत प्रतीत होता है। वें० ने यही अर्थ दिया है। √हु (आहुति देना) से भी उसने इसकी व्युत्पत्ति मानी है—जुहोतेर्होतेत्यौर्णवाभः। दे० ऐ० ब्रा० १२।२—'अग्निर्वै देवाना होता'। स्वा० द० ने भी सम्भवतया √हु से व्युत्पन्न मानते हुए इसका अर्थ 'दातारमादातारं वा' देने या ग्रहण करने वाला) किया है। इसी धातु के आधार पर गिरि० ने 'होम का साधन' अर्थ किया है क्योंकि तदनुसार 'अग्नि में ही

हवन कर सकते हैं। यही धातु मानते हुए अर० इसे आहुति देने वाला मानते हैं क्योंकि 'अग्नि की शक्ति ही यज्ञ के प्रतीकरूप कार्य में सत्य का प्रयोग करती है—सत्य की आहुति देती है।' तु० अवेस्ता—जओतर्। धातु से तृन् प्रत्यय लगने से प्रत्यय के न् इत् होने के कारण आद्युदात्त है।[ञ्नित्यादिर्नित्यम्]

रत्नधातमम्—धन देने वालों में श्रेष्ठ। उस सर्वनियन्ता सर्वाधीश्वर से अधिक अच्छा धनदाता और कौन हो सकता है। रत्न का अर्थ प्रायः दा०, वे० प्रभृति भारतीय विद्वानों ने 'रमणीय धन' किया है। 'धा' का अर्थ दान करने वाला या धारण करने वाला दोनों ही है। सम्भवतया रत्न शब्द √रा (दान करना) से व्युत्पन्न है और इस प्रकार इस अकेले शब्द से यज्ञ-दान-प्रधान वैदिक संस्कृति का परिचय मिलता है। ईश्वर हमें धनसम्पत्ति दान के निमित्त देता है, और यही उसके दान की श्रेष्ठता है। स्वा० द० और सात० के अनुसार इसका अर्थ 'पृथिवी तथा सुवर्णादि रत्नों को धारण करने वाला' है। सा० की व्याख्या कर्मकाण्ड के अनुरूप है—यागफलरूपाणां रत्नानाम् अतिशयेन धारयितारं पोषयितारं वा। गिरि० 'सुवर्ण, मणि आदि रत्नों को पोषण, धारण, दान करने वाला'। अग्नि से सुवर्ण की उत्पत्ति एक वैज्ञानिक सत्य है। तै० ब्रा० १।१।३—आपो वरुणस्य पत्न्य आसन्, ता अग्निरभ्यध्यायत्। ताः समभवत् तस्य रेतः परापतत्, तद्धिरण्यमभवत्॥[1] अर० के अनुसार रत्न आनन्द का प्रतीक है। रत्नानि दधाति इति रत्नधा+तमप्—'समास अन्तोदात्तः' से 'धा' में सामान्य उदात्त है। समासों के विषय में यह नियम है कि पदपाठ में बाद में जोड़े गये पद को अवग्रह से पृथक् किया जाता है (दे० ऋ० प्रा० ५।७—बहुप्रकृत्यावगन्तुना पर्वणा)। इस दृष्टि से तमप् प्रत्यय को भी समास का ही एक पद मानते हैं। परन्तु यहां उसे पृथक् न करके 'रत्न' को पृथक् किया गया है—धातम को पृथक् पद माना गया है।

अ॒ग्निः पूर्वे॑भि॒र्ऋषि॑भि॒रीड्यो॒ नूत॑नैरु॒त। स दे॒वाँ एह व॑क्षति ॥२॥

अ॒ग्निः। पूर्वे॑भिः। ऋषि॑ऽभिः। ईड्यः॑। नूत॑नैः। उ॒त। सः। दे॒वान्। आ। इ॒ह। व॒क्ष॒ति॥

अग्नि पूर्वज ऋषियों द्वारा स्तुत्य रहा, अभिनव द्वारा भी तो है।
वह दिव्य जनों को यहां ले आवे, (यह यज्ञ उनका ही तो है)॥

प्राचीन और अभिनव दोनों प्रकार के क्रान्तदर्शी प्रकाशरूप परमेश्वर का रहस्य समझते हैं, और इसलिये वे उसकी ही स्तुति करते हैं। वे उससे प्रार्थना करते हैं कि वह सब दिव्य शक्तियों को इस संसार में सुखसमृद्धि के लिये

1. वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, पृ० १७०-१।

उपस्थित करे। संसाररूपी यज्ञ ईश्वर द्वारा प्रेरित उन शक्तियों द्वारा ही सचालित होता है। वा० श० तथा सात० के अनुसार अग्नि को प्राण मानने पर ऋषियों को इन्द्रियां (प्राण) मानना होगा (तु० प्राणा वा ऋषय श० ब्रा० ६।१।१।१)। उन्ही इन्द्रियों की मूल शक्ति को यहाँ देव कहा है। उपनिषदों में देव शब्द इन्द्रियों के अर्थ में बहुधा प्रयुक्त हुआ है। यहां अर्थात् इस शरीर में उन देवों (इन्द्रियशक्तियों) के लाने की प्रार्थना की गई है। साराश यह कि हमारी इन्द्रियां अपनी शक्तियों से युक्त रहें। वाङ्म आस्ये इत्यादि वेदमन्त्र में भी यही भावना व्यक्त होती है। सा०, स्क०, वें० प्रभृति विद्वानों के अनुसार अग्नि देवता से अन्य देवों को यज्ञ में लाने की प्रार्थना की गई है।

पूर्वे॑भि—स्क०, सा०—पुरातनैः भृग्वङ्गिरःप्रभृतिभिः (भृगु, अङ्गिरा इत्यादि ऋषियों के द्वारा)। ऋषियों को मन्त्रकर्ता मानने वाले विद्वान् अपने मत की पुष्टि में इस वेदवाक्य को उद्धृत करते हैं क्योंकि तदनुसार यदि वेद ईश्वरकृत हो तो पुरातन और नूतन का भेद उसमें न हो। स्वा० द०—ज्ञानी उपदेशक अध्यापक—ये ही साक्षात्कृतधर्मा ऋषि हैं। लौकिक संस्कृत में पूर्वै रूप होता, परन्तु वैदिक में 'बहुलं छन्दसि' (पा० ७।१।१०) सूत्र से पूर्वेभि बनता है। एक विद्वान् के अनुसार भिस् विभक्ति ऋ० में प्राय विशेषणों और सर्वनामों में प्रयुक्त होती है, पाली, प्राकृत में भी भिस् है।

ऋषि॑ऽभिः—या० ने ऋषि शब्द के चार निर्वचन दिये हैं। प्रथम (ऋषिः दर्शनात्) के अनुसार √ऋष् (गति—ज्ञान—दर्शन) से इसका अर्थ 'जो सूक्ष्म तत्त्वों का दर्शन करता है' होगा। द्वितीय (स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यव) से इसका अर्थ मन्त्रद्रष्टा होगा। ब्राह्मण से उद्धृत तृतीय निरुक्ति यद्यपि भिन्न (तद्यदेनांस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत्त ऋषयोऽभवन्—तपस्यानिरत इनके पास ब्रह्म अर्थात् ज्ञान या वेद स्वय आया, अत वे ऋषि हो गये) है तथापि अभिप्राय उसका 'मन्त्रद्रष्टा' है। अन्यत्र √ऋष् को गत्यर्थ ही मान कर ऋषि का अर्थ ऋषीण अर्थात् गमनशील किरणें[1] या इन्द्रियाँ किया है। प्रथम तीन निरुक्तियों के आधार पर स्वा० द० ने ऋषि का अर्थ 'मन्त्रार्थ का दर्शन करने वाले अध्यापक' किया है। उनके द्वारा प्रदत्त इसके ही दूसरे अर्थ 'तर्क' का आधार भी नि० (१३।१२) है—पुरस्तान्मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को न ऋषिर्भविष्यतीति। तेभ्य एत तर्कमृषिं प्रायच्छन् मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूढम्। इसके अर्थ 'प्राण' के लिये दे० ऊपर। अन्य सभी विद्वानों ने इसका अर्थ 'ऋषि' ही किया है। पदपाठ में 'भिस्' विभक्ति को

१ दे० मेदिनीकोष—ऋषिर्वेदे वसिष्ठादौ दीधितौ च पुमानयम्।

होती हैं। उन सबके यज्ञ के सुचारु रूप से चलने के लिये अग्नि सब ओर से उसकी रक्षा करता है क्योंकि वह सबका अधिष्ठाता है।

अग्ने'—'आमन्त्रितस्य च' (पा० ६।१।१९८) से पाद के आदि में आने पर यह सम्बोधन पद आद्युदात्त है। अन्यथा पाद के मध्य रहने पर आमन्त्रितस्य च (८।१।१९) से यह सर्वानुदात्त होता।

अध्वरम्—स्कन्द से लेकर स्वामी दयानन्द तक सभी भारतीय विद्वान् इसे यज्ञम् का विशेषण मानते हैं। परन्तु पाश्चात्य विद्वान् इस यज्ञ (पूजा) से भिन्न दूसरा पद बलिकर्म (सक्रिफिशल एक्ट) कहते हैं। सभी उपर्युक्त भारतीय विद्वानों ने इसका अर्थ 'हिंसारहित' तो लिया है, परन्तु उनके भाव में अन्तर है। स्क० के अनुसार यज्ञ में जिन पशुओं आदि की हिंसा होती भी है वह परमार्थ हिंसा नहीं क्योंकि उससे उनपर अनुग्रह ही होता है (येऽपि हि तत्र पश्वादयो हिंस्यन्ते तेषामप्यनुग्रहमेव शिष्टा स्मरन्ति)। या फिर उसी के मतानुसार जिस यज्ञ की राक्षसों द्वारा हिंसा या क्षति नहीं होती उससे अभिप्राय है। वें० और सा० ने इस दूसरे भाव को ग्रहण किया है (दे० सा०—न ह्यग्निना सर्वतः पालितं यज्ञं राक्षसादयो हिंसितुं प्रभवन्ति)। स्वा० द०—हिंसाधर्मादिदोषरहितम् (जिस यज्ञ में हिंसा, अधर्म आदि का दोष नहीं है)। वस्तुतः शुद्ध संहिता की भावना को देखा जाये तो यज्ञ में पशुहिंसा का प्रश्न ही नहीं उठता। समस्तपद होने पर भी प० पा० में इसके पदों को अवग्रह द्वारा पृथक् करके नहीं दिखाया गया क्योंकि यह नञ् समास है (वा० प्रा० ५।२४—प्रतिषेधे नावग्रह)। नञ् पूर्वक बहुव्रीहि पद होने के कारण 'नञ्सुभ्याम्' (पा० ६।२।१७२) से यह अन्तोदात्त है। इस पद की एक अन्य निरुक्ति अध्वानराति (मार्ग प्रदान करने वाला) के अनुसार यह उपपद समास है और तदनुसार भी 'गतिकारकोपपदात्' (पा० ६।२।१३९) से यहाँ अन्तोदात्त ही होगा। तु० नि० १।८—ध्वरतिहिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः। अर० ने भी इस शब्द के मूल में अध्वन् (मार्ग) की भावना को मानते हुए अध्वर को 'यात्रारूप यज्ञ' की संज्ञा दी है—देवों के प्रति आत्मा की यात्रा।

विश्वतः—सभी दिशाओं में, सभी ओर से। वें० और सा० की कर्मकाण्डपरकव्याख्या में इस शब्द से चारों दिशाओं में स्थापित आहवनीय, मार्जालीय, गार्हपत्य और आग्नीध्रीय अग्नियों का अभिप्राय लिया गया है। 'लिति' (पा० ६।१।१९३) सूत्र से तसिल् प्रत्यय का ल् इत् होने के कारण पूर्ववर्ण व उदात्त है। मै० के अनुसार *क्रियाविशेषण प्रत्ययों से पूर्व* विश्व शब्द का उदात्त दूसरे अक्षर पर स्थानान्तरित हो जाता है। (दे० वै० ग्रा० स्टू०, पृ० ४५४, १०)।

परिभूः—चारों ओर से व्याप्त किये हुए। सा० के अनुसार परि शब्द से अग्नि की होत्रिय (होतृ सम्बन्धी) आदि धिष्ण्यों (स्थानों) में व्याप्ति का संकेत होता है। नि० १।३—परीति सर्वतोभावं प्राह। यहाँ पूर्वपद में अव्यय होने से उस पर उदात्त होना चाहिये था, किन्तु उत्तरपद कृदन्त होने के कारण अन्तोदात्त है (दे० ऊपर अध्वरम्)। परि से तु० अवे० पैरि, यू० पेरि, ला० पेर्; भूः से तु० अवे० बू, यू० फुओ, ला० फुइ, अं० बी।

असि—तिङन्त पद होने से सर्वानुदात्त होना चाहिये, परन्तु वाक्य में यत् शब्द का रूप यम् होने के कारण उदात्तत्व है (दे० पा० ८।१।६६—यद्वृत्तान्नित्यम्)। यहाँ स्वा० द० के भाष्य की एक विशेषता की ओर संकेत करना अप्रासंगिक न होगा। जहाँ भी वेद में भौतिक निर्जीव पदार्थ (जैसे यहाँ भौतिक अग्नि) का वर्णन है वहाँ सम्बोधन के स्थान पर वे प्रथमा विभक्ति और क्रियापदों के सभी पुरुषों के स्थान पर प्रथम पुरुष मानते हैं। तदनुसार यहाँ अर्थ होगा—अग्निः...अस्ति।

इत्—एव। मै० (वै० ग्रा० स्टू०, पृ० २१८)—यह इतर, इतः इत्यादि में विद्यमान सर्वनाम अङ्ग इ का नपुं० रूप है, जिस प्रकार कच्चित् का कद् सर्वनाम अङ्ग क का नपुं० रूप है। लौकिक संस्कृत में चेद् (च+इत्) में इसका अवशेष है।

देवेषु—देवों में अर्थात् देवों के प्रति या देवों में प्रेरणा के लिये। स्क० देवेषु गच्छति—देवास्तमेव परिगृह्णन्ति नान्यमित्यर्थः। सा० देवेषु तृप्तिं प्रणेतुं स्वर्गं गच्छति। सात०—देवों के समीप जाता है—देवों के अनुकूल होता है। मै०—देवों के प्रति (टु दी गॉड्स्)—प्राप्त लक्ष्य का अधिकरण।

गच्छति—मै० के अनुसार मूलरूप में यह शब्द चकाररहित गछति है (दे० प० पा०)। परन्तु संहितापाठ में स्थिति के कारण चकारसहित है। जिस ह्रस्व स्वर से परे छ या च्छ आवे, वह गुरु अक्षर माना जाता है—दे० वै० व्या०, ४१८ (३), ऋ० प्रा० ६।३—असंयोगादिरपि च्छकारः।

अ॒ग्निर्होता॑ क॒विक्र॑तुः स॒त्यश्चि॒त्रश्र॑वस्तमः। दे॒वो दे॒वेभि॒रा ग॑मत् ॥५॥

अ॒ग्निः। होता॑। क॒विऽक्र॑तुः। स॒त्यः। चि॒त्रश्र॑वःऽतमः। दे॒वः। दे॒वेभिः॑। आ। ग॒म॒त् ॥

अग्नि होता, क्रान्तदर्शनकृत्य सच्चा, विविध कीर्ति वालों में श्रेष्ठ।
वह देव देवों के साथ यहाँ पर आवे, (वही यज्ञ यजमान ज्येष्ठ) ॥

कविक्रतु —अग्नि के सभी क्रतु अर्थात् कृत्य क्रान्तदर्शन हैं अर्थात् दूरदर्शिता से युक्त हैं। साधारण मनुष्य उन कृत्यों को सीमित दृष्टि और विचार शक्ति के कारण समझ नहीं पाता। कवि—क्रान्तदर्शन, क्रतु—कर्म। नि० १२।१३ —कवि क्रान्तदर्शनो भवति कवतेर्वा,(तु० स्वा० द०—यः सर्वविद्यायुक्त वेदशास्त्रं कवते उपदिशति स कविरीश्वर)। स्क०, वें०, सा०—सर्वत्र पहुँची हुई प्रज्ञा या कर्म वाला। ये विद्वान् कवि का अर्थ केवल क्रान्त लेते हैं, क्रान्तदर्शी नहीं (तु० स्क० कविशब्दोऽत्र क्रान्तवचन, न मेधाविनाम। क्रतु शब्दः प्रज्ञानाम कर्मनाम वा। क्रान्त गत सर्वत्राप्रतिहत प्रज्ञानं कर्म वा यस्य स)। स्वा० द०—कवि क्रान्तदर्शनश्चासौ क्रतु कर्ता च। परन्तु स्वर (पूर्वपद उदात्त) के आधार पर यह बहुव्रीहि समास होगा अत स्वा० द० की व्याख्या उसके अनुकूल नहीं। क्रतु का अर्थ प्रज्ञा और कवि का मेधावी मानते हुए मैं० ने मेधावी प्रज्ञा वाला (वाइज इंटेलिजेंस) और ग्रो० व० ने विचारशील (थॉटफुल) अर्थ किया है। अवे० क्वरतु (मन शक्ति), और यू० क्रतोस् (शक्ति) से तुलना करने पर भी क्रतु का भाव कर्म के निकट ही है। स्क० की व्याख्या अधिक ग्राह्य प्रतीत होती है—संकल्पशक्ति या उससे उत्पन्न कर्म के प्रति जिसका संकल्प द्रष्टा जैसा है। सात० की व्याख्या भी इसके समान है—कर्म अर्थात् ज्ञानपूर्वक कर्म करने वाला।

सत्य —सच्चा, जिसका स्वरूप वास्तविक है, सभी पदार्थों का तत्त्व। स्क०, वें० और सा०—सत्यकर्म करने वाला अर्थात् यज्ञ का अभिलषित फल अवश्य ही देने वाला। स्वा० द०—सज्जनों के लिये हितकर (सद्भ्यो हित तत्र साधुर्वा)। तु० नि० ३।१३—सत्य कस्मात् सत्सु तायते सत्प्रभव भवतीति वा। ग्रर० सत्य का अपरोक्ष दर्शन, इसके शब्द का अपरोक्ष श्रवण, और जो ठीक हो उसकी अपरोक्ष विवेचन द्वारा पहचान—इस चेतना से युक्त।

चित्रश्रवस्तम —विचित्र अर्थात् विविध प्रकार की कीर्ति से युक्त जनों में श्रेष्ठ। ईश्वर के अद्भुत तथा आश्चर्यजनक कार्यों के कारण उसकी कीर्ति संसार में सबसे अधिक व्याप्त है। वे० सा०—अतिशयेन विविधकीर्तियुक्तः। परन्तु स्क० के अनुसार √चाय् (पूजानिशामनयो) से व्युत्पन्न होने पर चित्र का अर्थ 'पूजनीय' हो सकता है और श्रव का अर्थ 'अन्न या धन' भी हो सकता है। तदनुसार अर्थ होगा—अत्यधिक पूज्य या 'विचित्र अन्न, धन या कीर्ति वाला। पाश्चात्य विद्वानों द्वारा किये गये अर्थों (मोस्ट स्प्लेंडिडली रिनाउन्ड, मॉफ मोस्ट ब्रिलिएण्ट फेम) का अभिप्राय भी 'विचित्र कीर्ति वालों में श्रेष्ठ' है। स्वा० द० का अर्थ भी ऐसा ही है। इस अर्थ में चित्र का निर्वचन √चित् (देखना) से होगा—वह श्रवणयोग्य कीर्ति में जो दर्शनीय है, ध्यान

आकृष्ट करती है। मर० के अनुसार श्रव का अर्थ है, 'ईश्वरीय ज्ञान या वह ज्ञान जो अन्त प्रेरणा से आता है—चित्र नानाविध अन्त प्रेरणा का जो महाधनी है। सात० का अर्थ (विविधरूपों वाला और अतिशय कीर्तियुक्त) समास के स्वर (पूर्वपद उदात्त—बहुव्रीहि, दे० बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्) के अनुकूल नहीं है। चित्र से तु० अवे० चिथ्र, श्रवस् से तु० अवे० स्रवह् (शब्द), यू० क्लेवोस (कीर्ति)।

देवेभि —सा० की कर्मकाण्डीय व्याख्या—हविर्भोजैः सह। यहाँ तृतीया सह के अर्थ में है, सह के योग मे नहीं। स्वा० द०—विद्वद्भि दिव्यगुणैः सह वा। मर०-दिव्य शक्तियो के साथ। 'इन्द्रियों के साथ वह प्रधान इन्द्रिय (प्राण) आये' अर्थात् इस शरीर में स्वस्थ इन्द्रियों के साथ प्राण का वास हो। वह परमेश्वर सभी दिव्य शक्तियों को यहाँ प्राणिहित कार्य करने की प्रेरणा दे। यहाँ भी अकारान्त पद के तृ० बहु० में ऐस के अतिरिक्त प्रयुक्त होने वाली भिस् विभक्ति है (दे० मन्त्र २, पूर्वेभि)।

आ गमत्—आये। सा० इसे √गम् से लोट् प्र० पु० एक० का रूप मानता है। इसमें दो व्यत्यय मानने पड़े हैं—एक तो छत्व का अभाव और दूसरे तु प्रत्यय के उकार का लोप (लोडन्तस्य गच्छरिति शब्दस्य छत्वाभाव। उकारलोपश्छान्दस)। स्वा० द० द्वारा किया गया लुङ्प्रयोग और अडभाव-विषयक मत अधिक व्याकरणसम्मत है। मै० द्वारा इसे विकरणलुग्लुङ् (रूट एओरिस्ट) का लेट् रूप माना गया है।

यदङ्ग दाशुषे त्वम् अग्ने भद्रं करिष्यसि। तवेत्तत्सत्यमङ्गिर ॥६॥

यत्। अङ्ग। दाशुषे। त्वम्। अग्ने। भद्रम्। करिष्यसि। तव। इत्। तत्। सत्यम्। अङ्गिर ॥

> जो क्षिप्र दाता के लिये तुम अग्ने ! कल्याणकार्य करोगे।
> तुम्हारा ही यह सत्य अङ्गिरा ! होगा। (उससे तुम प्रशस्त होगे) ॥

ईश्वर का सत्य स्वरूप यही है कि वह अन्य बन्धुता और मानवता के प्रति उपकार करने वालों का कल्याण करता है। जो यजमान यज्ञ मे आहुतियाँ प्रदान करता है, उसके प्रति अग्नि कल्याणकर होता है।

अङ्ग—अभिमुखीकरणार्थो निपात। यदि यह शब्द आद्युदात्त हो तो इसका अर्थ 'अवयव' होता है। यहाँ सा० के अनुसार अभ्यादिगण में पाठ के कारण यह अन्तोदात्त है। परन्तु अभि स्वय 'उपसर्गाश्चाभिवर्जम्' फिट् सूत्र से अन्तोदात्त है। अत सम्भवतया यहाँ भी 'एवादीनामन्त' से अन्तोदात्त

होगा क्योकि अन्यत्र सा० ने कहा है—अङ्गेति निपात एवार्थे । स्क० और वें० का मत या० द्वारा पुष्ट है—अङ्गेति क्षिप्रनामाञ्चितमेवाञ्चितं भवति (नि० ५।१७) अर्थात् अङ्ग क्षिप्र है क्योकि जो क्षिप्र होता है, वह भावी क्रियाओं मे भी लक्षित होता है (√अञ्च् या √अङ्ग्)।

दाशुषे'—स्क०, वें०, सा०, अर०—यजमान के लिये (जो आहुति देता है—हविर्दत्तवते), ग्रो०, मै०—उपासक के लिये (टु दि वरशिप्पर)। बा द० —सब कुछ दान करने वाले के लिये (सर्वस्व दत्तवते)। सात०—दानशील का। √दाश (दाशृ दाने)+वस् (क्वसु)—दाश्वस् (मै० दाश्वास्) स चतुर्थी एक०। यह शब्द द्वित्वरहित लिङ्क से वस् प्रत्यय लगकर बना है (दे० वै० व्या० ३३२ख, पृ ७६०, तु० पा० ६।१।१२—दाश्वान् साह्वान् मीढ्वाश्च)।

त्वम्—इस पाद के छन्द में एक अक्षर की न्यूनता को पूर्ण करने के लिए तुअम् उच्चारण करना चाहिये (दे० वैं० व्या० ४२०,३,पृ ८६६)।

अग्ने'—प्रथम पाद को नया वाक्य मानकर उसके प्रारम्भ मे आने वाले सम्बोधन तथा तिङन्त पद को उदात्त किया जाता है (दे० वैं० ग्रा० स्टू०, पृ० ४६५, १८ए, १६बी, तु० पा० ८।१।१८ —अनुदात्तं सर्वमपादादौ तथा ६।१।१६८—आमन्त्रितस्य च)।

करि॒ष्यसि॑—निपातैर्यद्यदिहन्त इत्यादि (पा० ८।१।३०) सूत्र स वाक्य म यद् निपात होने के कारण यह तिङन्त पद सोदात्त है।

अ॒ङ्गि॒र॒ः—हे अङ्गिरा ! या० ३।१७—अङ्गिरा अङ्गारा (अंगारे ही अंगिरा हैं)। ऐ० ब्रा० १३।१० मे भी—येऽङ्गारा आसंस्तेऽङ्गिरसोऽभवन् (जो अंगारे थे, वे ही अंगिरा हो गये)। अत अग्नि का ही रूप होने के कारण अङ्गिरा को भी अग्नि मानते हैं। स्क० ने 'अंगारो से भिन्न व्युत्पत्ति देकर भी इसे 'शरीर की स्थिति के लिये खाद्य पेय आदि रस का उत्पत्तिकर्ता अग्नि सिद्ध किया है (अङ्गानि शरीरावयवानि तद्वदङ्गि शरीरं, तस्य स्थितिहेतु अशितपीतरसोऽङ्गिरस, तं करोति, अङ्गिरसयति)। ऋ० १०।६२।५ म स्वय अङ्गिरामो की उत्पत्ति अग्नि से बताई गई है—ते अङ्गिरस सूनवस्ते अग्ने परि जज्ञिरे। स्वा० द० ने भी अङ्गिरा को रसरूप मानते हुए उसे सकल ब्रह्माण्ड तथा मानव शरीर के अङ्गो का प्राण बताया है (पृथिव्यादीना ब्रह्माण्डस्याङ्गाना प्राणरूपेण शरीरावयवानां चान्तर्यामिरूपेण रसरूपोऽङ्गिरा)। 'प्राण' अर्थ की पुष्टि मे उन्होंने श० ब्रा० ६।३।७।३ का वचन प्राणो वा अङ्गिरा उद्धृत किया है। वा० श० ने भी अङ्गिरा का यही अभिप्राय लिया है।[1] सात० के अनुसार अङ्गिरा शरीर के प्रत्येक अंग में अग्निरूप म रहता

१ दे वदविद्या, पृ ४६

है, इसलिए शरीर में गर्मी रहती है। अग्नि के साथ अङ्गिरा का सादृश्य मानते हुए ग्र० ने इसे एकरूप होकर कार्य करते हुए प्रकाश और शक्ति के गुणयुग्म के साथ दिव्य चैतन्य की उज्ज्वल शक्ति' कहा है। मै० ने अङ्गिरा को अग्नि का प्ररोचक बताया है। तदनुसार 'सम्भवतः वे स्वर्ग की दूत—अग्निज्वालाओं के मानवीकरण रहे हों—तु० दूतवाचक यूनानी शब्द अङ्गलोस।' किन्तु बबर के मत में अङ्गिरा मूलतः भारत ईरानी काल के पुरोहित थे। तु० अंग्रेजी—एञ्जल। परन्तु वेद में अङ्गिरा का यम, इन्द्र, अग्नि प्रभृति देवताओं के साथ तादात्म्य होने के कारण इन यूरोपीय शब्दों से ध्वनिसाम्य होते हुए भी एकदम उनसे इसका सम्बन्ध जोड़ना सर्वथा उचित नहीं।

तवेत्तत्सत्यम्—इस वाक्यांश के अन्वय के विषय में विद्वानों में कुछ मतभेद है। स्क० और सा० ने सत्यम् को क्रि० वि० मानकर जो व्याख्या की है उसका भाव इस प्रकार है—हे अग्नि, यह बात सत्य है कि वह अर्थात् आपके द्वारा सम्पादित कल्याण आपका ही है अर्थात् आपके सुख का कारण है क्योंकि उसी समृद्धि से यजमान पुनः यज्ञ करेगा और आपको आहुति प्रदान करेगा। तु० स्क० तवैव तद्, अनन्तरे हविः कृत्वा तुभ्यमेव प्रदास्यत इत्यर्थः, सा० यजमानस्य वित्तादिसम्पत्तौ सत्यामुत्तरकर्मानुष्ठानेनाग्नेरेव सुखं भवति। वें० के अनुसार इसका भाव है—वह (कल्याणकार्य) आपका ही सत्य है, क्योंकि अन्य व्यक्ति तो किये हुए को भूल भी जाता है, आप नहीं भूलते (तवैव तत् सत्यमङ्गिरस्त्वमेव, अन्यस्तु कृतं विस्मरत्यपि)। ग्रो० व० ने इसका ही अनुसरण किया है—दैट (वर्क) वेरिली इज़ दाइन। मै० ने सत्यम् को विधेय माना है—आपका वह संकल्प सत्य होता है—दैट (पर्पज़, इन्टेन्शन) ऑफ दी (कम्स) ट्रू। स्वा० द० प्रभृति विद्वानों के अनुसार इसका भाव है कि 'वही आपका सत्य स्वभाव है या वही आपका वास्तविक स्वभाव है—आपकी वास्तविकता इसी में है कि आप दानी व्यक्ति का कल्याण करते हैं।'

उप॑ त्वाग्ने दि॒वेदि॑वे॒ दोषा॑वस्तर्धि॒या व॒यम् । नमो॒ भर॑न्त॒ एम॑सि ॥७॥

उप॑ । त्वा॒ । अ॒ग्ने॒ । दि॒वेऽदि॑वे । दोषा॑ऽवस्तः । धि॒या । व॒यम् । नमः॑ । भर॑न्तः । आ । इ॒म॒सि॒ ॥

पास तुम्हारे आते दिन प्रतिदिन, तिमिर से दीप ! बुद्धि से हम।
नमस्कार करते हुए आते हैं (नमन तुम्हें जितना हो, कम)॥

उस कल्याणकारी एकमात्र परमेश्वर की शरण में हम बुद्धि—विवेकपूर्वक (यह जानकर कि वही एकमात्र कल्याणकारी सत्ता है) विनम्र भाव से

आते हैं क्योंकि हमें ज्ञात है कि वही अन्धकार का एकमात्र दीपक है, वही अज्ञान से ज्ञान की ओर ले जाने वाला है। 'दिन प्रतिदिन' सम्भवतया प्रतिक्षण का उपलक्षण है—हम प्रतिक्षण मन मे ईश्वर का ध्यान करते हैं जिससे कि उसकी सत्ता अनुभव हो और अनुचित कार्य न करें।

त्वा—त्वामौ द्वितीयाया (पा० ८।१।२३) से युष्मत् शब्द के द्वितीया एक वचन के रूप त्वाम् का यह वैकल्पिक रूप अनुदात्त होगा।

अग्ने—पाद के मध्य रहने पर यह सम्बोधन पद सर्वानुदात्त है—दे० पा० ८।१।१६।

दोषावस्त —सा०, वें०, स्का० द० इत्यादि विद्वानों ने इस शब्द का अर्थ 'रात्रि और दिन' या 'सायं प्रात' किया है। सा० ने इसे द्वन्द्वसमास मानकर कार्तकौजपादयश्च (पा० ६।२।३७) सूत्र से इसका स्वर सिद्ध किया है। परन्तु एक तो यह शब्द उक्त गण मे नहीं, और दूसरे सूत्र के अनुसार पूर्वपद का प्रकृतिस्वर होता है। दोषा का प्रकृतिस्वर अन्तोदात्त है। इसके अतिरिक्त पदपाठ के नियम के अनुसार यदि द्वन्द्व समास के व्यञ्जनादि उत्तरपद से पूर्व पूर्वपद का अन्तिम स्वर दीर्घ हो तो पदपाठ में उसे अवग्रह द्वारा पृथक् नहीं किया जाता (दे० ऋ० प्रा० ४।५०—यस्य चोत्तरपदे दीर्घो व्यञ्जनादौ)। परन्तु यहां अवग्रह है अत यह द्वन्द्व समास नहीं होना चाहिये। साथ ही यहाँ वस्त का अर्थ दिन लिया गया है, परन्तु निघण्टु में वस्तो का यह अर्थ दिया गया है। इन अनेक असङ्गतियों को देखते हुए स्क० और उसका अनुसरण करने वाले पाश्चात्य विद्वानों का 'हे रात्रि अथवा अन्धकार मे प्रकाशित होने वाले !' (रात्रौ स्वेन ज्योतिषा तमसामाच्छादयित) अर्थ अधिक समीचीन प्रतीत होता है। स्वयं सा० ने अन्यत्र (ऋ० ७।१५।१५ में) इसे सम्बोधन माना है। उस स्थल पर दिवानक्तम् शब्द की उपस्थिति से भी उपर्युक्त अर्थ की ही पुष्टि होती है। प्राचीन साहित्य भी इसी अर्थ का पोषक है। उदाहरणार्थ शाङ्खायन गृह्यसूत्र (२।४।४५) मे एक साथ 'सायं दोषावस्तर्नम स्वाहा, प्रात प्रातर्वस्तर्नम स्वाहा' शब्द आते हैं। यदि यह द्वन्द्व समास होता और वस्त. का अर्थ दिन होता तो प्रातर्वस्त शब्द में वह निरर्थक हो जाता। मै० का इस विषय मे यह कहना कि यह केवल यहीं उपलब्ध है (व्हिच ओंकर्स हिअर ओन्ली) तथ्य के विपरीत है। सा० की आलोचना करते हुए वह कहता है कि वस्त कहीं भी क्रि० वि० के रूप में नहीं आता और द्वन्द्व समास में स्वर परिवर्तन नहीं होता, परन्तु यहां दोषा का उदात्त स्थानान्तरित हो गया है। यहाँ वस्त (सम्बोधन) की तुलना ऋ० ३।४६।४ में प्राप्त वस्तु शब्द के प्रथमान्त रूप से की जा सकती है—उषा वस्ता जनिता सूर्यस्य।

क्या यहां स्वर की व्याख्या 'माद्युदात्तप्रकरणे दिवोदासादीनां छन्दस्युप-सङ्ख्यानम्' (वार्तिक, पा० ६।२।९१) से नहीं हो सकती? कहीं ऐसा तो नहीं कि रात्रिवाची निपात दोषा मन्तोदात्त हो, और प्रस्तुत शब्द में दोषा √दुष् +घञ् से बना हो क्योंकि प्रत्यय का ञ् इत् होने से माद्युदात्त का विधान है (पा० ६।१।१९७—ञ्नित्यादिर्नित्यम्)। इस प्रकार निष्पन्न दोष शब्द समासा-श्रयविधि से 'मन्येषामपि दृश्यते' (पा०६।३।१३७) सूत्र से मन्त में दीर्घत्व को प्राप्त होता है। तब मर्थ होगा—हे दोषों को माच्छादित करने वाले, मर्थात् हे गुणों के प्रकाशक!

धिया—स्क०—प्रज्ञया, सा०—बुद्धया, वें०—अग्निहोत्रकर्मणा। स्वा० द० ने दोनों मर्थ दिये हैं—बुद्धया कर्मणा वा। मो० ब०—प्रार्थना (प्रेयर); यद्यपि मैं० ने 'विचार' मर्थ किया है, तथापि टि० में वह इसका भाव मानसिक प्रार्थना (थॉट् यूअड इन द सेन्स ऑफ़ मेंटल प्रेयर) बताता है। मर० ने भी विचार मर्थ किया है। सात० ने बुद्धि और स्तुति, दोनों मर्थ माने हैं। निघण्टु में धीः को कर्म और प्रज्ञा दोनों के मर्थ में रखा गया है। सम्भवतया इसका निर्वचन √धा (धारण करना) से होगा—बुद्धि जिसमें तत्त्व धारण किये जाते हैं (धीयन्ते तत्त्वानि यत्र) या कर्म, जिसके द्वारा मनुष्य धारण किया जाता है (धीयते येन मनुष्यः)।

नमः—स्क०—स्तुतिम्, सा०—नमस्कारम्, स्वा० द०—उपासनाम्, नम्रीभावम्, मर०—मान्तरिक नमस्कार, ग्रो० ब०—मॅडोरेशन, मैं०—होमेज (श्रद्धा, पूजा)। इससे तु० मवे० नॅम।

भरन्तः—स्क०—हरन्तः, प्रापयन्त., स्तुतिं कुर्वन्त इत्यर्थः (स्तुति पहुँचाते हुए या करते हुए), सा०—सम्पादयन्तः। ग्रो० ब० और मैं०—लाते हुए। यहाँ पा० ३।१।८४ पर वार्तिक (हृग्रहोर्भश्छन्दसि) के अनुसार √हृ का ही वेद में √भृ रूप प्राप्त होता है। भाषाविज्ञान से भी इसकी पुष्टि होती है। प्राकृत और आधुनिक भारतीय भाषाओं में भी संस्कृत के महाप्राण का हकार मिलता है, यथा दधि का दही इत्यादि। परन्तु यहां भकार हकार में परिवर्तित होने वाला न होकर नितान्त भिन्न भी हो सकता है। सम्भवतया यह जुहो-त्यादिगणीय √भृ का श्लुरहित और तदनुसार द्वित्वरहित वैदिक रूप है। स्वा० द० ने इसी भाधार पर धारयन्तः (धारण करते हुए) मर्थ किया है। तु० मवे० बरन्तो, यू० फेरोन्तेस, ल० वेर्मारिस। यहाँ शप् के पित् होने से तथा तास्यनु-दात्तेत् इत्यादि (पा० ६।१।१८६) सूत्र द्वारा सार्वधातुक शतृ के मनुदात्त होने के कारण केवल धातुस्वर शेष है। अतः भकार उदात्त है।

था इमसि—संहितापाठ में एकार का उदात्तत्व था उपसर्ग की संधि के कारण है—दे० वै० व्या० ३६६ (१), पृ० ८६०। वैदिक में उत्तम पु० बहु० की विभक्ति मस् 'इदन्तो मसि' (पा० ७।१।४६) सूत्र के अनुसार इकारान्त है।

राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम्। वर्धमानं स्वे दमे ॥८॥

राजन्तम्। अध्वराणाम्। गोपाम्। ऋतस्य। दीदिविम्। वर्धमानम्। स्वे। दमे॥

(पास तुम्हारे, तुम) शासक अध्वरों के, रक्षक ऋत के दीप्तियुक्त।
वृद्धि को प्राप्त हो रहे अपने घर में, (नहीं कभी तुम रहे सुप्त)॥

इस मन्त्र में क्रिया (एमसि) का अध्याहार पिछले मन्त्र से किया जाना चाहिये। ईश्वर सिमारम्भि यज्ञ का स्वामी है उसी के शासन और नियन्त्रण में संसार के सब परोपकार हित कर्म चलते हैं। अग्नि भी कर्मकाण्ड का मूलाधार होने के कारण यज्ञ का स्वामी है। वह सदा चलने वाले शाश्वत नियम यज्ञ सम्बन्धी नियम का रक्षक है इसी कारण वह दीप्तियुक्त अर्थात् सर्वत्र प्रकाशित है। शाश्वत नियम ही मानो उसका घर है और उसमें रहता हुआ ही वह जन जन के हृदय में प्रथित होता है—यही मानो उसकी वृद्धि है। अग्नि भी ऋत अर्थात् यज्ञ का रक्षक है तथा दीप्तियुक्त है। यज्ञ ही उसका घर है और वह वहाँ आहुतियों के द्वारा वृद्धि को प्राप्त होता है। इस मन्त्र के प्रथम दो पादों का अन्वय राजन्तम् को पृथक् रख कर भी किया जा सकता है। तदनुसार भाव होगा कि वह सारे संसार का शासक है या दीप्तियुक्त है। वह यज्ञ का रक्षक है तथा ऋत का प्रकाशक है। सा० और स्वा० द० को यही अन्वय मान्य है।

राजन्तम्—सा० और स्वा० द०—दीप्यमान प्रकाशमान। अन्य सभी भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों ने इसका अर्थ शासक किया है। ग्र० दोनों अर्थ देते हैं। वस्तुतः √राज का मूल अर्थ चमकना प्रकाशित होना, शोभित होना है। इसी का विकास होकर इसका अर्थ शासक या राजा हुआ—जो अपने वैभव के कारण सबसे अधिक शोभायुक्त होता है। स्वर के लिये दे० पूर्व मन्त्र में भरन्त।

अध्वराणाम्—इस पाद में छन्द के अक्षरों में एक की कमी पूरी करने के लिये इस शब्द का उच्चारण अध्वराणाम् किया जाना चाहिये—दे० वै० व्या० ४२० (४), पृ० ८६६। यदि इस पद का अन्वय राजन्तम् के साथ किया जाये तो इसका अर्थ शासक देना अधिक उचित प्रतीत होता है क्योंकि प्राय

शासन करना अर्थ वाली धातुओं के योग में षष्ठी का प्रयोग होता है। इस प्रयोग की तुलना अवेस्ता, यूनानी, लातीनी आदि भाषाओं से भी की जा सकती है। स्वयं ऋ० १।२५।२० मे त्वं विश्वस्य मेधिर दिवश्च ग्मश्च राजसि जैसे प्रयोग हैं।

गोपाम्—रक्षक, गौ का अर्थ इन्द्रिय करें तो अर्थ होगा इन्द्रियों का रक्षक-प्राणरूप अग्नि इन्द्रियों का, सारे शरीर का रक्षक है। इसे स्वतन्त्र रखकर ऋतस्य का सम्बन्ध दीदिविम्—के साथ किया जा सकता है। स्वा० द०—पृथिव्यादिकों की रक्षा करने वाला (गाः पृथिव्यादीन् पाति रक्षति तम्)। इस का अर्थ गौओं का (और सामान्यतया पशुओं का) रक्षक भी हो सकता है। स्पष्ट रूप से समस्तपद होते हुए भी पदपाठ मे अवग्रह द्वारा इसके अगों को पृथक् करके नही दिखाया गया। इसका कारण सम्भवतया यह है कि उस काल में भी इस शब्द की स्वतन्त्र सत्ता बन चुकी थी। आगे चलकर नामधातु गोपाय का प्रयोग हुआ और सम्भवतया उसी आधार पर √गुप् बना। यह ध्यान देने योग्य है कि √गुप् के रूप गोपायति आदि बनते हैं। ऋ० मे भी जुगुप का प्रयोग एक बार और गुपित का दो बार हुआ है। कुछ विद्वानों द्वारा गौ शब्द का मूल सुमेर शब्द गुद् (गु) बताया जाना हास्यास्पद है। स्वयं संस्कृत मे समासो मे गो का गु रूप मिलता है। क्या वास्तविक स्थिति उनकी कल्पना के विपरीत नही हो सकती ? यह एक धातुज आकारान्त पद है। "धातुज आकारान्त प्रातिपदिको को अकारान्त बनाने की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढती गई है।" दे० वै० व्या० १३६ (ख)। गो से तु० अवे० गाउस्, यू० बौस्, ला० बोस्, ज० कूह्,, अ० काउ। पाति से तु० अवे० पाइति, यू० पाउ (समूह)।

ऋतस्य—स्क० यज्ञस्य, ऋतशब्दो ह्यपठितोऽपि भूयिष्ठं यज्ञनाम दृश्यते। वें० सत्यस्य। मा० ने भी सत्य ही अर्थ किया है, किन्तु सत्य की व्याख्या की है—अवश्य प्राप्त होने वाला कर्मफल (अवश्यम्भाविनः कर्मफलस्य)। अं० ऑर्डर (नियम)। अधिकांश पाश्चात्य विद्वानों ने इस सर्गसिद्धान्त का वाचक माना है।—दे० वै० दे० शा० पृ० १८। यद्यपि आगे चलकर ऋत को सत्य का पर्याय मानने लग गये, परन्तु ऋ० मे इन दोनो शब्दों की साथ-साथ उपस्थिति (यथा ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्, ऋते सत्यं प्रतिष्ठितम् इत्यादि) से यह स्पष्ट है कि परस्पर सम्बद्ध होते हुए भी ये भिन्न तत्त्व हैं। निघ० ३।१० में यह सत्य के नामो मे परिगणित है। तदनुसार स्वा० द० ने व्याख्या की है—सत्य, सब विद्याओं से युक्त चारो वेद या जगत् का सनातन कारण (सत्यस्य सर्वविद्यायुक्तस्य वेदचतुष्टयस्य सनातनस्य जगत्कारणस्य वा)। या० न विभिन्न

स्थलों पर ऋत के उदक, यज्ञ, सत्य अर्थ दिये हैं। इसकी निर्वचित प्रत्युत भवति दी गई है। तदनुसार यह शब्द √ऋ (जाना) से निष्पन्न है। इसी आधार पर ग्र० की सम्मति में सत्य तो भाव-सत्य है (√अस्-होना) और ऋत कर्मरत, गतिशील सत्य है—वह दिव्य सत्य, जो मन और शरीर दोनों की उचित क्रियाओं को नियमित करता है। षष्ठ मन्त्र में अग्नि के कल्याण-कारी गुण को उसका सत्य बताया है, वहीं उसे ऋत का प्रकाशक कहा है। अत. यहाँ ऋत का अभिप्राय गति या कर्म—वह गति या कर्म जिससे मनुष्य को परम कल्याण प्राप्त होता है। ऋत में ही सत्य प्रतिष्ठित है, अर्थात् उचित कार्य करने से उचित सत्य फल की प्राप्ति होती है—गति से ही सत्ता होती है। सत्य में स्वयं अस् (होना) और इ (जाना) दोनों धातुओं का संयोग माना गया है। बहुत विद्वान् ऋत का अर्थ प्राकृतिक नियम यथा चन्द्रमा और सूर्य की निश्चित गति भी मानते हैं। इसीसे यज्ञ विधान का और दूसरी ओर नैतिक विधान या धर्म का भाव निकलता है। अन्य विद्वानों के अनुमान ऋत सक्रिय-ज्ञान है और सत्य क्रिया विहीन ज्ञान। वा० श० की सम्मति में ऋत विश्व व्यापी अखण्ड नियम है। स्वयम् यजुर्वेद (वा० सं० ३२।१२) में ऋत के तन्तु के सर्वत्र व्याप्त होने की बात कही गई है। ग्रासमैन ने वो० बु० में ऋत के अर्थ 'पवित्र कार्य, दैवी नियम या विधान, शाश्वत सत्य, अपरिवर्तनीय क्रम या नियम, यज्ञ आदि (हाइलिगस वेर्क, गोटलिशें गेसेत्स, तवितें वारहाइत, उनफेरैन्दरलिशें ओर्दनुग, ओदर गेसेत्स ऑप्फरवेर्क) दिये हैं। इसने गोपाम् ऋतस्य अन्वय किया है। उपर्युक्त अर्थ के 'अस' (सत्य और उचित) की तुलना ऋत में की जाती है। इसी प्रकार विद्वानों का मत है कि ग्रीनी 'तामो' (विश्व का उचित क्रम) भी ऋत से घनिष्ठरूप से सम्बद्ध है। इससे तु० जर्मन 'रिंदन' (व्यवस्थित करना) और अ० राइट (ठीक)।

दीदिविम्—स्क०, वें० तथा पाश्चात्य विद्वान्—अत्यर्थं दीप्तम् (अत्यन्त द्युतिशील), सा०—पौन पुन्येन भृश वा द्योतकम् (ऋतस्य)—आहुत्याधारमग्नि दृष्ट्वा शास्त्रप्रसिद्धं कर्मफलं स्मर्यते (ऋत का बार बार या अत्यधिक प्रकाशक —क्योंकि आहुति के आधारभूत अग्नि को देखकर शास्त्रों में प्रसिद्ध कर्मफल का स्मरण होता है)। स्वा० द०—सर्वप्रकाशकम् (सब कुछ प्रकाशित करने वाला)—यह शब्द √दिव् से क्विन् प्रत्यय लग कर बना है। उणादि० (४। ५५) 'दिवो द्वे दीर्घश्चाभ्यासस्य' सूत्र से धातु को द्वित्व और अभ्यास का दीर्घत्व (दी) हुआ है। पाश्चात्य विद्वान् यहाँ √दी (चमकना) मानते हैं। पाणिनीय धातुपाठ में यह धातु इस अर्थ में नहीं है अपितु क्षीण होना (क्षये) अर्थ में है। 'अभ्यस्तानामादिः' (पा० ६।१।१८९) सूत्र से आदि अक्षर उदात्त

है। सायण ने पौन पुन्य अर्थ से स्पष्ट है कि वह इसे यङ्लुगन्त रूप मानता है।

स्वे दमे'—स्क०, सा०—अपने घर अर्थात् यज्ञशाला मे (स्वकीये गृहे, यज्ञशालायाम्), वें०— आहवनीय (रूपी घर) मे (आहवनीये)। पाश्चात्य विद्वान् इसका केवल शाब्दिक अर्थ (घर) ही देकर सन्तुष्ट हो जाते हैं वे इसका भावार्थ नहीं बताते। स्वा० द०—अपने उस परमानन्द रूप स्थान मे जहाँ दुःखो का दमन अर्थात् शमन हो जाता है (दाम्यन्ति उपशाम्यन्ति दुःखानि यस्मिन् तस्मिन् परमानन्दे पदे) वे इसकी निरुक्ति √दम्+घञ् से करते हैं। दम शब्द की तुलना एक अन्य समानार्थक दम् शब्द से की जा सकती है जो अव्यस्ती मे अवशिष्ट है। यहाँ दम शब्द का भाव निवास का स्थान न होकर निवास की स्थिति या क्रिया प्रतीत होता है—अग्नि या ईश्वर को किसी स्थान की आवश्यकता नहीं, वह तो सर्वत्र है, केवल अपनी स्थिति या अस्तित्व मात्र से वृद्धि को प्राप्त होता है। अर० के अनुसार अग्नि का घर अर्थात् इसका अपना वास्तविक क्षेत्र सत्य चेतना है—उसी में दिव्य सकल्प और दिव्य-शक्ति रूप अग्नि बढ़ता है। छन्दपूर्ति के लिये व्यूह करके स्वे का उच्चारण सुए करना चाहिये। दम मे तु० यू० दोमोस्, ला० दोमुस् अवे० दम्। ग्राम० यो० यु० के अनुसार √दम् का मूल अर्थ सम्भवतया बांधना होगा। इसकी तुलना दाम (माला, शृङ्खला) से की जा सकती है। इसी धातु से दम (घर) बना—जो मानो सब कुछ बांध कर सुरक्षित रखता है। परन्तु पाणिनीय धातुपाठ मे इसका अर्थ उपशम (शान्त होना) दिया गया है। तदनुसार दम (घर) वह स्थान या स्थिति है जहाँ दुःखों, कष्टों की शान्ति होती है—मनुष्य को प्रेम मिलता है। इस अर्थ से मूल भारतीय भावना की अभिव्यक्ति होती है। घर केवल दीवारें और बन्धन नहीं है। बिना दीवारों के भी जहाँ पारिवारिक प्रेम हो, वह घर है—न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते—घर एक स्थिति है, केवल स्थान नहीं।

स नः पितेव॑ सू॒नवेऽग्ने॑ सूपाय॒नो भ॑व। सच॑स्वा नः स्व॒स्तये॑ ॥९॥

सः। नः। पि॒ताऽइ॑व। सू॒नवे॑। अग्ने॑। सु॒ऽउ॒पा॒य॒नः। भ॒व। सच॑स्व। नः। स्व॒स्तये॑ ॥

वह तुम हमें पिता जैसे हो पुत्र को, अग्ने सुप्राप्य हो जाओ।
निकट रहो हमारे कल्याण के हित (हमें सन्मार्ग दिखलाओ)॥

वह प्रसिद्ध परमेश्वर हमारे प्रति पिता जैसे हो। पिता पुत्र के निकट होता है—वह उसके कल्याणार्थ उसे निरन्तर देखता रहता है। जिस वस्तु की आवश्यकता होती है, वह सुलभ कराता है और जहा पुत्र प्रमाद करता है

यहाँ उसे रोकता है, समझाता है, और आवश्यकता पड़ने पर दण्ड भी देता है। उसी प्रकार प्रकाशक परमेश्वर निकट से हमारा ध्यान रखें। भौतिक या यज्ञाग्नि के पक्ष में भी पिता के समान सान्निध्य की बात साधक है क्योंकि जैसे पिता पालनपोषण करता है वैसे ही अग्नि विभिन्न ओषधि-वनस्पतियों को पकाकर हमारा कल्याण करता है।

पि॒ताऽइ॑व—पिता के समान। पदपाठ में अवग्रहसहित इसके पदों का पृथक्करण होने से इसका समस्तपद होना स्पष्ट है (दे० वार्तिक० इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च)। इस समास में पूर्वपद पर प्रकृतिस्वर होता है। अतः यहाँ भी ता उदात्त है और संहितापाठ में गुणसन्धि होने पर एकार उदात्त है—इवेन नित्यसमासः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वञ्च वक्तव्यम्। अन्यथा भी 'चादयोऽनुदात्ता' से इव सर्वानुदात्त है।

सूनवेऽग्ने—सूनवे के एकार में उदात्त वस्तुतः पूर्वरूपएकादेशभूत अग्ने के अकार का है। यह स्थिति पदपाठ में स्पष्ट है। सम्बोधन होते हुए भी पाद के आदि में होने के कारण 'आमन्त्रितस्य च' (पा० ६।१।१९८) से अग्ने आद्युदात्त है। छन्दपूर्ति के लिये इन दो शब्दों का उच्चारण सन्धिविच्छेद करके किया जाना चाहिये। सूनु से तु० अव० हुनु गो० सुनु अ० सॉन, लिथु० सूनु प्र० सन।

सू॒पा॒य॒नः—शोभनमुपायनं यस्य शोभनप्राप्तियुक्त। बहु० होने के कारण पूर्वपदप्रकृतिस्वर होना चाहिये था किन्तु पूर्वपद में सु होने के कारण 'नञ्सुभ्याम्' (पा० ६।२।१७२) से यह अन्तोदात्त है। सभी गत्यर्थक धातुएं ज्ञानार्थक भी होती है, इस आधार पर स्वा० द० ने अर्थ किया है—शोभन ज्ञान, जो कि सब सुखों का साधक और उत्तम उत्तम पदार्थों का प्राप्त कराने वाला है, उसके देने वाले होकर (सुष्ठु उपगमयनं ज्ञानं सुखसाधनपदार्थप्रापणं यस्मात्सः)।

सच॑स्व—संहितापाठ में अन्त्यदीर्घत्व द्रष्टव्य है। यह केवल वैदिक धातु से बना है। स्क०, वें०—सेवस्व (सेवा करो), सा०—समवेतो भव (हमसे संयुक्त होइये), स्वा० द० समवेतान् कुरु (संयुक्त कीजिये), पाश्चात्य विद्वान्—गेलाइतन, स्टेय् विद् अस्, अबाइड वाइ अस्, (हमारे साथ ठहरिये, रहिये)। पाणिनीय धातु पाठ में दो सच् धातुएँ परिगणित हैं। एक का अर्थ सेवन और दूसरी का समवाय दिया गया है। समवाय में निकट होने, रहने या निकट करने का भाव भी विद्यमान है। तु० यू० स्पा अवे० हच्। यह वैदिक धातु संस्कृत के सचिव, सखनु शब्दों में सुरक्षित है। स० सचस्व तु० अवे० सचनुह, यू० स्पेमा ला० सेक्वेरे।

स्वस्तये — कल्याण के लिये। छन्द पूर्ति के लिये इसका उच्चारण सुअस्तये किया जाना चाहिये। स्क०, वें०, सा०—विनाश न होने के लिये (अविनाशाय)। पाश्चात्य विद्वानों ने इसे कल्याणार्थक ही माना है—तु० हैप्पिनेस, वैलबींग। मै० के अनुसार यह समस्त पद पदपाठ में अवग्रह द्वारा इसलिये पृथक् करके नहीं दिखाया गया क्योंकि अस्ति स्वतन्त्र नामिक अङ्ग के रूप में नहीं विद्यमान। ऋ० में प्राप्य स्वस्ति, स्वस्तिम्, स्वस्ती, स्वस्तये इत्यादि रूपों में स्पष्ट है कि ऋ० में इसके नामरूप चलते थे। इसका प्रधान प्रयोग तृ० एक० में स्वस्ती के रूप में होता था। इसका अन्त्य स्वर प्राय ह्रस्व हो जाता था। अन्ततोगत्वा यह अव्यय के रूप में रूढ हो गया। भाषावैज्ञानिकों के मतानुसार स्वस्ति का उत्तरपद आगे चलकर समासों के अन्त में स्ति के रूप में अवशिष्ट रह गया—यथा अभिष्टि, उपस्ति म।

इन्द्रः

इन्द्र की स्तुति में ऋग्वेद में सब से अधिक (२५०) सूक्त अभिहित हैं। इस संख्या से ही इन्द्र के महत्त्व का अनुमान लगाया जा सकता है। इसे विद्वान् प्रायः वैदिक भारतीयों का प्रिय राष्ट्रीय देवता बताते हैं। इन्द्र की महत्ता और शक्ति अतुलित है। इसे आकाश, अन्तरिक्ष, पृथ्वी और वायु, तथा सभी देवों से बड़ा बताया गया है—

प्र मात्राभी रिरिचे रोचमानः प्र देवेभिर्विश्वतो अप्रतीतः।
प्र मज्मना दिव इन्द्रः पृथिव्याः प्रोरोर्महो अन्तरिक्षादृजीषी॥
(ऋ॰ ३।४६।३)

एक अन्य स्थल (ऋ॰ ७।३२।२३) पर कहा गया है कि—कोई दिव्य अथवा पार्थिव प्राणी इसकी समता करने वाला न तो हुआ है और न ही होगा—न त्वावाँ अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते॥ इसे एकमात्र अकेला शासक बताया गया है—एक ईशान ओजसा (ऋ॰ ८।६।४१)। यह पृथ्वी और आकाश दोनों का उत्पादक है—जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः (ऋ॰ ८।३६।४)। ऋ॰ २।१२ में इन्द्र की अतुल्य शक्ति का सुन्दर वर्णन है। तदनुसार इसने ही काँपती हुई पृथ्वी और पर्वतों को टिकाया अन्तरिक्ष का निर्माण किया और आकाश को स्तम्भित किया (२)। वही सूर्य और उषा का जन्म देने वाला तथा आप का लाने वाला अर्थात् उनकी सृष्टि करने वाला है (३ यः सूर्यं य उषसं जजान यो अपां नेता)। उसकी इसी शक्ति के कारण पृथ्वी और आकाश उसे प्रणाम करते हैं और पर्वत भयभीत होते हैं (१३-द्यावा चिदस्मै पृथिवी नमेते शुष्माच्चिदस्य पर्वता भयन्ते)। इसीलिये मानव और दिव्य जनों का उसे नायक बताया गया है—इन्द्र क्षितीनामसि मानुषीणां विशां दैवीनामुत पूर्वयावा (ऋ॰ ३।३४।२)। सम्भवतया वेदों में वर्णित इन्द्र के इस महत्त्व को ध्यान में रखकर ही स्वामी दयानन्द ने अनेक स्थलों पर इसे परमैश्वर्यवान् परमेश्वर माना है।[1] इसी प्रकार अरविन्द घोष ने 'स्वर् अर्थात् दिव्य मन के ज्योतिर्मय जगत् के स्वामी' इन्द्र को हमारे अस्तित्व का शासक

---

1 द्र॰ दु॰, निरुक्त १।२ पर—इन्द्र आत्मा येन ईयते लिङ्गकं येनानुमीयते वात्स्यता-वात्मा कर्ता करणेन करण नाकत् के करणमिति।

तथा मन शक्ति बताया है। उनके अनुसार यह दिव्य शक्ति है और स्नायविक चैतन्य की सीमाओ तथा बाधाओं से मुक्त है।[1] वासुदेव शरण अग्रवाल ने इन्द्र को ईश्वर का वाचक मानते हुए[2] उसे इन्द्रियो का अधिष्ठाता मध्य प्राण बताया है।[3] उनके मतानुसार देह मे प्रतिष्ठित अग्निरूप मूलभूत शक्ति का समिन्धन ही इन्द्र है। वही एक नाना रूपो मे प्रकट होता है—इन्द्रो मायाभि पुरुरूप ईयते (ऋ० ६।४७।१८)। इसी तत्त्व को आगे चलकर वे इन्द्रियों के मूल म विद्यमान मनस्तत्त्व का अधिष्ठाता बताते हैं क्योंकि इन्द्र को 'मनस्वान्' कहा गया है—यो जात एव प्रथमो मनस्वान् (ऋ० २।१२।१)। इसकी पुष्टि गोपथ ब्राह्मण उत्तरार्ध (४।११) के इस वाक्य से भी होती है—यन्मन स इन्द्र। जिस प्रकार मन की शक्ति अनन्त है उसी प्रकार इन्द्र की शक्ति भी वेद म अनन्त कही गई है—अवाह तै मघवन् विभूतं सहो द्यामनु शवसा बर्हणा भुवत् (ऋ० १।५२।११)। निष्कर्ष रूप मे वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'प्राणशक्ति, मनस्तत्त्व और दोनों से ऊपर शुद्ध आत्म तत्त्व' को इन्द्र माना है।[4] हरिशङ्कर जोशी ने भी इन्द्र को मूल रूप मे मनस्तत्त्व मानकर उसे मन के अधिष्ठाता और फलस्वरूप ब्रह्माण्ड के प्रथम महायोगी के रूप में स्वीकार किया है। तदनुसार वह मौलिक सृष्टि पूरी होने पर योग करता है। वह योग द्वारा देवताओं की पुन जागृतिरूप नवीन सृष्टि करके अखिल ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है। इसी कारण सबसे कनिष्ठ होने पर वह ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है।[5] मैक्डॉनल प्रभृति पाश्चात्य विद्वानो ने इसे प्राय झञ्झावात के देवता के रूप में वर्णित किया है। किन्तु वे इसके मिश्रित चरित्र से भी इन्कार नही करते। उनके अनुसार इनके सहायक मरुतों के आधार पर इसका 'मरुत्वत्' नाम सम्भवतया इसके वायु के साथ सम्बन्ध को प्रकट करता है। कुछ स्थलो पर इन्द्र को सूर्य ही बताया गया है—स सूर्य . इन्द्र (ऋ० १०।८९।२)। इन्द्र को ये विद्वान् युद्ध का देवता भी मानते हैं क्योंकि योद्धाओं द्वारा इसका आह्वान किया जाता है—समिन्नरो वि ह्वयन्ते समीके (ऋ० ४।२४।३)। इन्द्र का यह मिश्रित स्वरूप स्वामी दयानन्द के भाष्य मे भी देखने को मिलता है क्योंकि उन्होंने भी परमेश्वर के अतिरिक्त विविध प्रसङ्गो मे इसके मेघ, वायु

---

१ औरोबिन्दोज़ वैदिक ग्लॉसरी, पृ० २६।

२ वेदविद्या, पृ० २७७—"इन्द्र ईश्वर का वाचक है। परमैश्वर्यरूप सृष्टि का विधाता यदि किसी शब्द से यथार्थ में अभिहित किया जाये तो उसके लिये 'इन्द्र' यही उपयुक्त नाम हो सकता है।"

३ स योऽयं मध्ये प्राण, एष एवेन्द्र —श ब्रा ६।१।१।२

४ वेदविद्या, पृ० २८२।

५ वैदिक योगसूत्र, पृ० १२७

सूर्य, राजा, सेनापति आदि अर्थ भी दिये हैं। वायु और इन्द्र के एक होने का संकेत निरुक्त (७।५) में भी है—वायुर्वेन्द्रो वाऽन्तरिक्षस्थानः।

इन्द्र का यह सार्वभौम महत्त्व होने पर भी वेद में उसके जन्म की गाथायें आई हैं। द्यौ को इन्द्र का पिता अथवा जन्मदाता कहा गया है—सुवीरस्ते जनिता मन्यत द्यौरिन्द्रस्य कर्ता (ऋ० ४।१७।४)। अन्यत्र इन्द्र और अग्नि के एक ही पिता का उल्लेख है और यही इन्हें यमज भ्राता बताया गया है—समानो वां जनिता भ्रातरा युव यमौ (ऋ० ६।५६।२)। निष्टिग्री का उल्लेख इन्द्र की माता के रूप में हुआ है—निष्टिग्र्यः पुत्रमा च्यावयोतय इन्द्रम् (ऋ० १०।१०१।१२)। सायण के अनुसार अदिति ही निष्टिग्री है। 'तिरश्चता पार्श्वान्निर्गमाणि' (ऋ० ४।१८।२) में इन्द्र की माता के पार्श्व से जन्म लेने की कामना व्यक्त की गई है। मैक्डॉनल के अनुसार 'सम्भवतः मेघों के किनारों से विद्युत् की चमक के प्रकट होने की धारणा से ही यह विचार निष्कृष्ट हुआ प्रतीत होता है'।[1] किन्तु इन्द्र का जन्म साधारण जन्म नहीं। जन्म लेते ही उसने अपने शत्रुओं को बाधित किया—जज्ञान एव व्यबाधत स्पृधः (ऋ० १०।११३।४)। इसी प्रकार उस जन्म से ही अशत्रु अर्थात् दुर्जेय बताया गया है—अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे (ऋ० १०।१३३।२)।

इन्द्र के विशेषणों में 'शिप्रिन्' बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसका शचीपति और शचीवान् विशेषण इसके शक्ति से युक्त होने का, शतक्रतु विशेषण सैकड़ों क्रियाओं से युक्त होने का तथा मघवन्, और वसुपति समृद्ध, धनसम्पन्न होने का द्योतक है। हरि शब्द के साथ इस देवता का सम्बन्ध बहुत बार प्रकट होता है। इन्द्र की विशेषता है कि वह इच्छानुसार रूप-परिवर्तन कर लेता है—मघवा तन्व यक एव (ऋ० ३।४८।४)। इन्द्र का अस्त्र वज्र है, यह केवल इन्द्र से ही सम्बद्ध है। ऐसा प्रतीत होता है कि बिजली गिरने की क्रिया को ही वज्र कहा जाता है। प्रायः इन्द्र की वज्रधारी भुजाओं का वर्णन हुआ है।[2] यह वज्र त्वष्टा ने बनाया था—त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष (ऋ० १।३२।२)। काव्य उशना को भी वज्र-निर्माता बताया गया है—य ते काव्य उशना मन्दिनं......ततक्ष वज्रम् (ऋ० १।१२१।१२)। यह वज्र शत जोड़ों वाला (शतपर्व) और सहस्र नोकों वाला (सहस्रभृष्टि) है।[3] इन्द्र के रथ का भी वर्णन आता है। वह रथ स्वर्णिम है तथा मन से भी तीव्र गति वाला है।[4] यह दो हरे रंग के (हरी) अश्वों द्वारा खींचा जाता है। ये अश्व द्रुत

१. वैदिक माइथॉलोजी, अनु० रामकुमार राय, वाराणसी १९६१, पृ० १०५।
२. वज्रबाहु, वज्रहस्त, वज्रिन।
३. ऋ० ८।६।६ तथा १।८०।१२।
४. ऋ० ६।२६।२ तथा १०।११२।२।

गति से बडी दूरियाँ पार करते हैं—आ त्वा मदच्युता हरी श्येन पक्षेव वक्षत (ऋ० ८।३४।६)। अरविन्द घोष ने इन दो अश्वो को प्रकाश के नियम तथा अतिमानस चैतन्य की दृष्टि शक्तियाँ माना है।[1] वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार प्राणि शरीर इन्द्र का रथ है और अश्व इसकी गति। ये दोनों अश्व प्राण के दो रूप हैं। प्राणो का नियन्ता होने के कारण ही इन्द्र को मरुत्वान् कहा गया है। ऐ० ब्रा० (२।२४) मे ऋक् और साम को इन्द्र के दो अश्व बताया गया है—ऋक्सामे वै इन्द्रस्य हरी। वासुदेवशरण अग्रवाल ने ऋक्साम की प्राण अपान के रूप मे व्याख्या की है।[2] इन्द्र के वाहन के प्रसङ्ग मे सूय और वात के अश्वो का भी उल्लेख हुआ है।[3] इससे इन्द्र और सूर्य तथा इन्द्र और वात का परस्पर सम्बन्ध अथवा अभेद लक्षित होता है।

सोम का इन्द्र के साथ विशेष सम्बन्ध है। सोमपान इन्द्र की अत्यन्त स्वाभाविक और विशेष प्रवृत्ति है "इन्द्र इत् सोमपा एक" (ऋ० ८।२।४)। सोम के प्रति इन्द्र का इतना आकर्षण है कि उसने सोम को चुरा लिया था—आमुष्या सोममपिब (ऋ० ८।४।४)। सोमपान करके वह पृथ्वी धारण आदि जैस महान् कार्य करता है—

> अवंशे द्यामस्तभायद् बृहन्तमा रोदसी अपृणदन्तरिक्षम्।
> स धारयत् पृथिवीं पप्रथच्च सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार॥
>
> (ऋ० २।१५।२)

इन्द्र द्वारा सोमपान के प्रभाव मे किये गये महान् ओजस्वी कार्यों का वर्णन इन्द्र के स्वगत भाषण के रूप में एक सम्पूर्ण सूक्त (ऋ० १०।११६) मे किया गया है। भारतीय विद्वानो ने सोमपान की भिन्न भिन्न व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। स्वामी दयानन्द ने सोम को आनन्द मानकर 'आनन्दित होना' या सोम को ओषधिरस मानकर 'ओषधिरस का पान करना' भी व्याख्या की है।[4] अनेक स्थानों पर (यथा ऋ० ३।३६।७) इन्होने 'सोमपा' का अर्थ 'ऐश्वर्य का रक्षक' (सोममैश्वर्यं पाति) भी किया है। वासुदेव शरण अग्रवाल के मतानुसार सोमपान के प्रसङ्ग मे इन्द्र जठराग्नि है और सोम अन्न। ये दोनो एक दूसरे के पूरक हैं। 'यदि इन्द्ररूपी जठराग्नि को अन्नरूपी सोम न मिले तो उसकी क्षीणता का अन्त मृत्यु है। दूसरी ओर इन्द्र मन भी है। उसके लिये भी सोम-

---

१ श्री ओरोबिन्दोज वैदिक ग्लॉसरी, पृ० २०।

२ वेदविद्या, पृ० २६५।

३ ऋ १०।४९।७, १०।२२।४,६।

४ ऋ ३।४८।४ पर स्वामिदयानन्दभाष्य—य इन्द्र परमैश्वर्यवान् जन अमूषु भक्षयित्रीषु सेनासु आमुष्य चोरयित्वा सोमम् ओषधिरसम् अपिबत् पिबेत्।

रूपी अन्न सहायक है, क्योंकि शरीर की प्रक्रिया में अन्न से रस, रस से रक्त, रक्त से मांस......, और अन्त में ओज से मन बनता है। इस प्रकार मनरूपी इन्द्र को सदा सोम चाहिये।[१] 'अग्नीषोमात्मक जगत्' वाक्य भी इसी आधार पर सार्थक है क्योंकि समस्त विश्व में यही प्रक्रिया दिखाई देती है। अरविन्द के अनुसार दिव्य मन द्वारा दिव्य आनन्द का उपभोग ही सोमपान है। हरि दामर जोशी का मत है कि 'मन के शासक इन्द्र द्वारा अन्धकारमय मन को विष्णु की ज्योति से चेतनामय करने की क्रिया सोमपान है।'[२]

सोम के साथ साथ इन्द्र से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध वृत्र भी है। सोम इन्द्र में शक्ति तथा उत्तेजना उत्पन्न करता है और उसका उपयोग वृत्र के विरुद्ध होता है। इन्द्र वृत्र का नाश करता है। इसी आधार पर उसका एक बहु प्रचलित नाम 'वृत्रहा' भी है। इससे अवेस्ता के वेरेथ्रघ्न की तुलना की जा सकती है यद्यपि अवेस्ता में वह मेघवृष्टि से सम्बद्ध न होकर विजय का देवता है।[३] वृत्र का नाश करके इन्द्र गौओं को मुक्त कर देता है। ये गौएँ जल की धारायें प्रतीत होती हैं क्योंकि ऋ० ६।२०।२ में वृत्र को जलावरोधक बताया गया है—अहिं म वत्रवृत्तमपो वविवांसं हन्। इन्द्र द्वारा वृत्र पर वज्रप्रहार के समय पृथ्वी और आकाश भी काँप उठते हैं—

अरेजेतां रोदसी भियाने कनिक्रदतो वृष्णो अस्य वज्रात् (ऋ० २।११।६)। पौराणिक दृष्टि से तो यह सब वृत्र नामक राक्षस द्वारा गोधन को चुराने का और इन्द्र देवता द्वारा उसे मुक्त कराने का वर्णन है। अधिकांश पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार वृत्र मेघ है और गौएँ वृष्टि जल हैं, अथवा पर्वतों से प्रवाहित पार्थिव नदियाँ या जल की धारायें हैं। ये मेघ ही पुर हैं, अतः इन्द्र को पुरभिद् कहा गया है। किन्तु बर्गेन आदि विद्वानों का यह भी मत है कि 'इस पर भी सन्देह नहीं किया जा सकता कि ऋ० में जल और नदियों के भी प्रायः दिव्य अथवा अन्तरिक्षीय होने की कल्पना की गई है।'[४] यह भी माना गया है कि 'अनेक अन्य दशाओं में गायों की धारणा इन्द्र द्वारा प्रकाश पर विजय से सम्बद्ध हो सकती है क्योंकि रात्रि की कालिमा से प्रकट होती हुई उषा की अरुण रश्मियों की अपनी गोशालाओं से बाहर आती हुई गायों से तुलना की गई है।'[५] वृत्रवध के इस महान् कार्य में प्रायः मरुत् उसके सहायक होते हैं,

---

१ वैदविद्या, पृ० २८४।
२ वैदिक योगसूत्र, पृ० ११६।
३. वैदिक माइथॉलोजी, पृ० १२४।
४. वही वही, पृ० १११-११२, द्र. ऋ. १।१०।८—स्वर्वतीरप।
५ वही वही, पृ० ११२।

अतः इन्द्र को मरुत्वान् भी कहा जाता है। एक स्थान (१।३२।१२) पर यह भी उल्लेख हुआ है कि इन्द्र ने सोम को भी गौओं के साथ साथ जीता। तदनुसार सोम की उपलब्धि वृत्र वध से सम्बद्ध है—अजयो गा अजयः शूर सोममवासृजः सर्तवे सप्त सिन्धून्। कुछ स्थलों पर स्पष्ट ही वृत्र-वध से प्रकाश पर विजय का संकेत है जिससे वृत्र अन्धकार की शक्ति के रूप में भी प्रकट होता है।[1] वृत्र-सम्बन्धी सभी सन्दर्भों में एक बात स्पष्ट है कि वृत्र कोई आवरक शक्ति है। प्राकृतिक दृष्टि से यह भी सम्भव प्रतीत होता है कि यह जल को मानो बाँध कर रोके रखने वाला जमा हुआ हिम हो, जिसे सूर्यरूपी इन्द्र के द्वारा पिघला कर नष्ट किया जाता है और जलरूपी गौओं को मुक्ति होती है। वृत्र के इस आवरक तत्त्व को ही प्रमुखरूप से ध्यान में रखकर विभिन्न विद्वानों द्वारा इन्द्र-वृत्र संघर्ष की विभिन्न व्याख्यायें प्रस्तुत की गई हैं। स्वामी दयानन्द ने वृत्र, शम्बर, नमुचि, अहि आदि को मेघ मानकर इस संघर्ष को वृष्टिसंघर्ष के रूप में व्याख्या की है। ये संघर्ष वैयक्तिक न होकर सांकेतिक हैं—इस बात का संकेत स्वयं ऋ० १०।५४।२ में किया गया है —मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुः। वृत्र व्यक्तिवाचक न होकर आसुरी शक्ति का द्योतक है, इसी कारण इसका उल्लेख बहुवचन में भी (वृत्राणि) हुआ है। यह महान् अवरोधक है—सर्वं वृत्वा शिश्ये। श्री अरविन्द के अनुसार यह ऐसा आवरण है जो हमसे सम्पूर्ण सत्य की शक्तियों और क्रियाओं को पृथक् करता है। वासुदेवशरण अग्रवाल ने वृत्र को समष्टिविज्ञान माना है—"बृहस्पति की गौएं जिस अद्रि की गुफा में मुंदी हैं वही समष्टि विज्ञान या विराट् मन है। उन गौओं या चैतन्य धाराओं को व्यष्टि-जीवन के लिये उन्मुक्त करने वाला व्यक्ति का निजी मन है।"[2] इसी प्रकार हुन्निकर जोशी ने वृत्र को इस अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड का मौलिक शरीर बताया है।[3] इसकी पुष्टि में उन्होंने श० ब्रा० (४।१।४।७) की एक उक्ति उद्धृत की है जिसके अनुसार वृत्र और सोम आश्चर्यजनक रूप से एक ही तत्त्व सिद्ध होते हैं—वृत्रो वै सोम आसीत्।

इन्द्र निश्चय ही समस्त संसार के आधार में असाधारण महती शक्ति है। उसे राष्ट्रीय देवता की संज्ञा दी जाती है। वह दस्युओं को नष्ट कर आर्यजनों की रक्षा करता है—हत्वी दस्यून् आर्यं वर्णमावत् (ऋ० ३।३४।९)। उसका

---

१. उदाहरणार्थ ऋ. ८।९८।४—हमो मुर्व सया स्व।
२. वेदविद्या, पृ० २५५।
३ वैदिक कोसमूल, पृ० ६१, श. ब. ब्रा. वृत्रो वै उदरम्। इसी प्रकार श. ब्रा. १।१।३।४—वृत्रो ह वा इदं सर्वं वृत्वा शिश्ये यदिदमन्तरेण द्यावापृथिवी स इद वृत्वा शिश्ये तस्माद्वृत्रो नाम।

मित्र न मारा जाता है, न विजित होता है—न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदाचन। और इन्द्र का मित्र वही होता है जो चलता रहे, कार्यशील रहे—इन्द्र इच्चरतः सखा (ऐ० ब्रा० ३३।३।१)। अवेस्ता में इन्द्र का नाम दो बार असुर के रूप में आया है।

निरुक्त (१०।८) में दी गई इन्द्र शब्द की निरुक्तियों से भी इन्द्र का स्वरूप स्पष्ट होता है। सर्वप्रथम इरा शब्द से विभिन्न धातुओं का संयोग करके बताया गया है—इरा (अन्न) को (बीज रूप में अंकुरित होने के लिये) तोड़ता है (इरां दृणाति, इरां दारयते), इरा देता है या धारण करता है इरां ददाति, इरां दधाति, इरां धारयते)। इन्द्र के दो निर्वचन इन्दु (सोम) को आधार मान कर दिये गये हैं—इन्दु (सोम) के लिये अर्थात् उसे पीने को दौड़ता है (इन्दवे द्रवति) अथवा इन्दु में रमण करता है (इन्दौ रमते)। मैक्डॉनल ने भी इन्दु (बिन्दु) से इसके निर्वचन की सम्भावना व्यक्त की है। अथवा √इन्ध् (दीप्त्यर्थक) से—जो सब प्राणियों को प्रकाशित करता है (इन्धे भूतानि)। यह निर्वचन इन्द्र को प्राण-शक्ति के रूप में प्रकट करता है। इसकी पुष्टि में दिये गये ब्राह्मणवाक्य से यह बात और स्पष्ट होती है—

तद्यदेनं प्राणैः समैन्धंस्तदिन्द्रस्येन्द्रत्वम् (जो कि इसे प्राणों से, प्राणों के रूप में, प्रदीप्त किया, वह इन्द्र का इन्द्रत्व है)। इसी प्रकार इदंकरण (जिसने यह सब किया—बनाया) निर्वचन से भी इन्द्र विधाता के रूप में प्रकट होता है। यही भाव इदंदर्शन (जो यह सब कुछ देखता है—सर्वद्रष्टा) निर्वचन में है। √इद् (इन्द्—ईश्वर, स्वामी होना) के आधार पर किये गये निर्वचन भी इन्द्र के इसी स्वरूप को द्योतित करते हैं—स्वामी होता हुआ शत्रुओं को विदीर्ण करने वाला या भगाने वाला (इन्दञ्छत्रूणां दारयिता वा द्रावयिता वा)। इन्द्र यज्ञ करने वालों का आदर करने वाला है (आदरयिता च यज्वनाम्)।

ऋ० १।८१

ऋषिः—रहूगणपुत्रः गोतमः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—पङ्क्तिः (पाँच अष्टाक्षर पाद)।[1]

इन्द्रो मदा॑य वावृधे॒ शव॑से वृत्र॒हा नृभि॑ः।
तमिन्म॒हत्स्वा॒जिषू॒तेमर्भे॑ हवामहे॒ स वाजे॑षु॒ प्र नो॑ऽविषत् ॥१॥

1. स्वा द. के अनुसार—१, ७, ८—विराट् पङ्क्तिः, ३-६, ९—निचृदास्तार-पङ्क्तिः, २—भुरिग् बृहती।

इन्द्रः । मदाय । ववृधे । शवसे । वृत्रऽहा । नृऽभिः । तम् । इत् । महत्ऽसु । आजिषु ।
उत । ईम् । अर्भे । हवामहे । सः । वाजेषु । प्र । नः । अविषत् ॥

इन्द्र आनन्द के लिये बढ़ा है,
बल के लिये, वृत्रविनाशक, मानवजन के साथ ।
उसे ही बड़े बड़े संघर्षों में,
और उसे ही छोटों में भी बुला रहे हम,
वह शक्तिकार्यों में हमें सुरक्षित करदे (नाथ) ॥

ईश्वर अथवा मन सभी मनुष्यों की सङ्गति में ही निरन्तर विस्तार को प्राप्त होता है । इस क्रिया से ही उसे स्वयं तथा सब मनुष्यों को भी आनन्द प्राप्त होता है । ईश्वर के विस्तार को देखकर तथा मन की विशालता (उदारता) के कारण मनुष्य को वास्तविक बल और निर्भयता प्राप्त होते हैं । आन्तरिक अथवा बाह्य, छोटे अथवा बड़े—सभी संघर्षों में मन अथवा ईश्वर का परम आश्रय लिया जाता है । वही प्रत्येक गति में हमें सुरक्षित सन्तुलित रखता है ।

इन्द्रः—स्वा० द०—शत्रुगणविदारयिता सेनाध्यक्ष ।

मदाय—सा०—हर्षाय, वें—सोमाय स्वा० द०—स्वस्य भृत्यानां हर्षकरणाय । मक्स०—आनन्द, विनोद, नशा (डिलाइट, रिजॉइसिंग, राउश), गेल्ड०—नशा (राउश), ग्राम०-नशा, सोम के मजे में आने वाला सुखप्रद और बलप्रद उत्साह (राउश—काप्रिदिगें उन्द् धात्स्टेपितगें बेंगाइस्तेरुंग, दी दुर्स देन गेनस्स देस सोम एर्रेग्त विर्द) ।

ववृधे—संहितापाठ में अभ्यास का दीर्घत्व ध्यान देने योग्य है ।[1] (पा० ६।१।७—तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य) । स्क०-स्तोमैः स्तुतिभिश्च वर्धते, सा०—स्तोत्रशस्त्ररूपाभि. स्तुतिभि प्रवर्धितो बभूव—स्तुत्या हि देवता प्राप्तबला सती प्रवर्धते । स्वा० द०—वर्धते, गेल्ड०—बलिष्ठ हुआ है (वार्द गेंर्स्टेर्क्त) । यहां 'बढ़ा हुआ है—और निरन्तर बढ रहा है' भाव प्रतीत होता है । 'तिङ्ङतिङः' से सर्वानुदात्त ।

शवसे—बलाय उणादि० ४।१८८—श्वे सम्प्रसारणं च, √श्वि + असुन् =शु + असुन्—गुण—शो + असुन् = शो + अस् = शवस् ।

वृत्रऽहा—वृत्र—आवृत करने वाले अज्ञानरूप अन्धकार का नाशक, या जल अथवा किरणों को रोकने वाले मेघ अथवा हिमनद का नाशक—सूर्य ।

---

1 सा वृधे कर्मणि लिट् 'अन्येषामपि दृश्यते' इति अभ्यासदीर्घत्वम् । तुजादित्व हि गुरुमान इतिवत् पदकाले दीर्घ. श्रूयते ।

मन में इतनी शक्ति है कि यह संयम के द्वारा इन्द्रियों के मार्ग में आने वाले अज्ञान के आवरण को दूर कर देता है। जिससे मार्ग स्पष्ट हो जाये। नि० (७।६।२३) में 'वृत्रहणम्' का अर्थ 'मेघहनम्' दिया है। २।५।१७ में नैरुक्तों के मतानुसार वृत्र का अर्थ मेघ ही दिया गया है और उसकी निरुक्ति इस प्रकार दी गई है :—वृत्रो वृणोतेर्वा वर्ततेर्वा वर्धतेर्वा। वें०-शत्रुहा, सा०—आवरकस्य वृष्टिनिरोधकस्य मेघस्यासुरस्य वा हन्ता, यद्वा आवरकाणां शत्रूणां हन्ता। स्वा० द०—मेघहन्ता सूर्य इव शत्रूणां हन्ता। गेल्ड०—वृत्र को मारने वाला (वृत्र-तोमृतर), मक्स० और ग्रास०—शत्रुओं का या वृत्र का नाशक (स्लेयर ऑफ़ फोज़ ऑर ऑफ वृत्र)। अर०—वृत्र आवरक, जो हमसे सम्पूर्ण शक्तियों और क्रियाओं को पृथक् कर देता है। श० ब्रा० (११।१।५।७) में पाप को वृत्र बताया गया है—पाप्मा वै वृत्र। श० ब्रा० (११।१।६।१७) में भी देवासुरसंग्रामों को ऐतिहासिक न बता कर वृत्र के ऐतिहासिक व्यक्ति न होने की ओर संकेत किया गया है।[1] वा० श० के अनुसार "इन्द्र की शक्तियों का अवरोध वृत्र है—सर्वं वृत्वा शिश्ये, जो सबको घेर कर बैठ गया, वही आवरक तत्त्व वृत्र है।" (दे० वेदविद्या पृ० २९६), परन्तु मं० ने इसे एतन्नामक दानव या मानव शत्रु माना है।[2] सु० प्रवे० वेरेणृघम्। उपपद समास होने के कारण कृदन्त उत्तरपद 'हा' पर प्रकृति से उदात्त है—दे० पा० ६।२।१३९—गतिकारकोप-पदात् कृत्।

नृभि—स्क०—यष्टृभिर्मनुष्यैः, वें०—मरुद्भिः, सा०—यज्ञस्य नेतृभि-र्ऋत्विग्भिः। स्वा० द०—सेनासभाप्रजास्थैः पुरुषैः सह मित्रत्वेन वर्तमान।

तम्—स्क० ने इसका सम्बन्ध स्पष्ट करने के लिये प्रारम्भ में 'य इन्द्र' ऐसा अन्वय किया है। परन्तु इसकी कोई आवश्यकता नहीं। ववृधे क्रिया वाला एक पृथक् वाक्य है और नये वाक्य में स्वाभाविकतया 'तम्' पिछले वाक्य के कर्ता इन्द्र की ओर सङ्केत करता ही है।

ईम्—एनम्, नि० (१।३६) में इसे पदपूरण बताया गया है। (पदपूर-णास्ते मिताक्षरेष्वनर्थकाः कमीमिद्विति) किन्तु नि० १०।४।४७ में ऋ० १०। ६५।७ के भाष्य में इसका अर्थ एनम् दिया है।

वाजेषु—प्राय सभी विद्वानों ने वाज का अर्थ युद्ध दिया है। मक्स०—विजय, शक्ति, अर०—बाहुल्य। किन्तु नि० (२।७।२९) में वाजी का जो भाष्य वेजनवान् दिया गया है वहाँ, गत्यर्थक √विज् (ओविजी भयचलनयोः) का संकेत मिलता है। तदनुसार वाज का अर्थ गति उचित प्रतीत होता है। अन्यथा

---

१ नैतदस्ति यद्देवासुरं यदिदमन्वाख्याने त्वद् उद्यते इतिहासे त्वत् ॥

२ वै० दे० शा०—पृ० ४०१ ४१२।

भी वाज को जहाँ अन्न माना गया है, वहाँ अन्न गति का उत्पादक ही है। और इसके सायण अर्थ में भी गति ही प्रधान है।

प्र प्रुविष्त्—स्क०, वें०, सा०—प्रकर्षेण रक्षतु। स्वा० द०—प्रकर्षेण रक्षादिकं व्याप्नोतु। √ प्रव् लेट्-अट् सिप्-प्र० पु० एक०। पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार इष् लुङ् के अङ्ग से लेट् रूप।

छन्द—पङ्क्ति छन्द के अनुसार छन्दः पूर्ति के लिये तृतीय पाद के अन्तिम दो और चतुर्थपाद के प्रथम शब्दों को सन्धिविच्छेद करके ऐसे पढ़ना चाहिये :—महत्सु आजिषु उतेम्।

असि हि वीर सेन्योऽसि भूरि पराददिः।
असि दभ्रस्य चिद्वृधो यजमानाय शिक्षसि सुन्वते भूरि ते वसु ॥२॥

असि। हि। वीर। सेन्यः। असि। भूरि। पराऽददिः। असि। दभ्रस्य। चित्। वृधः। यजमानाय। शिक्षसि। सुन्वते। भूरि। ते। वसु॥

हो तुम हे वीर ! सेना से युक्त,
हो तुम अधिकाधिक दान के दाता (अति उदार)।
हो तुम लघु के भी वृद्धि-विधायक,
यज्ञ करने वाले को देते हो तुम सामर्थ्य,
रसप्रदाता के हित बहुत तुम्हारा धनसम्भार॥

वास्तविक तथा स्थायी सेना से युक्त ईश्वर अथवा मन को ही कहा जा सकता है, क्योंकि इनकी शक्ति अतुलित है। ये दोनों ही सबसे बड़े दानी हैं क्योंकि सारी सृष्टि ही इनसे होती है। निस्सन्देह इनकी शक्ति से छोटा भी बड़ा बन सकता है—एक ओर ईश्वर की कृपा और दूसरी ओर मन की सकल्प-शक्ति। जितना ही कोई यज्ञ अर्थात् दानादि कर्म करने में दत्तचित्त होता है, उतना ही उसका सामर्थ्य बढ़ता है। वह और उदार होता जाता है तथा उसमें निर्भयता बढ़ती जाती है। मानो वही व्यक्ति अपने और ससार के लिये रस-आनन्द की सृष्टि करता है। उसे ही वास्तविक धन अर्थात् मनोबल और सन्तोष प्राप्त होता है।

असि—यह तिङन्त पद इस मन्त्र में सर्वत्र पाद के आदि में आने के कारण उदात्तयुक्त है (दे० वै० व्या० भा० २, अनु० ४१६ (ख))। 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' (पा० ३।१।४) से सि अनुदात्त है और-अ उदात्त।

वीर—सा०—हे शत्रुक्षेपणकुशल इन्द्र, दे० नि० १।३।७—वीरयत्यमित्रान्, वेतेर्वा स्याद्गतिकर्मणः, वीरयतेर्वा। तदनुसार (१) शत्रुओं को तितर बितर

करने वाला, (२) निर्बाध गति वाला या (३) पराक्रम से युक्त। स्वा० द०-शत्रुणा सेनाबल व्याप्त शील, सेनापत। 'आमन्त्रितस्य च' (पा० ८।१।१९) से पाद के आदि में न होने के कारण सर्वानुदात्त।

सेन्यं—स्क०—स्वामित्यर्थमिदमर्थे यत्प्रत्ययो द्रष्टव्य। मरुदादिसेनानां पति (इन्द्र मरुतों आदि की सेनाओं का स्वामी है)। अथवा सेन्यशब्दोऽत्र सेव्यवचन—'असेन्या वः पणयो वचांसि' (ऋ० १०।१०८।६) इति यथा। सेव्य सर्वस्यासि न कस्यचित् सेवक इत्यर्थः। (सबके द्वारा सेवनीय हो, किन्तु किसी के सेवक नहीं हो) वें०, सा०—सेनार्ह, सा० ने इसे इस प्रकार स्पष्ट किया है—त्वमेकोऽपि सेनामर्हसि भवसीत्यर्थ (तुम अकेले भी सेना के तुल्य हो)। स्वा० द०—सेनासु साधु सेनाभ्यो हितो वा हिन्दी में—सेनायुक्त। सम्भवतया स्वा० द० के अनुकरण पर गेल्डनर—ओल्दार्तेनकॉयण्ड, कीगरिश (योद्धृमित्र, युद्धोचित)। ग्रास०—आयुधयुक्त। छन्द की दृष्टि से इसका तथा अगले शब्द का उच्चारण 'सेनिअो असि' किया जाना चाहिये। (दे० वैं० व्या० भा० २, पृ० ८९६, अनु० ४२०)।

भूरि, पुराऽवृद्दि—स्क०, वें०—बहुधनस्य दाता, अथवा (स्क०)—बहूनोऽपि शत्रुबलस्य विनाशयिता। सा०—प्रभूत शत्रूणां धन परादाता शत्रूणा पराङ्मुख यथा भवति तथा आदाता भवति। स्वा० द०—बहु परान् शत्रून् आदाता (बहुत प्रकार से शत्रुओं के बल को नष्ट कर ग्रहण करने वाला है)। गेल्ड०—बहुत अधिक के दाता हो (द्र बिस्त माइनेंर, देर फील फेर्शेंक्त)। यास्क ने 'परा' को 'आ' का विपरीतार्थक अर्थात् दूर अर्थ वाला बताया है।[1] तदनुसार या तो सायण के समान परा में आ की कल्पना करें और या परा—दूर से देने वाला (सर्वत्र व्याप्ति के कारण)। सायण के अर्थ में भूरि की व्याख्या के लिये 'शत्रूणाम्' जोड़े बिना काम नहीं चल सकता।

क्षुल्लकस्य—स्क०—अल्पस्यापि च स्वाश्रितस्य, वें०—क्षुद्रस्य, सा०—अल्पस्यापि तव स्तोतु। स्वा० द०—ह्रस्वस्य चित् महतो युद्धस्यापि विजेतासि (चित् के आगे क अंश को अपनी ओर से जोड़ा गया है क्योंकि वृध शब्द का सामान्य अर्थ नहीं लिया गया)।

वृध—सभी भाष्यकार इसका अर्थ वर्धक, 'वृद्धि करने वाला' करते हैं। √वृध न (अ) प्रत्यय—पा० ३।१।१३५—इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः। परन्तु स्वा० द० इसे दभ्रस्य के साथ सम्बद्ध न मानकर (चित्असि के साथ मानते हुए इसे वृध (वृध+क्विप) शब्द का द्वितीया बहु० समझकर यह अर्थ करते हैं—ये

१ नि १।५—आ इत्यर्वागर्थे। प्र परेत्येतस्य प्रातिलोम्यम्॥

युद्धे वर्धन्ते तान् वृधः वीरान् शिक्षसि (बल से बढ़ने वाले वीरों को शिक्षित करता है) ।

सुन्वते—स्क०, वें०, सा०—सोमाभिषव करने वाले यजमान को धन देते हो । किन्तु गेल्ड० का अन्वय पद्य की भावना के अधिक अनुकूल प्रतीत होता है । तदनुसार चतुर्थ पाद और पञ्चम पाद पूर्णतया पृथक् हो जाते हैं— "तुम यजमान के लिये उपयोगी हो । सोमाभिषव करने वाले के लिये तुम्हारे पास बहुत सम्पत्ति है ।" किन्तु स्वा० द० ने 'शिक्षसि' को तो 'वृध' के साथ ले लिया है और अब वे अन्तिम दोनों पादों को मिलाकर यह अर्थ करते हैं— तस्मै सुन्वते यजमानाय अभयदात्रे ते तुभ्यम् उत्तम द्रव्यमस्ति (उस विजय की प्राप्ति करने हारे सुखदाता तेरे लिये बहुत धन प्राप्त हो) । अर. के अनुसार सुन्वते का अर्थ 'आनन्दरूपी मदिरा का अभिषवण करने वाले के लिये' है । सोम रस का प्रतीक है, वही आनन्द है—उसका अभिषवण अर्थात् जीवन के विविध संघर्षों में रस की, आनन्द की सृष्टि ।

शिक्षसि—यद्यपि या०, स्क०, वें०, सा०—सबने दानार्थक शिक्ष् धातु मानकर 'धन देते हो' अर्थ किया है तथापि इसे √शक् का सन्नन्त रूप भी सुविधापूर्वक माना जा सकता है—किसी के प्रति सकने या समर्थ होने की इच्छा करना ।[1] देखा जाये तो दान देने के मूल में भी किसी के लिये कुछ कर सकने की इच्छा ही है ।

यदुदीरत आजयो धृष्णवे धीयते धना ।

युक्ष्वा मदच्युता हरी कं हनः कं वसौ दधोऽस्माँ इन्द्र वसौ दधः ॥२॥

यत् । उत्ऽईरते । आजयः । धृष्णवे । धीयते । धना । युक्ष्व । मदऽच्युता ।
हरी इति । कम् । हनः । कम् । वसौ । दधः । अस्मान् । इन्द्र । वसौ । दधः ॥

जब छिड़ जाते हैं संघर्ष (कभी)
(तब) धर्षक वीर को देते हो तुम धन (उत्साह) ।
जोतो आनन्दवर्धक दो अश्व,
किसको मारोगे तुम किसको धनमध्य रखोगे ?
हमको हे इन्द्र ! धनमध्य रख देना (हे शुभचाह) ॥

'धीयते' और 'धना' शब्दों के परस्पर सान्निध्य से ऐसा प्रतीत होता है कि ऋषि यहाँ 'धन' की निरुक्ति भी देना चाहता है—धीयते अनेन, अर्थात् जिसके द्वारा मनुष्य धारण किया जाता है । धन प्रत्येक अवस्था में रुपया पैसा ही

१. पा. ७।४।५४,५८—सनि मीमाघुरभलभशकपतपदामच इस् । अत्र लोपोऽभ्यासस्य ।

नहीं होगा, यह इस निरुक्ति से स्पष्ट है। जो भी वस्तु मनुष्य को परिस्थिति-विशेष में धारण करने वाली हो, वही उस समय धन होगी। जीवन के संघर्ष में जो व्यक्ति वीरतापूर्वक आचरण करता है, उसे ईश्वर अधिक उत्साहरूपी धन प्रदान करता है। दो हरि (घोड़े, हरण करने वाले) सम्भवतया द्विगुणित इच्छाशक्ति के प्रतीक हैं। ऐसी इच्छाशक्ति वाला मनुष्य धन (वसु) के मध्य रहता है अर्थात् प्रभूत धन प्राप्त करता है। वसु शब्द से उस धन का अभि-प्राय है जो आच्छादन करता है अर्थात् निवास या सुरक्षा प्रदान करता है।

सायण ने इस मन्त्र की व्याख्या में निम्नलिखित आख्यान दिया है :—
"रहूगणपुत्रो गोतमः कुरुसृञ्जयानां राज्ञां पुरोहित आसीत्। तेषां राज्ञां परैः सह युद्धे सति स ऋषिरनेन सूक्तेनेन्द्रं स्तुत्वा स्वकीयानां जयं प्रार्थयामास ॥" (रहूगण का पुत्र गोतम ऋषि कुरु और सृञ्जय देश के राजाओं का पुरोहित था। उन राजाओं का शत्रुओं से युद्ध होने पर उस ऋषि ने इस सूक्त द्वारा इन्द्र की स्तुति करके अपने राजाओं की विजयप्रार्थना की।) किन्तु इस सूक्त में इस प्रकार के आख्यान का कोई संकेत नहीं है।

यत्—यदा (जब)।

उदीरते—अधिकांश विद्वानों के अनुसार इसका अर्थ है—'उठते हैं, उत्पन्न होते हैं (उद्गच्छन्ति, उत्पद्यन्ते)। इस क्रिया का कर्ता 'आजय' (युद्ध, संघर्ष') है। किन्तु स्क० ने इसका 'मन्यवः क्रोधन्ति' के समान लाक्षणिक अर्थ लिया है—संग्राम में स्थित योद्धा (सङ्ग्रामस्था योद्धारः)। तदनुसार 'उदीरते' का अर्थ है—स्तुतियों का उच्चारण करते हैं (तव स्तुतीः उच्चारयन्ति)। उसकी एक अन्य व्याख्या के अनुसार—'आजयः', कर्मणि लकारस्येदं रूपम्। त्वां प्रति अस्मदः स्तुतयः, यदा उदीर्यन्ते, उच्चार्यन्ते इत्यर्थः (जब तुम्हारी ओर जाने वाली स्तुतियाँ उच्चारित की जाती हैं)। इस तिङन्त पद में भी उदात्त है क्योंकि यह वाक्य यत् शब्द से आरम्भ है—दे० पा० ८।१।६६—यद्वृत्तान्नित्यम्।

धना—मा०—धनम् (निधीयते)—जयतो धनं भवतीत्यर्थः। गेल्ड०—पुरस्कार (बोयटेगेविन)। स्क० का एक भिन्न अर्थ है—धिनोतेः प्रीणनार्थस्य रूपम्। धना आहुतिरिहाभिप्रेता। प्रीणयित्री सोमाहुतिरित्यर्थः। अर्थात् जब तुम धर्षक को प्रिय सोम की आहुति अर्पित की जाती है। साधारण धन के अर्थ में स्क० और सा० दोनों ने इसे धनम् का आ आदेश माना है। (पा० ७।१।३९ सुपां सुलुक् इत्यादि से डा) वें० और स्वा० द० ने धनानि अर्थ देते हुए सम्भवतया यहाँ 'शेश्छन्दसि बहुलम्' (पा० ६।१।७०) से शिलोप माना है। अर्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

मदच्युता—स्क०, वें०—मदकर सोम प्रति गन्तारौ (अश्वौ)—च्यवतिर्गतिकर्मा। सा०—शत्रूणां मदस्य गर्वस्य च्यावयितारौ। स्वा० द०—यौ मदान् च्यवेते प्राप्नुतस्तौ (बडे बलिष्ठ)। गेल्ड०—मदोद्धत (उभ्बरम्युटिगेन)। परन्तु यहाँ √च्युत् (आसेचने) धातु लेने से अर्थ अधिक संगत बनता है—मद या आनन्द की वर्षा करने वाले। सम्भवतया इसी आधार पर मक्स० ने इसका अर्थ 'आह्लादक' (एन्ट्रैंसिंग) किया है। यह उपपदसमास है, अतः यहाँ कृदन्त पद पर उदात्त है—दे० पा० ६।२।१३९—गतिकारकोपपदात् कृत्।

युक्ष्व—यह द्व्यक्षर अकारान्त तिङन्त पद संहिता में दीर्घ है—पा० ६।३।१३५—द्व्यचोऽतस्तिङः। वाक्य के प्रारम्भ मे होने के कारण यह तिङन्त पद सर्वानुदात्त नहीं है। (दे० वै० व्या०, पृ० ८७७)। √युज् से लोट् म० पु० एक०, 'बहुलं छन्दसि' से विकरण का लोप

हरी—इन्द्र के दो घोड़े। शारीरिक रूपक की दृष्टि से ये प्राण और अपान भी हो सकते हैं।[1] अरविन्द के अनुसार ये अतिमानस सत्य चैतन्य की दो दर्शनशक्तियाँ हैं—एक सीधा सत्योद्घाटन, दूसरी सत्य-प्रेरणा।[2] पदपाठ में इसके आगे इति शब्द इसका प्रगृह्यभाव बताने के लिये जोड़ा गया है।[3]

कम् कम्—अधिकांश भारतीय भाष्यकारों ने इन शब्दों को प्रश्नसूचक न मानकर अनिश्चयात्मक बना दिया है, यथा सा०—कञ्चित् राजानं तव परिचरणमकुर्वन्नम्। परन्तु जैसा कि गेल्डनर ने किया है, इन्हें प्रश्नसूचक मानना अधिक सङ्गत प्रतीत होता है क्योंकि उस स्थिति मे अपनी ओर से कोई कल्पना नहीं करनी पड़ती।

हनः—हन्याः, जहि (मारो)। हिन्दी मे ऐसी स्थिति (प्रश्नसूचक वाक्य) में इच्छार्थक क्रिया को भविष्यत्काल द्वारा व्यक्त करना पड़ता है। यह √हन् से लेट् सिप अडागम सहित म० पु० एक० का रूप है। तिङन्त पद होते हुए भी यह उदात्त है क्योंकि इसका और अगली क्रिया का संयोजक 'च' लुप्त है। दे० पा० ८।१।६३—चादि लोपे विभाषा।

वसौ—वसु (नपुं०) से वसुनि रूप होना चाहिये। यहाँ वेद मे लिङ्गव्यत्यय होकर पुल्लिङ्ग के समान रूप बना है।

अस्मान्—यद्यपि सब भाष्यकार इसका अर्थ 'हमें' ही करते हैं, तथापि सा० ने प्रारम्भ मे दिये गये आख्यान के अनुसार 'हमारे राजाओं को' (अस्म-

1. दे. वा. श. अ., वेदविद्या, पृ. २८८।
2. अरविन्द वैदिक ग्लॉसरी, पृ. ४२० २१।
3. दे. ऋग्भा. भा. १, पृ. १६२, अनु. ८८।

दीयान् राश) अर्थ किया है। संहितापाठ में अन्त्य न् का लोप होकर उपधा का आ अनुनासिक बन गया है।[1] छन्द को ध्यान में रखते हुए इसका पाठ संधि विच्छेद करके 'अस्मान्' करना चाहिये।

क्रत्वा मुहाँ अनुष्वधं भीम आ वावृधे शर्वः।
श्रिय ऋष्व उपाकयोर्नि शिप्री हरिवान् दधे हस्तयोर्वज्रमायसम् ॥४॥

क्रत्वा। महान्। अनुऽस्वधम्। भीमः। आ। ववृधे। शवः। श्रिये। ऋष्वः। उपाकयोः। नि। शिप्री। हरिऽवान्। दधे। हस्तयोः। वज्रम्। आयसम् ॥

> क्रम से महान् स्वास्थ्य के अनुकूल
> भयानक (वह), समन्तत बढ़ा हुआ बल (उसका)।
> शोभाहित गतिमय सद्वर्तियों में
> वेगवान् वह अश्वों से युक्त धारण किये हुए है
> दोनों हाथों में वज्र लोह निर्मित (अल सबका)॥

जिस प्रकार पिता अथवा अध्यापक का भय शिशु को स्थिर रखने में, अपने मार्ग से विचलित न होने देने में सहायक होता है, उसी प्रकार मनुष्य को पथभ्रष्ट होने से बचाने के लिये परमेश्वर विभिन्न प्रकार से अपनी भयावहता का परिचय देता रहता है। मनुष्य को उसका महान् बल दिखाई देता है उसकी गति दिखाई देती है। उससे वह अपनी शोभा के प्रति आश्वस्त हो जाता है। जिस प्रकार मनुष्य अपने दोनों हाथों में अस्त्र-शस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार ईश्वर अपनी सभी अधीनस्थ शक्तियों में या पृथिवी और आकाश में शक्ति के प्रतीकभूत वज्र को धारण किये रहता है। ईश्वर का वह बल मानो सबका बल है। उपर्युक्त सभी बातें इन्द्र को मन मानने पर भी उसके अनुकूल ही सिद्ध होती हैं क्योंकि मन बहुत शक्तिशाली है।

क्रत्वा—सभी भारतीय भाष्यकार—कर्मणा सा०, स्वा० द०—प्रज्ञया भी अर०—कर्मप्रेरक इच्छाशक्ति, मक्स०, मै०—पॉवर, विज्डम, गेल्ड०—अन्तर्दृष्टि (आर्ट जस्त), ग्रास०—शारीरिक या मानसिक शक्ति निपुणता, अन्तर्दृष्टि, बोध इत्यादि (लाइवेंस्क्राफ्त, गाइतेंस्क्राफ्त ग्युशिक्लाइत, फेर्स्टांड)। यहाँ वेद मे तृतीया एक० में टा (आ) विभक्ति के स्थान पर ना नहीं हुआ (दे० वार्तिक—जसादिषु छन्दसि वावचनम्) क्रतु से तृ० एू० वचनोस्।

अनुष्वधम्—सभी प्राचीन भारतीय विद्वान् यहाँ निघण्टु के आधार पर

---

1 वै व्या का 1, पृ 104, अनु 22 (ख)। पा ८।३।९—दीर्घादटि समानपादे, पा ८।३।३—आतोऽटि नित्यम्।

स्वधा का अर्थ 'अन्न' मानकर व्याख्या करते हैं। उसी प्रकार स्वा० द० भी। किन्तु पाश्चात्य विद्वानों ने स्वधा के 'अपनी इच्छा' (ग्रास०) 'अपनी शक्ति, आनन्द' (मै०), 'अपना विधान, निर्णय' (गेल्ड०), 'अपनी प्रकृति' (मक्स०) आदि अर्थ किये हैं। ग्रि० ने इसे 'प्रकृति की आत्म-व्यवस्था' माना है। सभी आधुनिक विद्वानों ने अनुष्वधम् में अनु का अर्थ 'अनुसार' लिया है—'अपनी इच्छा, शक्ति आदि के अनुसार'। स्क०, वें०—सोमपानानन्तरम् (स्वधा=अन्न=सोम)। एक अन्य मन्त्र (ऋ० ३।४७।१) की व्याख्या में यास्क (नि० ४।८) ने 'अन्वन्नम्' अर्थ ही दिया है। और सा० ने वहाँ उपर्युक्त अर्थ ही दिया है—स्वधामनुगम्य वर्तमानम्। परन्तु प्रस्तुत प्रसङ्ग में सा० का अर्थ है—स्वधायाम्। विभक्त्यर्थे अव्ययीभाव। सोमलक्षणस्यान्नस्य पाने सतीत्यर्थः (जब सोमरूपी अन्न का पान हो रहा हो)। स्वा० द०—अन्नमनुकूलम् (अन्न के अनुकूल)। मै० ने स्वधा के मूल में स्व (अपना) और धा (रखना) मानकर इससे यूनानी 'हेथोस्' (प्रथा) की तुलना की है। इसकी निरुक्ति 'स्वस्मिन् दधाति' भी हो सकती है—जो मनुष्य को अपने आप में (शारीरिक और मानसिक दोनों दृष्टियों से) रखता है, अर्थात् स्वास्थ्य, अनुष्वधम्—स्वास्थ्य के अनुकूल।

आ, वृवृधे—इस क्रियापद का अर्थ भीम और शव की स्थिति पर निर्भर है। प्रायः सभी विद्वानों ने 'भीम' को इसका कर्ता और 'शव' (द्वि०) को इसका कर्म मानकर इस णिजन्त-रूप में स्वीकार किया है—वह भयानक बल को सब ओर से बढ़ा रहा है, या उसने बढ़ाया है (बलम् आभिमुख्येन प्रावर्धयत् वर्धयति)। किन्तु यदि 'भीम' पर पूर्व वाक्य का अन्त मान लिया जाये, और आ ववृधे शव का स्वतन्त्र वाक्य मान लिया जाये तो णिजन्त रूप की कल्पना की आवश्यकता नहीं रहती—वह महान्...भयानक (है), (उसका) बल समन्तत बढ़ा हुआ है। इस स्थिति में 'शव' (प्रथमा० एक०) कर्ता है।

ऋष्व—'ऋषिर्दर्शनात्' व्युत्पत्ति के आधार पर सभी प्राचीन भारतीय विद्वान् इसका अर्थ 'दर्शनीय' करते हैं। स्वा० द०—प्राप्तविद्य, ग्रि०—शक्तिशाली, परम। इसके विपरीत सभी पाश्चात्य विद्वान् इसका अर्थ ऊँचा, उदात्त, ऊर्ध्व' करते हैं। गेल्ड०—सुविस्तृत (रेकर्क)। किन्तु √ऋष् (गतौ) से निर्वचन मानने पर इसका अर्थ 'गतिशील' होगा। √ऋष् से तु० अ० रश्।

उपाकयोः—यास्क (नि० ८।११)—उपाके—उपक्रान्ते (उपगम्य इतरेतर क्रान्ते), स्क०—अन्तिकस्थयोर्द्यावापृथिव्यो (श्रियै)। यस्य पुनः द्यावापृथिव्यावन्तिकस्थे, इन्द्रस्य। तथाह्यसौ ते उभे अपि क्षणेनैकेन सञ्चरते। अथवा परस्परस्यान्तिकस्थे द्यावापृथिव्यौ। यावद्धि मक्षिकाया. पत्र तावद्

द्यावापृथिव्योरन्तरम् इत्युपनिषद्विदः पौराणिकाश्चाचक्षते । तेनोपपन्नमनयोः परस्पराश्लिष्टस्थानत्वम् । मॅ०, सा०—समीपवर्तिनोर्हस्तयोः, स्वा० द०—समीपस्थयोः सेनयोः (अपनी और शत्रु की सेनाओं के समीप) । गेल्ड०—परस्पर-सम्बद्ध दोनों हाथों में ।

शिप्री—यास्क (नि० ६।१७) ने शृप्र शब्द की निरुक्ति √सृप् (सर्पण करना) से बताते हुए 'सुशिप्र' की व्याख्या भी इसी (सृप्) से की है (सुशिप्रमेतेन व्याख्यातम्), फिर 'शिप्रे' का अर्थ ठोडी या नासिका (हनू नासिके वा) बताया है । स्क०, मॅ०, मा० ने इसे स्वीकार किया है, तदनुसार—हनुमान या नासायुक्त । किन्तु स्क० ने एक मन्त्रांश 'शिप्राः शीर्षसु वितताः' (ऋ० ५।५४।११) उद्धृत करके 'शिप्राः' का अर्थ शिरस्त्राण माना है, शिप्री—शिरस्त्राणयुक्त । स्वा० द०—शत्रूणामाक्रोशक (शत्रुओं को दबाने वाला) । पाश्चात्य विद्वान्—जबड़े या ओठों से युक्त । परन्तु √सृप् से निर्वचन करने पर इसका अर्थ 'सर्पणशील' या 'गतिवान्' हो सकता है ।

आयसम्—सा०-अयोमयम् (अयोनिर्मित या लोहनिर्मित), मॅक०, मॅ०—लोहनिर्मित, ग्रास०—पीतल का बना या लोहे का बना, गेल्ड०—पीतल का बना । अयस् से तु० अ० आइर्जेन् । लोह दृढ़ता का प्रतीक है । लोहनिर्मित वज्र—सुदृढ वज्र ।

आ प॒प्रौ पार्थि॑वं॒ रजो॑ बद्ब॒धे रो॑च॒ना दि॒वि ।
न त्वावाँ॑ इन्द्र॒ कश्च॒न न जा॒तो न ज॑निष्यते॒ऽति॒ विश्वं॑ ववक्षिथ ॥५॥

आ । प॒प्रौ । पार्थि॑वम् । रजः॑ । ब॒द्ब॒धे । रो॒च॒ना । दि॒वि । न । त्वाऽवा॑न् । इ॒न्द्र॒ ।
कः । च॒न । न । जा॒तः । न । ज॒नि॒ष्य॒ते॒ । अति॑ । विश्व॑म् । व॒व॒क्षि॒थ॒ ॥

सब ओर भरा है पार्थिव थल को,
बांध दिया है उसने द्युतिशील (ग्रहों) को नभ में ।
नहीं तव सदृश इन्द्र ! है कोई,
न (तो) हुआ उत्पन्न (आज तक और) न होगा (कोई),
अत्यन्त विश्व से बढ़े हुए हो (तुम वैभव में) ॥

ईश्वर तथा मन सर्वव्यापी है । आकाश में जो बड़े बड़े ग्रह नक्षत्र विद्यमान हैं, वे सब उसके नियन्त्रण में या उसकी पहुँच में हैं (तमेव भान्तमनु भाति सर्वं, तस्य भासा सर्वमिदं विभाति, तथा दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु) । ऐसी सत्ता से बढ़ कर और क्या हो सकता है । वही सर्वोपरि है । पृथ्वी, अन्तरिक्ष, आकाश, ग्रह-नक्षत्र, सब उसके वशीभूत हैं ।

आ, पुप्रौ—स्क०—वृष्टिद्वारेण आपूरयति, सा०—तेजसा आपूरयति, स्वा० द०—प्रपूर्ति (पूरित कर रहा है), वें०—कामैः आपूरयामास (पूरित कर दिया है)—इसी प्रकार गेल्ड०। √प्रा० लिट्, प्र० पु० एक०।

रजः—स्क०, वें०—(पार्थिव) लोकम्, इसी प्रकार गेल्ड०—पृथ्वी के स्थान को, सा० ने पार्थिवम् को रजः का विशेषण न मानकर दोनों को पृथक् संज्ञाएँ माना है—पृथिव्याः सम्बन्धि वस्तुजातम्, अन्तरिक्षलोक च (रजन्त्यस्मिन् गन्धर्वादय इति रजः अन्तरिक्षम्)। स्वा० द० ने पार्थिव को विशेषण तो माना है, किन्तु उसमें अन्तरिक्ष को सम्मिलित कर लिया है—पृथिवीमयं पृथिव्यामन्तरिक्षे विदितं वा रजः परमाण्वादिकं वस्तु लोकसमूहं वा (पृथिवी और प्रकाश में वर्तमान परमाणु और लोक में)। रजः का सीधा अर्थ 'लोक, स्थल' है (लोका रजांस्युच्यन्ते, नि० ४।१९)। यही निरुक्त में रजः की निरुक्ति 'रजो रजतेः' (रञ्ज्—'रंगना' से) देकर अन्य अर्थ भी दिये हैं—ज्योती रज उच्यते, उदकं रज उच्यते, असृगहनी रजसी उच्येते। मा०र की निरुक्ति भिन्न है—रजो रजतेर्गतिकर्मणः—गम्यन्ते हि पुण्यकृद्भिर्लोकाः। अर०—लोक, चेतना का अवस्थान।

बबधे—स्क०—बध्नाति, वें०—बबन्ध, सा०—बबन्ध, स्थापितवान् (बाँधा अर्थात् स्थापित किया—टिकाया)। स्वा० द०—बीभत्सते (एक दूसरे वस्तु के घर्षण से बद्ध करता है)। गेल्ड०—बाँधा है। वाक्य के प्रारम्भ में होने के कारण सर्वानुदात्त नहीं है। √बध् लिट् प्र० पु० एक०, अभ्यास में केवल 'ब' (प्रारम्भिक हल्) रहना चाहिये था, किन्तु वैदिक व्यत्यय से ऐसा नहीं हुआ। इसके अतिरिक्त, आत्मनेपद में अभ्यास लोप होकर ब को एत्व होकर बे बनना चाहिए था, वह भी नहीं हुआ।

रोचना—रोचमानानि दीप्तानि नक्षत्रादीनि, स्क० ने नक्षत्रों को बाँधने की बात की पुष्टि इस प्रकार की है—नक्षत्रादीनां हि दिवि व्यवस्थितानां धर्मो मूलम्। स च वृष्टिमूलम्। अत इदमुच्यते। उसकी एक अन्य व्याख्या—अथवा आदित्योऽत्र रोचनोऽभिप्रेतः। द्वितीयैकवचनस्यायमाकारादेशः। महत्तमस्तत्वन्न वृत्रं हत्वा दर्शनार्थं दिवि सूर्यमारोपितवान् इत्यर्थः। रोचनम् के स्थान पर रोचना व्यत्यय मानने के कारण यह व्याख्या दूराकृष्ट हो गई है। अन्यथा 'शेश्छन्दसि बहुलम्' से सीधा ही नपुं० द्वि० बहु० का 'रोचना' रूप प्राप्त होता है।

त्वावान्—त्वत्सदृशः, युष्मद् + वतुप् (सा०-वतुप्प्रकरणे युष्मदस्मद्भ्यां छन्दसि सादृश्य उपसंख्यानम्), त्वद् का त्वा (प्र सर्वनाम्नः, पा० ६।३।९११)।

अति, ववक्षिथ—स्क०—अतीत्य सर्वान् महान् भवसि (ववक्षिथ, विवक्षसे—निघ ३।३—महन्नामसु पाठात्)। वें०—सर्वमतिवहसि, सा०—जगत् अतिशयेन वोढुमिच्छसि, सर्वस्य जगतो निर्वाहको भवसीत्यर्थ, स्वा० द०—वक्षसि (यथायोग्य नियम में प्राप्त करता है, हे ईश्वर ऐसा तू स्तुत्य है, और कोई नहीं)। √वह् प्रापणे+सन् से व के अ को इ होना चाहिये था (सन्यत)। किन्तु सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते' से वह नहीं हुआ। सन्नन्त से (सन्यत), लिट् में आम् प्रत्यय होना चाहिये था, किन्तु वेद में 'कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि' (पा० ३।१।३५) से निषेध के कारण आम् नहीं हुआ।

यो अर्यो मर्तभोजनं पराददाति दाशुषे।

इन्द्रो अस्मभ्यं शिक्षतु वि भजा भूरि ते वसु भक्षीय तव राधसः ॥६॥

य। अर्यः। मर्तऽभोजनम्। पराऽददाति। दाशुषे। इन्द्रः। अस्मभ्यम्।
शिक्षतु। वि। भज। भूरि। ते। वसु। भक्षीय। तव। राधसः॥

जो स्वामी मर्त्य का (पालक) भोजन
प्रदान करता है दानी को (जो बाँट कर खाता);
(वह) इन्द्र हमें दे शक्ति (दान की)
बाँट दो (सबमें), विपुल तुम्हारा धन (जीवन योग्य),
भोग करूँ तुम्हारे धनांश का (जिससे हूँ सब पाता)॥

ईश्वर ने सभी पदार्थ बाँट कर भोग करने के लिये बनाये हैं। इसी प्रकार मन शुद्ध स्वरूप में स्वार्थरहित होता है। दानी को अधिक धन या भोज्य पदार्थ मिलने का अभिप्राय यह है कि उसे अपनी प्रवृत्ति के कारण थोड़ा धन भी अधिक लगता है। इसीलिये दान की शक्ति की अभिलाषा की गई है। दान की शक्ति दोनों प्रकार से—एक तो देय-पदार्थ का बाहुल्य, और दूसरे (उससे भी आवश्यक) देने की इच्छा। अन्त में दान की भावना से प्रेरित भक्त ईश्वर से अपना समस्त धन बाँट देने की प्रार्थना करता है, जिससे वह दान करता हुआ अपने अंश का भोग कर सके।[1]

अर्यः—स्क०—ईश्वर, वें०—उदार, सा०—स्वामी, स्वा० द०—सर्वस्वामीश्वर, अर०—उच्च पुरुष, स्वामी, योद्धा, ग्रास, पीटर्सन०—उदार, शुद्ध, पवित्र। इसके विपरीत अनेक पाश्चात्य तथा आधुनिक भारतीय विद्वानों ने इसे 'अरि' शब्द का षष्ठी एकवचन का रूप मानकर अर्थ किया है 'ऊँचे, धनाढ्य मनुष्य का' (दे० मेल्ड०—देस् होहेन हेन)।[2] मक्स० ने ऋ० ४।-

---

1 दे० ईशोपनिषद—१—तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम्॥
2 वै० व्या०, भा. १, पृ. १९७।

२।१२, १८ में 'अर्य.' को अनुवाद में 'अर्य' रखते हुए भी उसे अर्य का षष्ठी एक० का रूप माना है। यह सर्वथा असम्भव प्रतीत होता है। यास्क (नि० ५।६) ने ऋ० ७।१००।५ की व्याख्या करते हुए 'अर्यं' को 'स्तुतियों का स्वामी स्तोता' या 'मेरे अनुग्रह के लिये समर्थ ईश्वर' माना है (अर्योऽहमस्मीश्वरः स्तोमानामर्यस्त्वमसीति वा)। पाणिनि ने 'अर्यः स्वामिवैश्ययो.' (पा० ३।१।१०३) सूत्र में इसका अर्थ 'स्वामी' या 'वैश्य' बताते हुए इसकी व्युत्पत्ति √ऋ+यत् से मानी है और इस प्रकार √ऋ+ण्यत् से निष्पन्न 'आर्य' शब्द से इसका भेद स्पष्ट किया है। 'यतोऽनाव' (पा० ६।१।२१३) सूत्र के अनुसार सामान्यतया यत्—प्रत्ययान्त शब्द आद्युदात्त होते हैं, किन्तु यहाँ यह शब्द उसका अपवाद है। (दे० वार्तिक—यतोऽनाव इत्याद्युदात्तत्वे प्राप्ते स्वामिन्यन्तोदात्तत्व च वक्तव्यम्)।

पुरुदर्वाति—अर्यं के लिये दे० म० २—यत् शब्द का रूप (यः) वाक्य में होने के कारण तिङन्तपद सर्वानुदात्त नहीं है। स्वा० द० ने इसका सम्बन्ध 'दाशुषे' और 'अस्मभ्यम्' दोनों से माना है—जो ईश्वर तुझ दानी और हमारे लिये...देता है।

दाशुषे—यजमानाय (सभी भाष्यकार), स्वा० द०—दानशीलाय जीवाय (दाता को)। √दाश् (दान करना)+क्वसु प्रत्यय। यह प्रत्यय लिट् के अङ्ग से परे प्रयुक्त होता है, तदनुसार अभ्यास (द्वित्व) होना चाहिये। परन्तु यह द्वित्व का अपवाद है। (दे० पा० ६।१।१२—दाश्वान् साह्वान् मीढ्वाश्च)।

शिक्षतु—अर्य के लिये दे० म० २—स्वा० द० ने विद्वान् को सम्बोधित मानकर यह व्याख्या की है—हे विद्वन्...ईश्वरोत्पन्न भवानस्मभ्य सदा शिक्षतु (हे विद्वन् जो ईश्वर ...... उस ईश्वरनिर्मित पदार्थों की आप हमको सदा शिक्षा करो)। गेल्ड०—हमारे लिये उपयोगी हो जाये (सॉल् उन्स स्तु न्युत्सॅन् कूमॅन)।

भक्षीय—स्क०, वें०, सा०—भजेय, प्राप्नुयाम् (प्राप्त करूँ), स्वा० द०—सेवेय (सेवन करूँ)। √भज् सेवायाम् विधिलिङ् (अथ भज् से) उत्तम० पु० एक० 'छन्दस्युभयथा' (पा० ३।४।११७) के अनुसार विकल्प से आर्धधातुक संज्ञा होने पर शप भी नहीं होगा और विधिलिङ् के 'स' का लोप भी नहीं होगा। वाक्य के आरम्भ में होने के कारण सर्वानुदात्ताभाव। तु० अवे० बख्श, यू० फगो।

रायस.—स्क०, सा०—धनस्यैकदेशम्, स्क०—षष्ठीनिर्देशादेकदेशमिति शेष, विभजमानो महान्तमपि भाग देहीत्यर्थ। स्वा० द०—तव वृद्धिकारकस्य शिक्षितस्य कार्यरूपस्य धनस्य (शिक्षित कार्यरूप धन का, जो यह परमात्मा

वेद द्वारा मनुष्यों को शिक्षा न करता तो किसी को विद्या का लेश भी प्राप्त न होता, इससे विद्वान् को योग्य है कि सब के सुख के लिये विद्या का विस्तार करना चाहिये)। यास्क ने (नि० ४।४) 'राधस्' का अर्थ धन देते हुए उसका निर्वचन किया है—राध्नुवन्त्यनेन। √राध् प्राप्त करना+असुन्।

मदे॑मदे॒ हि नो॑ द॒दिर्यू॒था गवा॑मृजु॒क्रतुः॑।
सं गृ॑भाय पु॒रू श॒तोभ॑याह॒स्त्या वसु॑ शिशी॒हि रा॒य आ भ॑र ॥७॥

मदे॑ऽमदे। हि। नः॒। द॒दिः। यू॒था। गवा॑म्। ऋ॒जु॒ऽक्रतुः॑।
सम्। गृ॒भा॒य॒। पु॒रु। श॒ता। उ॒भ॒या॒ह॒स्त्या। वसु॑। शि॒शी॒हि। रा॒यः। आ। भ॒र॒॥

प्रति आनन्द में हमको देने वाले
झुण्ड गौओं के (स्नेह के) तुम सीधे कर्मों वाले।
सम्यक् ग्रहण करो अनेक शतों को
दोनों ही हाथों से वासयोग्य धनों को (ईश !),
कर दो पैना, धन समन्ततः ला दो (धनों वाले !) ॥

ईश्वर का 'ऋजुक्रतु' (सीधे कर्मों वाला) विशेषण सापेक्ष है। अभिप्राय यह है कि सीधे और शुद्ध कर्मों के द्वारा मनुष्य वास्तविक आनन्द प्राप्त करता है। वह कर्म का आनन्द ही उत्कृष्ट आनन्द है। उसमें मनुष्य अतुल समृद्धि का अनुभव करता है मानो उसे गौओं के झुण्ड प्राप्त हो रहे हों। गौएँ समृद्धि के साथ साथ स्नेह का प्रतीक भी हैं। कर्म का आनन्द सर्वत्र स्नेह की सरिता प्रवाहित करता है। कर्म के फल में प्राप्त हुआ धन ही उत्तम धन है। इसीलिये ईश्वर से उस सभी धन का सम्यक् विभाजन कर पैना करने की प्रार्थना की गई है। पैना धन वही है जो संघर्ष से प्राप्त हुआ हो और जो प्राप्त करने वाले के जीवन में गहरा प्रवेश करके उसे वास्तविक सुख प्रदान करे। जो धन आलस्य को काट सके, वही पैना धन है। जो धन निर्दोष, निष्कलङ्क हो, वही पैना धन है। जिस प्रकार घिसने से लोहा पैना होता है, उसी प्रकार दान से धन पैना होता है। इसीलिये जहाँ धन की कामना की गई है, वहाँ 'राय' (√रा-दान करना-से निष्पन्न) शब्द का प्रयोग है।

मदे॑मदे—स्क०, वें०, गेल्ड०—सोम के प्रत्येक नशे में, उन्मत्तता प्राप्त करके, सा०—सोमपानेन हर्षे हर्षे सति, स्वा० द०—हर्षे हर्षे (आनन्द आनन्द में)। यह द्विरुक्त समास है। यद्यपि पाणिनि ने इसे स्पष्ट समास नहीं माना तथापि स्वरविवेचन के अवसर पर इसका स्वर समास स्वर के समान बताया है। इसके अतिरिक्त पदपाठ में इसके दोनों पदों को अवग्रह के द्वारा पृथक् किया गया है (वै० व्या० भा० १, पृ० ४१०-२१)।

दुदिः—दाता, √दा (दाने)+कि प्रत्यय (आदृगमहनजन- किकिनौ लिट् च, पा० ३।२।१७१), लिट्वत् होने के कारण धातु को द्वित्व।

ऋजुक्रतुः—सभी भारतीय भाष्यकार—ऋजुकर्मा (सीधे कर्मों वाला), स्क० और स्वा०द० ऋजुप्रज्ञ (सीधी बुद्धि वाला) भी। ग्रास०, गेल्ड०—ठीक बुद्धि वाला (रेश्तगेजिन्त)। इस पद में बहुव्रीहि समास है, और तदनुसार सामान्यरूप से पूर्वपद में उदात्तत्व होना चाहिए (बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्—पा० ६।२।१)। किन्तु व्यत्ययवश यहाँ उत्तरपद आद्युदात्त है। (दे० पा० ६।२।१९९ पर वार्तिक—परादिश्च परान्तश्च पूर्वान्तश्चापि दृश्यते। पूर्वादयश्च दृश्यन्ते व्यत्ययो बहुलं ततः॥)

सं गृभाय—सम्यक् गृहाण, सगृहाण (अच्छी प्रकार ग्रहण करो, संग्रह करो)। ग्रास०, गेल्ड०—संग्रह करो (राफ़ें)। √ग्रह् (पाश्चात्य विद्वान्—√ग्रभ्)[1] से लोट् म० पु० एक० में श्ना विकरण के स्थान पर वेद में शायच् (आय) भी (पा० ३।१।८४—छन्दसि शायजपि)।

उभयाहस्त्या—उभाभ्यां हस्ताभ्याम्—दोनों हाथों से। स्वा० द०—समन्तादुभयत्र हस्तौ येषु कर्मसु तानि तेषु साधूनि (वसु—वसूनि का विशेषण)। 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० ६।३।१३७) के अनुसार पूर्वपद 'उभय' के अन्त में दीर्घत्व, 'सुपां सुलुक्' इत्यादि सूत्र के द्वारा उत्तर पद के अन्त में 'ड्या' आदेश। समस्तपद होने पर भी पदपाठ में अवग्रह द्वारा इसके पृथक्करण का अभाव ध्यान देने योग्य है। (दे० ऋ० प्रा० ४।५०—यस्य चोत्तरपदे दीर्घो व्यञ्जनादौ)[2]। छन्द को ध्यान में रखते हुए इसका और पूर्व शब्द 'शता' का पाठ सन्धिविच्छेद करके और इसका 'उभयाहस्तिआ' किया जाना चाहिये।

वसु—स्क०—वसूनां धनानां (शतानि), षष्ठ्यर्थे प्रथमैषा। शेष सभी भाष्यकार—वसूनि, धनानि (सुपां सुलुक् इत्यादि से विभक्तिलोप)।

शिशीहि—स्क०—श्यति. संस्कारार्थं संस्कुरु, दानयोग्यानि (धनानि शतानि) कुर्वित्यर्थं। वें०—धनं चास्मान् तीक्ष्णीकुरु, सा०—अस्मान् तीक्ष्णीकुरु, निशितबुद्धियुक्तान् कुर्वित्यर्थं, स्वा० द०—शिनु (अत्र बहुलं छन्दसीति श्लुरन्येषामपीति दीर्घश्च—द्रव्यों का प्रबन्ध कीजिये)। गेल्ड०—हमें उत्तेजित कीजिये (स्पोर्नं ऊन्स् आन)। नि० ५।२३ में यास्क ने √शि को दानार्थक माना है (शिशीतिर्दानकर्मा)। यद्यपि धातुपाठ में 'शिञ् निशाने' है

---

1 पा. पर वार्तिक—हृग्रहोर्भश्छन्दसि।

२. पूर्वपद का अन्त दीर्घ होने पर अवग्रह द्वारा पृथक्करण नहीं होता, दे वै व्या ४. १, पृ. १९७।

तथापि यास्क का अनुसरण करते हुए मुकुन्द बख्शी झा ने टिप्पणी की है—निशानमिह दान न तु तीक्ष्णीकरणम् । उस प्रसङ्ग में सा० ने मूल अर्थ तीक्ष्णी कुरु देकर उसे उपलक्षण मानकर व्याख्या की है—प्रदानेनास्मान् प्रसिद्धान् कुरित्यर्थ । पाणिनीय व्याकरण के अनुसार यहाँ या तो √शो (तनूकरणे) हो सकता है या √शिञ (निशाने) । सा० ने √शो से व्युत्पत्ति की है । तद नुसार बहुल छन्दसि से विकरण का लुक् फिर अभ्यास आदि होकर लोट म० पु० एक० का रूप बनता है । पाश्चात्य विद्वान् इसमे √शा (पैना करना) जुहोत्यादि० मानते हैं । धातु के इस मूल अर्थ से विकसित होकर उद्यमी होना पैना होना त्वरा करना आदि अर्थ होते हैं ।[1]

आ, भृर्—धनानि आहर देहि प्रयच्छ अस्मभ्यम् । स्वा०द० विद्यासुवर्णादिधनसमूहान् समन्तात् धेहि । इनके अनुसार इस मन्त्र का कर्ता विद्वान् है । उसको सम्बोधित करके कहा गया है कि तू इन्द्रियो और पशुओं के समूहों को चारो ओर से धारण कर । √हृ (पाश्चात्य विद्वान्—√भृ) लोट म० पु० एक० ।

मादयस्व सुते सचा शवसे शूर राधसे ।
विद्मा हि त्वा पुरूवसुमुप कामान्त्ससृज्महेऽथा नोऽविता भव ॥८॥

मादयस्व । सुते । सचा । शवसे । शूर । राधसे । विद्म । हि । त्वा ।
पुरुऽवसुम् । उप । कामान् । ससृज्महे । अथ । नः । अविता । भव ॥

प्रमुदित करो रससृष्टि मे साथ ही
बलके लिये हे वीर ! (हमे) धन (—प्राप्ति) के लिये ।
जानते ही हम तुम्हें विपुलधन
निकट (तुम्हारे) इच्छाओं को प्रकट कर रहे
अब हमारे रक्षक हो जाओ (एश्वय के लिये) ॥

ईश्वर और मन से प्रार्थना है कि व ऐसी शक्ति प्रदान करें जिससे रससृष्टि अर्थात् स्थायी आनन्द की प्राप्ति के लिये चेष्टा करते हुए हम प्रसन्न रहे । किन्तु स्थायी आनन्द के प्रयत्न का यह अर्थ नहीं कि हम शारीरिक बल को और भौतिक समृद्धि को पूर्णतया त्याग दें । कारण यह कि यह धर्मसाधन के या मोक्ष के लिय अत्यन्त आवश्यक है (शरीरमाद्य खलु धर्मसाधनम्) । ईश्वर से यह प्रार्थना इसलिये की गई है क्योंकि वह पुरुवसु' विपुल धन वाला

1 व व्या (पृ २१६) म डॉ राम गोपाल ने एक स्थल पर इसके मूल में √शो दी है।

है। यहाँ धन के लिये 'राधस्' (√राध् संसिद्धौ) और 'वसु' (√वस् आच्छादने) शब्दों का प्रयोग विशेष ध्यान देने योग्य है। हमें राधस् चाहिये क्योंकि वह विभिन्न पदार्थों को प्राप्त कराने वाला है (राध्नोति अनेन), और ईश्वर के पास बहुत अधिक वसु है अर्थात् बहुत विशाल धारण है। ऐसी विशाल धारण वाले के सम्मुख ही इच्छाएं प्रकट करनी चाहियें क्योंकि उसी में सब कुछ देने और सबकी रक्षा करने का सामर्थ्य है—किसी दूसरे में नहीं।

मादयस्व—स्क०, सा०—तृप्यस्व, तृप्तो भव (सोमेन), गेल्ड०—अपने आपको उन्मत्त करो (बेरामोर्श दिश), वें०—अस्मान् मादयस्व, स्वा० द०—अस्मान् आनन्द प्रापय (हे सेनापति, शूर, हमें आनन्द कराया कर)। वाक्य के प्रारम्भ में होने के कारण तिङन्त पद में उदात्तत्व।

सुते—सोमेऽभिषुते (सोम का अभिषवण होने पर), स्वा० द०—उत्पन्नेऽस्मिन् जगति (इस उत्पन्न जगत् में)। सोम का अभिषवण रससृष्टि का प्रतीक है। जैसे पत्थर पर रगड़ कर सोम का रस निकलता है, उसी प्रकार संघर्ष से जीवन में रस या आनन्द की सृष्टि होती है।

सर्वा—साथ, सह, स्क०-सर्वज्ञ स्त्विरिभरभिषुतेऽस्मिन् सोमे। अथवा सखेत्येतत् मादयस्वेत्येतेन सम्बध्यते, सह तृप्यस्व, केन, सामर्थ्यात् स्वसखेर्मरुद्भिः। वें०—सहायभूत, सा०—अस्माकं सखा सन्। स्वा० द०—सुखसमवेतेन युक्ताय (बलाय)। ग्रास०, गेल्ड०—सोमाभिषवण के साथ साथ (बाइ देम आउसगॅप्रेस्तॅन सोम)।

पुरुवसुः—बहुत धन वाले को, स्वा० द०—बहुषु धनेषु वासयितारम् (बहुत धनों में बसाने वाले), पुरु शब्द का अन्तिम स्वर संहितापाठ में दीर्घ है। बहुव्रीहि समास होने पर भी उत्तरपद के आदि में उदात्त के लिये दे० म० ७ में 'पुरुवसुः' तथा वै० व्या० भाग २, पृ० ८६५।

उप, सृजामहे—स्क०, वें —उपसृजाम', त्वयि निक्षिपाम'। सा०—अस्मदीयान् कामान् माता गवा वत्सानिव त्वया सार्धमेकीकुर्मः। स्वा० द०—उप सामीप्ये निष्पादयेम (आपका आश्रय करके हम अपनी कामनाओं को सिद्ध करें।) गेल्ड०—हमने अपनी कामनाओं को आप पर डाल दिया है (वीयर हाबॅन दीयर उन्सॅरॅ व्युन्शॅ आउसगेश्युत्तॅत)। सा०—√सृज् विसर्गे लट उ० पु० बहु० 'बहुलं छन्दसि' इति विकरणस्य लुक्, पाश्चात्य विद्वान्—सृज् लिट उ० पु० बहु०। प्रत्यय का आदिस्वर उदात्त। 'हि च' (पा० ८।१।३४) के अनुसार 'हि' शब्द के साथ प्रयोग होने पर तिङन्त पद भी सर्वानुदात्त नहीं है।[1]

---

[1] छन्द की दृष्टि से अन्तिम पाद का उच्चारण ऐसे करना चाहिये—सखा नो अधिपा भव॥

एते तं इन्द्र जन्तवो विश्वं पुष्यन्ति वार्यम् ।
अन्तर्हि ख्यो जनानामर्यो वेदो अदाशुषां तेषां नो वेद आ भर ॥९॥

एते । ते । इन्द्र । जन्तवः । विश्वम् । पुष्यन्ति । वार्यम् । अन्तः । हि ।
ख्यः । जनानाम् । अर्यः । वेदः । अदाशुषाम् । तेषाम् । नः । वेदः । आ । भर ॥

ये तुम्हारे हे इन्द्र ! प्राणी (सब)
सभी को पुष्ट करते हैं वरणीय वस्तुओं को ।
भीतर किन्तु देखते तुम जनों के,
स्वामी धन को दानरहितों के (सङ्ग्रहभूत जो),
उनका हमको धन ला दो (सम करो जन्तुओं को) ॥९॥

प्रकृति का नियम है कि सभी प्राणी अपने अभीष्ट पदार्थों का संग्रह करते हैं, उनको सुरक्षित रखते हैं। मनुष्य उन पदार्थों का संवर्धन पोषण भी करता है। इस शाश्वत नियम के साथ जुड़े हुए एक दोष की ओर संकेत किया गया है। वह दोष यह है कि संग्रह करते हुए प्राणी अन्य प्राणियों की आवश्यकताओं को भूल जाते हैं। उससे संसार का सन्तुलन बिगड़ सकता है परन्तु ईश्वर सर्वव्यापी और सर्वान्तर्यामी होने के कारण सब को देखता रहता है और अनुचित संग्रह करने वाले को अन्य प्राणियों की आवश्यकताओं के प्रति सचेत करता रहता है। इसीलिये उससे संसार में समविभाजन द्वारा सन्तुलन बनाये रखने की प्रार्थना की गई है।[1]

जन्तवः—स्क०, वें०—तव स्वभूता मनुष्याः, सा०—तव स्वभूता यजमानलक्षणा जनाः, स्वा० द०—जीवाः, ग्रास०—अपने आदमी, सेवक (आनगेहोरिगे दीनर), गेल्ड०—लोग (लोय्तें)—इसने इस शब्द का सम्बन्ध 'ते' (तुम्हारे) से नहीं माना है। तदनुसार 'ते' (चतुर्थी) का अर्थ 'तुम्हारे लिये' है (प. पूर दिश)। अन्यत्र (ऋ० ७।२१।५ में) सायण ने भी जन्तु का अर्थ प्राणी किया है।

वार्यम्—स्क० वारि इत्युदकनाम, तत्र भवम्, यावत् किञ्चिदुदकभवं तत्सर्वं त्वत्प्रभवया वृष्ट्या पुष्णन्तीत्यर्थः, वें०—धनम्, सा०—सर्वैर्भजनीयं हविः, स्वा० द०—स्वीकर्तुमर्हं विश्वं जगत् पुष्यन्ति आनन्दयन्ति (स्वीकार के योग्य जगत् को पुष्ट करते हैं)। ग्रास०—बहुमूल्य खजाना गेल्ड०—अभीष्ट सम्पत्ति (वेंगेरेंज्वतन, वेंजित्म)। यास्क (नि० ५।१)ने इस शब्द का निर्वचन

१. यह मन्त्र वैदिक साम्यवाद की भावना का सुन्दर उदाहरण है।

यह दिया है—वार्यं वृणोतेरथापि वरतमम्—वरणीय पदार्थ, सबसे श्रेष्ठ। छन्द को ध्यान म रखते हुए इस पद का उच्चारण 'वारिअम्' किया जाना चाहिये।

अन्त, ख्य—स्क०—अत्यन्तभक्त मन अन्तस्य पश्यसि, भक्तता जानासीत्यर्थं, वें०—अन्तःपूर्व रयानिस्तिरोधानार्थं, सा०—मध्ये विद्यमान (धन) पश्यसि, स्वा० द०—मध्ये (जनानाम्) प्रकथयसि (मनुष्य आदि प्राणियों के मध्य उपदेश करता है)। गेल्ड०—तुम अन्तर्दृष्टि रखते हो। वाक्य में 'हि' होने के कारण तिङन्त पद ख्य उदात्त है। √ख्या प्रकथने (अप ददानार्थोऽपि), वर्तमान छान्दसो लुङ्—म० पु० एक०, 'बहुल छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' के अनुसार अट का अभाव।

जनानाम्—अदाशुषां जनानाम् (दानादि भावना से हीन जनो के), छन्द के अनुसार इसका उच्चारण 'जनानअम्' होना चाहिये (दि० प्रास०)।

वेदः—धनम् √विद् लाभे+असुन् (उणादि०—४।१८८ २२०), गेल्ड० अपनी वस्तुएं—सम्पत्ति। स्वा० द० विदन्ति सुखानि येन तद्धनम्।

नु, आ, भर—उन दानहीन जनो का धन हमें ला दो। सा०—अयजमानेषु विद्यमान धन यागानुपयुक्तत्वात् व्यर्थमेव भवेत्। अतस्तस्य धनस्य सार्थकत्वाय तदीय धनमपहृत्य यजमानेभ्य प्रयच्छति तात्पर्यार्थं।

उषाः

उष सम्बन्धी सूक्त ऋग्वेद के उत्कृष्ट काव्य का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस देवी की स्तुति लगभग २० सूक्तों में हुई है। द्युस्थानीय यह देवी अपने पूर्ण प्राकृतिक रूप में वर्णित हुई है। इसमें जगद्धर्त्री मातृशक्ति का अस्पष्ट रूप दिखाई देता है। इसीलिए यह उदार (मघोनी) अपने उपासकों को विपुल सम्पत्ति प्रदान करती है—सह द्युम्नेन बृहता विभावरि राया देवि दास्वती (ऋ० १।४८।१)। उदार व्यक्तियों को यह वीर-सन्तति से युक्त यश देती है—युधा वीरवद् यश उषो मघोनि सूरिषु (ऋ० ५।७९।६)। सभी जीवों को वह गति के निमित्त जगाती है—विश्वं जीवं चरसे बोधयन्ती (ऋ० १।९२।९)। किन्तु इसका आह्वान नास्तिक और आलसी व्यक्तियों को सोता हुआ छोड़कर केवल भक्तों और उदार व्यक्तियों को जगाने के लिये किया गया है—प्र बोधयोष पृणतो मघोन्यबुध्यमाना पणयः ससन्तु (ऋ० १।१२४।१०)। जिस प्रकार माता शिशु के लिये प्राणमय होती है उसी प्रकार उषा को भी सब का प्राण और जीवन बताया गया है—विश्वस्य हि प्राणनं जीवनं त्वे (ऋ० १।४८।१०)। यह प्राणियों को नित्य नवीन आशा का सन्देश देती है—चक्रमिव नव्यस्या ववृत्स्व (ऋ० ३।६१।३)। चक्र के द्वारा उषा की यह उपमा बरबस ही कालिदास की 'नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण' सूक्ति का स्मरण करा देती है।

प्राणिमात्र के लिये प्रत्येक नये दिन की सूचना देने वाली उषा पुरातन होती हुई भी नित्य-नूतन है—युवति है। प्रतिदिन वह निश्चित समय पर और निश्चित स्थान पर प्रकट होकर प्रकृति के नियमों का उल्लङ्घन नहीं करती—ऋतस्य योषा न मिनाति धामाहरहर्निष्कृतमाचरन्ती (ऋ०१।१२३।९)। प्रकाश के आवरण में पूर्व में प्रकट होती हुई उषा की तुलना दिव्य वस्त्रों में आवृत नर्तकी से की गई है—अधि पेशांसि वपते नृतूरिव (ऋ० १।९२।४)। अन्यत्र (ऋ० १।१२४।३ में) कहा गया है कि प्रकाश का परिधान पहने हुए यह कन्या पूर्व दिशा में प्रकट होकर अपने मोहिनी रूप को अनावृत करती है—एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि ज्योतिर्वसाना समना पुरस्तात्। सम्भवतया इसके इस कन्या रूप के आधार पर ही स्वामी दयानन्द ने इसे प्रभातवेला मानते हुए

भी इसके वर्णनों को औपमिक रूप में कन्या के या अभिजात स्त्री के वर्णन माना है।[1] बहुत काव्यात्मक ढंग से यह बताया गया है कि किस प्रकार उषाः के उदय होने के साथ साथ आयु क्षीण होती जाती है—पुनः पुनर्जायमाना पुराणी...मर्तस्य देवी जरयन्त्यायुः (ऋ० १।९२।१०)। जैसे कोई युवती स्नान करके प्रकट होती हुई और अधिक सुन्दर रूप धारण कर लेती है, उसी प्रकार यह शुभ्रा उषाः अन्धकार को दूर करती हुई प्रकाश के साथ हमारी दृष्टि के सम्मुख प्रकट होती है—

एषा शुभ्रा न तन्वो विदानोर्ध्वेव स्नाती दृशये नो अस्थात् ।
अप द्वेषो बाधमाना तमांस्युषा दिवो दुहिता ज्योतिषागात् ॥
(ऋ० ५।८०।५)

यह नवजीवन का सञ्चार करने वाली देवी है। जब यह प्रकाशित होती है तो पक्षी अपने नीडों से उड़ जाते हैं और मनुष्य पोषण प्राप्त करते हैं—उस्रे वयश्चिद् वसतेरपप्तन् नरश्च ये पितुभाजो व्युष्टौ (ऋ० १।१२४।१२)। जिन अरुण् (लाल) अश्वों के द्वारा इसके रथ के खींचे जाने का वर्णन है, वे प्रातः काल की रक्ताभ किरणें ही हैं (ऋ० ७।७५।६)।

उषाः का सूर्य से गहरा सम्बन्ध है। उसने सूय के मार्ग प्रशस्त किये हैं—आरैक् पन्थां यातवे सूर्याय (ऋ० १।११३।१६)। सुन्दर उज्ज्वल श्वेत अश्व पर नेतृत्व करती हुई यह देवताओं के नेत्र (सूय) को लाती है—देवानां चक्षुः सुभगा वहन्ती श्वेतं नयन्ती सुदृशीकमश्वम् (ऋ० ७।७७।३)। वह अपने प्रिय सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होती है। जैसे कोई युवक किसी युवती का पीछा करता है, उसी प्रकार सूर्य उषाः का अनुसरण करता है। उषःकाल के पश्चात् सूर्योदय के वर्णन के लिये इससे सुन्दर कोई दूसरी उपमा नहीं हो सकती थी—सूर्यो देवीमुषसं रोचमानां मर्यो न योषामभ्येति पश्चात् (ऋ० १।११५।२)। कदाचित् इसी कारण उसे सूर्य की पत्नी (सूर्यस्य योषा—७।७५।५) कहा गया है। किन्तु सूर्य से पहले रहने के कारण प्राय. उसे सूर्य की जननी बताया गया है। इसी आधार पर उसके दीप्तिमान् बछड़े के साथ आने का वर्णन है—रुशद्वत्सा रुशती श्वेत्यागात् (ऋ० १।११३।२)। उषाः और रात्रि दोनों बहिनें हैं—दोनों एक दूसरे का अनुसरण करती हैं—दोनों का नाम एक साथ उषासानक्ता या नक्तोषासा (ऋ० १।११३।३) रूप में आता है। उषाः का जन्म आकाश में होता है, अतः इसे प्रायः आकाश की पुत्री (दिवो दुहिता ऋ० १।३०।२२) कहा गया है। यज्ञाग्नि के प्रभातवेला में प्रज्वलित होने के कारण अग्नि को उषाः का जार बताया गया है—उषो न जारः (ऋ०

१।६६।१) । अग्नि के विषय मे कहा गया है हे अग्नि, तुम प्रकाशित होकर आती हुई उषा के पास सुदर धन की याचना करते हुए जाते हो— आयतीमग्न उषस विभातीं वाममेषि द्रविण भिक्षमाण (ऋ० ३।६१।६)। अश्विना के साथ भी उषा का सम्बन्ध बनाया गया गया है (ऋ० १।८३।२)।

मैक्डानल के मतानुसार उषा नाम चमकना अर्थ वाली वस् धातु से व्युत्पन्न है। उसके अनुसार यह ग्रीक ओरोस (यूनानी) का सजातीय है। यास्क ने इसका निर्वचन √ उच्छ् (विवास) स माना है—उच्छतीति सत्या (नि० २।१८)। उच्छ का अर्थ है समाप्ति अथवा नाश—जो अन्धकार को नष्ट कर देती है। √उष दाहे स भी औणादिक का' प्रत्यय द्वारा इसे सिद्ध किया जाता है—जो मानो प्रकाश म जलती है तथा सूय की किरणों की उष्णता स मानो सभी पदार्थों को सुलाकर जगाती है। अरविन्द के मतानुसार उषा मनुष्य के भौतिक चैतन्य के प्रति दिव्य दीप्तियो के अभिनव द्वार का प्रतीक है।[१]

ऋ० ३।६१

ऋषि — विश्वामित्र । छन्द — त्रिष्टुप । देवता — उषा ।

उषो॒ वाजे॑न वाजिनि॒ प्रचे॑ताः स्तोमं॑ जुषस्व गृण॒तो म॑घोनि ।
पु॒रा॒णी दे॑वि युव॒तिः पुर॑न्धि॒रनु॑ व्र॒तं च॑रसि विश्ववारे ॥१॥

उषः । वाजे॑न । वा॒जि॒नि॒ । प्रऽचे॑ताः । स्तोम॑म् । जु॒ष॒स्व॒ । गृ॒ण॒तः । म॒घो॒नि॒ । पु॒रा॒णी । दे॒वि॒ । यु॒व॒तिः । पुर॑म्ऽधिः । अनु॑ । व्र॒तम् । च॒र॒सि॒ । वि॒श्व॒ऽवा॒रे॒ ॥

हे उषा, गति से गतिमती हे, प्रकृष्ट ज्ञानवती तुम,
स्तुति (मेरी) स्वीकार करो स्तुतिकर्ता की हे उदार !
पुरातन (हो तुम) देवि, युवति (हो फिर भी) बहुप्रज्ञा
नित्य नियम का पालन करती हो सबकी वरणीय (अपार)॥

उषा गति का प्रतीक है क्योंकि वह स्थिर नही रहती। प्रात काल सब वस्तुओ को अन्धकार स निकाल कर प्रकट करने के कारण वह ज्ञानवती है। निश्चित समय और स्थान पर प्रकट होकर प्रकृति के नियम का पालन करती है, और इसीलिए सबके द्वारा वरणीय अथवा पूजनीय है। स्वामी दयानन्द ने इस समस्त सूक्त में उषा की उपमा से गुणवती स्त्री का वर्णन माना है।

१ ओरोबिन्दोज वैदिक ग्लासरी, पृ २७।

वाजेन वाजिनि—सा०-अन्नेन अन्नवति, स्वा० द०—विज्ञानेन विज्ञानवती, सायण के अनुसार 'वाजेन' का अन्वय 'स्तोम जुषस्व' के साथ भी हो सकता है—हविर्लक्षणेनान्नेन सह स्तोमं जुषस्व। पीटर्सन– आशीर्वाद मे समृद्ध (रिच इन ब्लेसिंग)। मक्स०—सम्पत्ति से समृद्ध (वेल्दी बाइ वैल्थ)। पाश्चात्य विद्वानों ने इसका सम्बन्ध 'वेजिओ, विजिओ, विजिल' प्रभृति शब्दो से माना है। इनका अर्थ 'वेग, बल, दौड इत्यादि है। दौड आदि जैसी प्रतिस्पर्धाओ से उनमे प्राप्त पुरस्कार या धन की व्युत्पत्ति मानी जा सकती है।[1]

पुरंधिः—सा०-पुरु बहु धी- स्तोत्रलक्षणं कर्म यस्याः सा। बहुस्तोत्रवती। स्वा० द०—या बहून् शुभगुणान् धरति। पीटर्सन—बहुतो का पोषण करने वाली (सस्टेनर ऑफ मैनी)—पुरु बहून् धारयति इति। अथवा पुरु—पुर (पृषोदरादित्वात्) दधाति इति—सब कुछ देने वाली।[2]

विश्ववारे —सा०-सर्वैर्वरणीये, स्वा० द०—सर्वतो वरणीये, सायण ने ऋ० ५।१६।२ मे 'वारम्' का अर्थ 'वरणीय धनम्' किया है। तदनुसार अर्थ होगा 'सब धन है जिसका'। पीटर्सन-अपने साथ सब शुभ वस्तुएँ लाती हो (ब्रिंगेस्ट विद दी ऑल गुड थिंग्ज)। वेल०—सब प्रकार के स्पृहणीय उपहारो से सम्पन्न।

अनु व्रतं चरसि—सा०—यज्ञकर्माभिलक्ष्य यष्टृव्यतया वर्तसे स्वा० द० —अनुकूलतया कर्म करोषि, पीटर्सन—नियत समय पर आती हो (दाउ कमेस्ट इन ड्यू टाइम)। वेल०—अपने नियमो के अनुसार ही (इस संसार मे) भ्रमण करती हो।

उषो देव्यमर्त्या वि भाहि चन्द्ररथा सूनृता ईरयन्ती।

आ त्वा वहन्तु सुयमासो अश्वा हिरण्यवर्णां पृथुपाजसो ये ॥२॥

उषः। देवि। अमर्त्या। वि। भाहि। चन्द्रऽरथा। सूनृताः। ईरयन्ती। आ। त्वा। वहन्तु। सुऽयमासः। अश्वाः। हिरण्यऽवर्णाम्। पृथुऽपाजसः। ये॥

हे उषाः देवि! (तुम) अमर प्रदीप्त होओ (प्रतिवासर)
चन्द्र रथ वाली शोभन वाणी को प्रेरित करती।
इधर तुम्हें ले आयें सुनियन्त्रित घोड़े (सत्वर)
सुवर्ण-वर्ण वाली को बहुबलशाली जो (किरणें [illegible]) ॥

उषाः शाश्वत है, अमरणधर्मा है। बहुत काव्यात्मक रूप में चन्द्रमा को

1. अतिरिक्त टिप्पणी के लिये दे. ऋ. १।८९।१।
2. अतिरिक्त टिप्पणी के लिये दे. वा. सं. २२।२२।

उसका रथ बताया गया है—मानो रात भर चन्द्रमा पर यात्रा करती हुई वह रात्रि के अन्त में पूर्व दिशा में पहुँच कर प्रकट हो जाती है। उषा शोभन वाणी को प्रेरित करती हुई उदय होती है। प्रभात के उल्लास में सभी प्राणी मधुर वाणी से मानो उषा का स्वागत करते हैं। प्रभातवेला इतनी स्फूर्तिप्रद है कि सब का उस समय गाने को मन करता है। उषा अभितप्त सुवर्ण की भांति वर्ण धारण करती है। उसकी किरणों को ही यहाँ घोड़े माना है। महान् उषा को निश्चित समय और स्थान पर पहुँचाने वाले ये घोड़े वस्तुतः सुनियन्त्रित और बलशाली ही होने चाहियें।

सुश्चन्द्ररथा—सा०—सुवर्णमयरथोपेता, स्वा० द०—चन्द्र इव रथो यस्या, वेल०—रमणीय रथ से (आकर), पीटर्सन—अपने सुवर्णमय रथ पर (ऑन् हाइ गोल्डन कार)।

सूनृता ईरयन्ती—सा०—प्रियसत्यरूपा वाच उच्चारयन्ती, ऋ० १।११३।१२ में—सूनृता, वाङ्नामैतत् पशुपक्षिमृगादीनां वचांसि प्रेरयन्ती उत्पादयन्ती। स्वा०द०—सुष्ठु सत्या क्रिया प्रेरयन्ती, पीटर्सन पक्षियों के मधुर स्वर जगाती हो (अवेकन द स्वीट नोटस ऑफ द बर्ड्स)। प्रोफेसर प्रभृति विद्वानों ने इसे सु+हिन/नृत् (गतिशील होना) से व्युत्पन्न माना है—गतिशील—त्वरित, सावधान। स्त्री० अतः 'गिरं' का अध्याहार करने पर इसका अर्थ सजीव वाणी होगा अन्यथा 'क्रियाशीलता' होगा। वेल०—सद्भावनाओं को जाग्रत करते करते।

सुयमास —सा० वेल०—सुष्ठु नियन्तुं शक्या, स्वा० द० सुष्ठुनियामका, पीटर्सन—सुव्यवस्थित (वैल मैनेज्ड)। 'आज्जसेरसुक्' से सुयमास्+अस्।

अश्वाः —सा० और पीटर्सन—घोड़े, स्वा० द०—व्याप्ता किरणा।

पृथुपाजस —सा० प्रभूतबलयुक्ता अरुणवर्णा स्वा० द०—बहुबला, पीटर्सन, वेल०—सर्वव्यापी तेज वाले (हुज स्प्लेंडर स्प्रैड्स ऑल-राउंड)। निघ० (२।९) में पाज शब्द बलके पर्यायों में पठित है। नि०(६।१२) में (पाज पालनात्) इसका निर्वचन √पा (रक्षा) से बताया गया है क्योंकि बल से रक्षा होती है। उणादि० (४।२०७) के अनुसार इससे असुन् प्रत्यय लगा है और जुट् आगम हुआ है—पातेबले जुट च। मुकुन्द बख्शी झा की व्याख्या में (नि० ६।१२) इसका अर्थ 'तेज सघ' दिया गया है। सायण ने भी ऋ० १।५८।५ में 'पाजसा' की व्याख्या 'तेजोबलेन' की है। इसी प्रकार ऋ० ३।२।११ में भी 'पृथुपाजा' की 'पृथुतेजा अथवा पृथुवेग' व्याख्या की है। पूर्वपद में द्व्यच् उकारान्त विशेषण होने के कारण बहुव्रीहि में उत्तरपद पर उदात्त है।[1]

[1] वै व्या भा २, पृ ८६१।

उषः प्रतीची भुवनानि विश्वोर्ध्वा तिष्ठस्यमृतस्य केतुः ।
समानमर्थं चरणीयमाना चक्रमिव नव्यस्या ववृत्स्व ॥३॥

उषः । प्रतीची । भुवनानि । विश्वा । ऊर्ध्वा । तिष्ठसि । अमृतस्य । केतुः ।
समानम् । अर्थम् । चरणीयमाना । चक्रम्ऽइव । नव्यसि । आ । ववृत्स्व ॥

हे उषाः ! प्राप्त होने वाली हो लोकों को, सबको,
उन्नत होकर तुम ठहरी हो अमरत्व की ज्ञापक ।
समान मार्ग पर चलती हुई (नित्य उदयवेला में)
चक्र की भाँति हे नूतन तुम फिर फिर आ जाओ ॥

उषा अपने प्रकाश के द्वारा सभी लोकों को व्याप्त कर लेती है । उन्नत आकाश में विद्यमान यह मानो चिर नूतनता के द्वारा संसार को अमरत्व का सन्देश दे रही है । प्रकाश—यश का या ज्ञान का—ही अमरत्व है । उषा प्रतिदिन समान मार्ग पर आती है और जाती है । इस प्रकार चक्र की भाँति यह अवनति के बाद उन्नति की आशा लेकर आती है । दे० महाभारत—चक्रवत् परिवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च ॥

प्रतीची—सा०—सर्वाणि भुवनानि प्रति आभिमुख्येन अञ्चति प्राप्नोति इति, स्वा० द०—लोकजातानि प्रत्यञ्चति प्राप्नोति, पीटर्सन—सब लोकों से पूर्व उठने वाली (बिफ़ोर ऑल द वर्ल्ड्स दाउ राइज़ेस्ट अप) ।

अमृतस्य केतुः—सा०—मरणधर्मरहितस्य सूर्यस्य प्रज्ञापयित्री (केतु—चाय् पूजानिशामनयोरित्यस्मात्चायः की चेति तु', पा० ६।१।३५ उणादि—७६) । की इत्यादेशः । आर्धधातुकलक्षणो गुणः । स्वा० द०—अमृतात्म कस्य रसस्य प्रज्ञापिका, पीटर्सन—अमृतत्व की ध्वजा (द बैनर ऑफ इम्मॉर्टेलिटी) ।

अर्थम्—सा०—अर्यते गम्यतेऽस्मिन्निति अर्थो मार्गः (√ ऋ+थन्) स्वा० द०—वस्तु, पीटर्सन—लक्ष्य (गोल), वेल०—गन्तव्य स्थान ।

चरणीयमाना—सा०-चरितुमिच्छन्ती, स्वा० द०—प्राप्नुवती, पीटर्सन (पी०)—चलती हुई (मूविंग) ।

आ ववृत्स्व—सा०—पुनस्तस्मिन् मार्गे आवृत्ता भव, √वृत्—वर्तने से 'बहुलं छन्दसि' के द्वारा विकरण शप् का श्लु—लोप और अभ्यास । स्वा० द०—प्रावर्तस्व, पी०—घूमती आओ (रॉल् फॉर्वर्ड) ।

अव स्यूमेव चिन्वती मघोन्युषा याति स्वसरस्य पत्नी ।
स्व१र्जनन्ती सुभगा सुदंसा आन्ताद्दिवः पप्रथ आ पृथिव्याः ॥४॥

अव । स्यूमऽइव । चिन्वती । मघोनी । उषाः । याति । स्वसरस्य । पत्नी । स्वः । जनयन्ती । सुऽभगा । सुऽदंसाः । आ । अन्तात् । दिवः । पप्रथे । आ । पृथिव्याः ॥

परे वस्त्र को मानो हटा रही (यह) विभवमयी (निज)
उषा आ रही है सूर्य की पत्नी (देखो मुदिता) ।
तेज उत्पन्न करती सौभाग्यवती शुभकर्मवती
छोर तक नभ के फैली है, छोर तक पृथ्वी के (प्रथिता) ॥

इस काव्यात्मक मन्त्र में उषा द्वारा रात्रि के अन्धकार को दूर करने की क्रिया को वस्त्र हटाने के रूप में उत्प्रेक्षित किया गया है। उषा को सूर्य की पत्नी बताना दोनों के नैकट्य और परस्पर सम्बन्ध को द्योतित करता है। यह नित्य सौभाग्यवती है क्योंकि इसका पति सूर्य अजर अमर है। उषा के प्रकट होते ही संसार के सारे कार्य प्रारम्भ हो जाते हैं, इसीलिये इसे शुभकर्मवती कहा गया है।

अव स्यूमेव चिन्वती—मा० वस्त्रमिव विस्तृतं तमः अपक्षयं प्रापयन्ती, स्वा० द०—तन्तुवद्व्याप्त्या चयनं कुर्वती, पी०-मानो अपने ऊपर से अपने वस्त्र उतारती हुई (कास्ट्स, एज इट वर, हर गार्मेंट फ्रॉम हर), ग्रास०-मेखला खोलती हुई (अनलूजिंग हर गर्डल), परन्तु यह उचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि उषा का मानो केवल मुख ही दिखता है, निचला भाग नहीं। कुछ विद्वानों के मतानुसार स्यूम का अर्थ घोड़े की लगाम है क्योंकि ऋ० १। १२२।१५ में स्यूमगभस्ति शब्द मित्र और वरुण के रथ के लिये प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार ऋ० ६।३६।२ के अन्तर्गत 'स्यूमगृभे' समास का अर्थ रोथ और ग्रास० ने 'लगामों को पकड़ने वाला' किया है। सायण की व्याख्या इस प्रकार है—स्यूमन् स्यूनान् अविच्छेदेन वर्तमानान् शत्रून् गृह्णते। इसी आधार पर लुड्विग ने यहाँ पर 'लगामें उतार फेंकती हुई' (लेटिंग डाउन द रेन्ज) अर्थ किया है। भाव यह है कि उषा रथ से उतरने के लिये किरणों के रूप में अपनी लगामें नीचे डाल रही है या घोड़ों को हाँकने लिये घोड़ों की लगामें हिलाती हुई। वेल०—किसी बुने हुए (कृष्णवर्ण) पट की तरह (अन्धकार को) दूर हटाते हुए।[1]

---

१. ऋग्सूक्त वैजयन्ती, पृ. १३६—स्यूम वह वस्त्र है जो रात्रिरूपी जुलाहिन द्वारा बुना गया है (ऋ. १।११५।४; २।३८।४) और उषा एक परदे की तरह उसे हटाकर अवतीर्ण है।

स्वसरस्य—सा०-सुष्ठु अस्यति क्षिपति तम इति स्वसर तस्य सूर्यस्य, स्वा० द०-दिनस्य, पी०—ससार की (ऑफ द वर्ल्ड)। पाश्चात्य विद्वानो ने इसका अर्थ 'स्थान' भी किया है। सायण ने भी ऋ० २।३४।५ के अन्तर्गत 'स्वसराणि' की व्याख्या 'स्वकीयानि निवासस्थानानि' की है। निघ० १।९ में स्वसर को 'अहन्' (दिन) का पर्याय बताया गया है। नि० ५।४ मे यास्क ने यही अर्थ स्वीकार करते हुए दो निर्वचन दिये हैं—(१) स्वय सारीणि—दिन अपने आप एक के पश्चात् एक क्रम से चलते रहते हैं, (२) अपि वा स्वरादित्यो भवति स एतानि सारयति—या फिर स्वर् आदित्य है, वह इन्हें सरकाता या चलाता है, सूर्य से ही दिन रात बनते हैं। वेल०-ससार की महाराज्ञी।

स्वः—सा०-स्वकीय तेज. जनयन्ती (√जन् से णिच्, 'छन्दस्युभयथा' पा० ३।४।११७ के आधार पर शप् के आर्धधातुकत्व से णि का लोप),-स्वा० द०-सूर्य सुख वा, पी०-स्वर्ग को जीवन प्रदान करती हुई (ब्रिन्ज हैवन टू लाइफ अगेन)। इस शब्द पर जो जात्य स्वरित दिखाई दे रहा है, वह 'सुअर्' अथवा 'सुव.' उच्चारण करने से नियमित हो जाता है। ध्यान देने योग्य बात है कि इस प्रकार का उच्चारण छन्द पूर्ति मे भी सहायक है। वेल०—सूर्य को।

सुदंसा.—सा०-शोभनाग्निहोत्रकर्मा, स्वा० द०-शोभनानि दसांसि यस्या सा, पी०—अद्भुत (वडरफुल)। नि० ४।२५ मे दंसि के बहु० दसयः का अर्थ 'कर्माणि' बताते हुए यास्क ने इसका निर्वचन 'दसयन्त्य एतानि' दिया है। √दसि का अर्थ 'देखना' है—वे कर्म जिन्हे कार्य करने वाले देखते है। या (दस् उपक्षये) धातु भी हो सकती है—कर्म, जो उपक्षीण करते हैं, कार्य करने वालों को श्रान्त करते हैं। पाश्चात्य विद्वान् तुलनात्मक भाषाविज्ञान के आधार पर यहाँ √दस् (अध्यापन) धातु मानते हैं क्योंकि अवेस्ता मे भी वह इसी अर्थ मे प्रयुक्त है। इस धातु का प्रारम्भिक अर्थ, उनके मतानुसार, 'दिखाना' या 'प्रदर्शन करना' है। उसी आधार पर सुदसा का अर्थ 'शोभन दर्शन वाली' होगा। वेल० आश्चर्यजनक कर्म करने वाली।

विशेष—मन्त्र के पूर्वार्ध म छन्द पूर्ति के लिये मघोन्युषा का सन्धिविच्छेद करके 'मघोनी उषा' तथा स्वसरस्य का 'सुअसरस्य' उच्चारण करना चाहिये।

अच्छा॑ वो दे॒वीमु॒षसं॑ विभा॒तीं प्र वो॑ भरध्वं॒ नम॑सा सुवृ॒क्तिम्।
ऊ॒र्ध्वं म॑धु॒धा दि॒वि पाजो॑ अश्रे॒त् प्र रो॑च॒ना रु॑रुचे र॒ण्वसं॑दृक् ॥५॥

अच्छ॑। व॒। दे॒वीम्। उ॒षस॑म्। वि॒ऽभा॒तीम्। प्र। व॒। भ॒र॒ध्व॒म्। नम॑सा। सु॒ऽवृ॒क्तिम्।
ऊ॒र्ध्वम्। म॒धु॒ऽधा। दि॒वि। पाजः॑। अ॒श्रे॒त्। प्र। रो॒च॒ना। रु॒रु॒चे॒। र॒ण्वऽसं॑दृक् ॥

ओर तुम्हारी (अनो !) देवी को उषाः दीप्तिमती को,
अपनी करो समर्पित प्रणति से शोभन स्तुति को (सत्वर)।
ऊपर मधु की धर्त्री नभ में तेज का सेतो आश्रय
प्रभावती हो रही प्रभासित रमणीयदर्शना (सत्वर)॥

इस मन्त्र में उषा के प्रति सभी को सम्बोधित किया गया है कि जो उषाः देवी तुम्हारी ओर को चमक रही है, उसे अपने प्रणाम से युक्त शोभन स्तुति अर्पित करो। उषा को मधुधा अर्थात् मधु या माधुर्य या आनन्द की धारण-कर्त्री बताया गया है। अन्यथा भी प्रभात वेला प्रमोद का समय है। सब ओर प्रकाशमयी, रमणीयदर्शना यह प्रभासित हो रही है।

नमसा—सा०—नमस्कारेण सह, स्वा० द०—वज्रेण विद्युता सह, पी० —उसे प्रणाम करो (बो डाउन बिफ़ोर हर)। नम शब्द वेद में सुबन्त के रूप में भी प्रयुक्त होता है।

सुवृक्तिम्—सा०, वेल०-शोभनां स्तुतिम्, स्वा० द०-सुष्ठु वर्तमानाम्, उन्होंने इस उपसम् का विशेषण माना है—तुम लोग उत्तम प्रकार से वर्तमान प्रभात वेला को वज्र अर्थात् बिजली के साथ उत्तम प्रकार पुष्ट करो, पी०-आहुति (ऑफ़रिंग)। मक्स० ने[1] स्वीकार किया है कि इस शब्द का प्राथमिक अर्थ 'स्तुति' यहाँ भी उचित ही है। किन्तु फिर भी निर्वचन के आधार पर सुवृक्ति का अर्थ उस कुशा घास को काटना तथा साफ़ करना है जिस पर वेदी में आहुतियाँ अर्पित की जाती हैं। (तु० ऋ० १।३८।१—वृक्तबर्हि.)। इसी के विस्तार के रूप में सुवृक्ति का लाक्षणिक अर्थ 'सुघटित शुद्ध स्तुति' होगा। नि० २।२४ के अन्तर्गत उद्धृत मन्त्र ऋ० ६।६१।२ में भी सुवृक्तिभिः शब्द धीतिभिः (स्तुतिभिः) का विशेषण है। वहाँ यास्क ने इसकी 'सुप्रवृत्ताभिः' व्याख्या की है।

मधुधा—सा०-मधुराणि स्तुतिलक्षणानि वाक्यानि दधातीति, मधु सोमं त धारयतीति वा। यद्वा मधुधा आदित्यधात्री। यद्वा अवग्रहाभावादव्युत्पन्ना-वयवमखण्डमिदमुषोनाम। स्वा० द०—या मधूनि दधाति, पी०-शुभवस्तुएँ देने वाली (गिवर ऑफ़ गुड थिंग्स)। यह ध्यान देने योग्य बात है कि मधुधा शब्द को पदपाठ में अवग्रह द्वारा पृथक् करके नहीं दिखाया गया। इसकी तुलना विष्णुसूक्त (ऋ० १।१५४।५) के इस मन्त्रांश से की जा सकती है—विष्णोः पदे परमे मध्व उत्स। वेल०—मधु उपहारों की प्रदात्री।

---

१ वैदिक हिम्स, भा १, पृ १०६।

पार्जः प्रथेत्—सा०-तेजः श्रयति, स्वा० द०—बलं श्रयति, पी०-प्रकाश फैलाती है (स्प्रेड्स हर लाइट)।—श्रिञ् सेवायाम्, लङि 'बहुल छन्दसि' इति शपो लुक्। 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' इति लडर्थे प्रयोगः।

रोचना—सा०—रोचनशीला प्र रुरुचे प्रकर्षेण दीप्यते, यद्वा रोचना लोकान् प्रकर्षेण स्वतेजसा दीपयति, स्वा० द०—रुचिकरी रोचते (अच्छी लगती है), पी०—आकाश के प्रकाशस्थानों को प्रकाशित किया है (हैज लिट् अप् द लाइट प्लेसज ऑफ स्काई)। वेल० तेजस्विनी।

सुसंदृक्—सा० रमणीयदर्शना √ रव् (इ)—गत्यर्थक + अच्; सम् √दृश् + क्विन्, बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरः, स्वा० द० या रम्यान् रमणीयान् पदार्थान् सन्दर्शयति सा, पी०-लावण्यमयी देवी (ब्यूटीयस गॉडेस)। वेल० -रमणीयमुखी।

ऋतावरी दिवो अर्कैरबोध्या रेवती रोदसी चित्रमस्थात्।
आयतीमग्न उषसं विभातीं वाममेषि द्रविणं भिक्षमाणः ॥६॥

ऋतऽवरी। दिवः। अर्कैः। अबोधि। आ। रेवती। रोदसी इति। चित्रम्। अस्थात्।
आऽयतीम्। अग्ने। उषसम्। विऽभातीम्। वामम्। एषि। द्रविणम्। भिक्षमाण ॥

सत्य-नियम-युक्त गगन से तेजों से जानी जाती,
विभवशालिनी पृथ्वी नभ मे विविध रूप में है ठहरी।
आती हुई के हे अग्नि उषाः के प्रभासिता के प्रति
काम्य को आते हो धन की करते हुए याचना (गहरी)॥

दूर से नभ में प्रकाशित अपने तेजःपुञ्ज के द्वारा ही सत्य-नियम से युक्त यह उषाः पहचानी जाती है। इसका विभव इतना है कि एक साथ विविध-रूपों मे यह पृथ्वी और आकाश पर व्याप्त होकर स्थिर रहती है। और जब अग्नि उस समय प्रातराहुति के लिये प्रज्वलित किया जाता है तो ऐसा प्रतीत होता है मानो वह कमनीय धन की प्रबल कामना करता हुआ उषा. के पास पहुँच रहा है। यदि अग्नि को प्राणाग्नि माना जाये तो मानो वह प्रात. काल नवजीवन की स्फूर्ति प्राप्त करने के लिये उषाः से संयोग प्राप्त करता है।

ऋतावरी—पदपाठ मे ऋत (ह्रस्वान्त) ध्यान देने योग्य है। सा०, स्वा० द०-सत्यवती, पी०-पवित्र (होली)। वेल०-ऋत का पालन करने वाली —दिवः ऋतावरी के आगे दुहिता पद का अध्याहार करना चाहिये।[1]

1. स्कन्दमुकर्वकयन्तो, पृ. १३७।

अर्कैरबोधि—सा०-तेजोभि सर्वैर्ज्ञायते, स्वा० द०-दिव प्रकाशात् (जाता) सूर्यं बुध्यते, पी०-आकाश के गीतो से जगाई गई है (हैज बीन अवेकन्ड बाइ द सॉंग्ज ऑफ द स्काई), वेल०-(हमारे) स्तोत्रो से जागृत हुई है।

चित्रम्—सा०-नानाविधैरूपयुक्त यथा भवति तथा, स्वा० द०-अद्भुतम्, 'वाम द्रविणम्' का विशेषण—अग्ने का अर्थ—हे विद्वन्—उषस प्राप्य (समाधिना जगदीश्वर) भिक्षमाणस्त्व चित्र द्रविण प्राप्नोषि। पी० कान्ति (ग्लोरी), वेल०-सुन्दर रीति से।

पुषि—सा०—वाम वननीय द्रविणमग्निहोत्रादिलक्षण धन प्राप्नोषि, पी, वेल०-तुम उससे मिलने जाओ और हमारे लिये अभीष्ट सम्पत्ति की याचना करो (गो फॉर टू मीट हर, एंड आस्क फॉर अस द वैल्थ वी डिजायर)।

ऋतस्य बुध्न उषसामिषुण्यन् वृषा मुही रोदसी आ विवेश।
मुही मित्रस्य वरुणस्य माया चन्द्रेव भानुं वि दधे पुरुत्रा ॥७॥

ऋतस्य। बुध्ने। उषसाम्। इषुण्यन्। वृषा। मही इति। रोदसी इति। आ। विवेश। मही। मित्रस्य। वरुणस्य। माया। चन्द्राऽइव। भानुम्। वि। दधे। पुरुऽत्रा ॥

सत्य-नियम की जड मे उषाओं को प्रेरित करता
वर्षक महा गगन पृथ्वी मे सब ओर प्रविष्ट हुआ है।
महती उषा मित्र-वरुण की माया (प्रभामयी वह)
स्वर्णाभूषण-सम प्रकाश को फैलाती है सब ओर ॥

सूर्य प्रजननार्थ वीर्य की वृष्टि करने वाले वृषभ के समान प्रजननसमर्थ है। वही वृष्टि-अन्नादि कामनाओं का वर्षक है। उषा के साथ ही साथ वह अतिविशाल पृथ्वी और गगन मे व्याप्त हो जाता है। सूर्य को मित्र, वरुण, अग्नि का नेत्र बताया गया है (ऋ० १।११५।१)। उसी प्रकार उषा भी मित्र और वरुण की माया अर्थात् उनका प्रतीक है। उसका सब ओर फैला प्रकाश सुन्दर आभूषणों की द्युति जैसा है।

ऋतस्य बुध्ने[1]—सा०—अग्निहोत्रादिकर्मकरणे सत्यभूतस्य ब्रह्म मूले, स्वा० द०—हे मनुष्या, यो विद्युद्रूपोऽग्नि बुध्न अन्तरिक्षे, उषसा प्रभातवेलानाम् ऋतस्य सत्यस्य इषण्यन् आत्मन प्रेरणम् इच्छन्निव वृषा वृष्टिहेतु महत्यौ द्यावापृथिव्यावाविवेश...त विज्ञाय कार्याणि साध्नुत। वेल० —क्षितिज के ऊपर (क्योंकि वहीं से मानो उषा उत्पन्न होती है)। किन्तु प्रतिदिन निश्चत समय

1 पाटसन ने इस मन्त्र का अनुवाद नहीं दिया है

और स्थान पर उदय होना ही मानो सत्य-नियम की जड है। पीटर्सन ने सायण की व्याख्या को बनावटी बताया है। मक्स०—आकाश की गहराई में उषाओं की अभिलाषा करता हुआ वीर महान् आकाश और पृथ्वी में प्रविष्ट हुआ है। ग्रास०—पवित्र भूमि पर, लुड्विग—पवित्र कर्म की भूमि पर'।[1] सायण ने अन्यत्र अनेक स्थलों (ऋ० ३।६२।१३,१८ आदि) पर 'ऋतस्य योनिम्' की व्याख्या 'यज्ञस्य स्थान हविर्धानाख्यम्' की है।

उषसा'म् इष्णन्—सा० उपसा प्रेरण कुर्वन् (सम्भवतया द्वितीयार्थे षष्ठी) यद्वा वृषा वर्षिता इष्णन् सर्वतो गच्छन् उपसा (सम्बन्धी रश्मिसमूह)। वेल०—उषाओं का प्रियतम (वृषा—सूर्य) उन्हें (आगे बढने को) प्रेरणा देते हुए।

माया—सा०—प्रभारूपा सती, स्वा० द०—मित्रस्य सुहृद वरुणस्य श्रेष्ठस्य माया प्रज्ञा, वेल०—(सूर्यरूप) विशाल माया शक्ति ने।

चुम्र्येव भानुम्—सा०—सुवर्णानीव स्वप्रभाम्, स्वा०द०-सुवर्णानीव सूर्यम्, वेल०—रमणी की तरह अपना तेज।

पुरुत्रा—सा०—बहुषु देशेषु विदधानि सर्वत्र प्रसारयति, स्वा० द०—पुरुरूप विदधाति, वेल०—अनेक स्थलों पर फैला रखा है।

---

१. हिम्स फ्रॉम द ऋग्वद, पृ. १४६।

मरुतः

मरुद्देवता वेद के महत्त्वपूर्ण देवताओं में से हैं। अकेले इनकी स्तुति ऋग्वेद के ३३ सूक्तों में हुई है। अन्य देवों में से इन्द्र के साथ इनकी स्तुति अधिक हुई है। ये इन्द्र के प्रमुख सहायक माने जाते हैं।[1] ये बहुवचन में ही अभिष्टुत होते हैं। प्रायः इनके गण का उल्लेख हुआ है। संहिताओं में प्रायः सर्वत्र गण शब्द से मरुतों का गण अभिप्रेत है।[2] इनकी संख्या १८० अथवा २१ बताई गई है। किन्तु यजुर्वेदीय संहिताओं तथा श्रौत ग्रन्थों में यह संख्या ४९ भी है। रुद्र को इनका पिता बताया गया है। अनेक बार इनके रुद्रपुत्र, रुद्रसूनु विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। यहाँ तक कि पिता के नाम से ही इनका आह्वान 'रुद्रगण' के रूप में किया गया है। पृश्नि इनकी माता है (ऋ० १।८५।२)।[3] गौ को भी इनकी माता बताया गया है (गोमातरः—ऋ० १।८५।३)। मैक्डॉनल के मतानुसार 'यह गौ सम्भवतः घनीकृत झंझावात मेघों का प्रतिनिधित्व करती है।' ईयुर्गावो न यवसादगोपा... इत्यादि। 'कृष्यग्वभिर्धेनुभी रप्शदूधभिरध्वस्मभिः पथिभिः भ्राजदृष्टयः आ ..गन्तन मरुतः (ऋ० २।३४।५) में 'दीर्घ जल स्रोतों वाली जो उमड़ती गायें आती हैं वे वर्षा और विद्युत् से परिपूर्ण मेघों के अतिरिक्त कदाचित् ही कुछ और हो सकती हैं।'[4] यास्क के मतानुसार गौ पृथ्वी और आदित्य दोनों है। सायण ने इसका अर्थ केवल भूमि माना है। अरविन्द के अनुसार यह प्रकाश है। वासुदेव शरण अग्रवाल ने गौ को मातृत्व का, ब्रह्माण्ड में वर्तमान सृष्टि-शक्ति का प्रतीक माना है।

इनका इतना महत्त्व है कि इन्हें आकाश पुरुष (दिवो नरः—ऋ० ५।५४।१०, दिवो मर्याः—ऋ० ३।५४।१३) ही नहीं कहा गया अपितु इन्हें स्वयम् उत्पन्न माना गया है—प्र ये जाता महिना ये च नु स्वयम् (ऋ० ५।८७।२)। अपने महत्त्व के कारण ही ये तीन आकाशों में निवास करते हैं

1. दे. इन्द्र पर टि. १ २९।
2. जर्नल ऑफ़ दि डिपार्टमेंट ऑफ़ संस्कृत, युनिवर्सिटी ऑफ़ दिल्ली, वर्ष १, अंक १, कृष्णलाल—संहिताओं में गण शब्द, पृ. ९९-१०३।
3. पृश्नि की व्याख्या के लिये दे. ५।२७।२ (आगे)।
4. वैदिक माइथॉलोजी, पृ. १४७।

—यदुत्तमे मरुतो मध्यमे वा यद्वावमे सुभगासो दिविष्ठ (ऋ० ५।६०।६)। ये अग्नि के समान दीप्तिमान हैं—अग्नयो न शोशुचन् (ऋ० ६।६६।२)। एक स्थान पर तो उन्हें अग्नि ही बता दिया गया है—प्र यन्तु वाजास्तविषीभिरग्नयः ...बृहदुक्षो मरुतो विश्ववेदसः (ऋ० ३।२६।४)।

सम्भवतया मरुतों का अग्नि से यह सम्बन्ध वैद्युताग्नि से उनके सम्बन्ध को ही द्योतित करता है क्योंकि विद्युत् से उनका सम्बन्ध अधिक प्रख्यात है। उदाहरणार्थ उन्हें विद्युत् के कारण महान् मनुष्य बताया गया है—विद्युन्महसो नरः (ऋ० ५।५४।३)। इसी सूक्त के एक मन्त्र में तो उन्हे अग्नि की आभा वाली विद्युत् ही कहा गया है—अग्निभ्राजसो विद्युतः (ऋ० ५।५४।११)। पं० भगवद्दत्त ने भी इन्हें आपः-कणों की विद्युद्-युक्त रश्मियाँ माना है। इसीलिये उन्हें सूर्यस्येव रश्मयः (ऋ० ५।५५।३) कहा गया है। ताण्डय महाब्राह्मण (१४।१२।९) में भी उन्हें रश्मियाँ कहा है—मरुतो रश्मयः। किन्तु पं० भगवद्दत्त यह स्पष्ट करते हैं कि यह सामान्य मेघों की विद्युत् नहीं, यह स्थायी विद्युत् है, क्योंकि इनके विषय मे कहा गया है कि ये अग्नि के हृदय का आच्छिन्दन करते हैं।[1] मरुत् वृष्टिजल में व्याप्त रश्मियाँ हैं—अप्सु वै मरुतः श्रिताः (कौ० ब्रा० ५।४)। ऐ० ब्रा० ६।३० मे वृष्टिजल को मरुतः कहा गया है—आपो वै मरुतः।

विविध रूपों में जो विद्युत् प्रकट होती है, सम्भवतया उन रूपों के आधार पर ही मरुतो की ऋष्टियों (भालों), सोने की वाशियों (कुठारों), धनुष्, बाण आदि आयुधों का तथा खादि, रुक्म, अञ्जि इत्यादि आभूषणों का उल्लेख हुआ है। और यदि सातवलेकर प्रभृति विद्वानों के मतानुसार इन्हें सैनिक माना जाये तो ये उनके भौतिक आयुध और आभूषण हो सकते हैं। निस्सन्देह मरुतों के वर्णन यान से तीव्र गति से चलती हुई, चमकते हुए आयुधों और अलङ्करणों वाली सेना से मेल खाते हैं। उस सेना के लिये पृथ्वी और पर्वतों को कंपाना तथा (रक्त की) वर्षा करना सङ्गत ही है।

इनके विद्युत्-समान रथों का वर्णन है—विद्युद्रथा मरुतः (ऋ० ३।५४।१३)। ये अश्वों के रूप में वायु को जोतते हैं—वातान् ह्यश्वान् धुर्यायुयुज्रे (ऋ० ५।५८।७)। वेग से चलते हुए ये वायु के समान प्रतीत होते हैं—वातासो न ये धुनयो जिगत्नवः (ऋ० १०।७८।३)। जब ये वायु के साथ अर्थात् वायु के वेग से जाते हैं तो पर्वतों को हिला देते हैं—प्रवेपयन्ति पर्वतान् यद् यामं यान्ति वायुभिः (ऋ० ८।७।४)। सम्भवतया इनके सैनिकों जैसे वर्णन को और वायु

---

1. तै. ब्रा. १।१।३।१२—मरुतोऽङ्गिरग्निमतमथन्। तस्य तान्तस्य हृदयमाच्छिन्दन्। स वर्णनिरपचत्।—वेदविद्यानिदर्शन, पृ. १४२-६।

के साथ सम्बन्ध को देखकर ही स्वामी दयानन्द ने इन्हें मनुष्य अथवा वायु माना है। मनुष्य अर्थ में मरुत् शब्द √मृ से व्युत्पन्न माना गया है—मरण-धर्मा मनुष्य। वासुदेव शरण अग्रवाल ने भी इनकी ओजस्विता और वायु की प्राणदायिनी शक्ति के आधार पर इन्हें प्राण माना है।[1]

ये महान् हैं और सर्वत्र द्युलोक के समान व्याप्त हैं—महिना द्यौरिवोरवः (ऋ० ५।५७।४)। ये युवा हैं और अजर हैं—युवानो रुद्रा अजराः (ऋ० १।६४।३)।

वृष्टि के साथ इनका सम्बन्ध ध्यान देने योग्य है। इनको वर्षा करने वाला कहा गया है—वृष्टिं ये विश्वे मरुतो जुनन्ति (ऋ० ५।५८।३)। जहाँ इनके स्वेद को ही वर्षा बताया गया है (वर्षं स्वेदं चक्रिरे रुद्रियासः—ऋ० ५।५८।७) वहाँ इनका वर्णन बलपूर्वक बढ़ती हुई सेना से बहुत सङ्गत है। अथर्व० ४।२७।४) में तो इनके माध्यम से वृष्टि की प्रक्रिया भी समझाई गई है। यहाँ कहा गया है कि ये समुद्र से जल को आकाश में उठाकर वृष्टि करते हैं—अपः समुद्राद्दिवमुद्वहन्ति दिवस्पृथिवीमभि ये सृजन्ति। ये अद्भिरीशाना मरुत-श्चरन्ति॥ इसकी तुलना तै० स० २।४।१० से की जा सकती है—अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति। मरुतः सृष्टां नयन्ति। यदा खलु वा असावादित्यो न्यङ् रश्मिभिः पर्यावर्तते॥ सम्भवतया इसी कारण इन्द्र द्वारा वर्षारूप में प्रवाहित जल को 'मरुत्वती' कहा गया है—सृजा मरुत्वतीरव जीवधन्या इमा अपः (ऋ० १।८०।४)। मरुतों को अनेक स्थलों पर गायक (ऋक्वत्) कहा गया है। सम्भवतया यहाँ उनके गायन से जीवन की सुषमा में निरन्तर प्रवर्तमान प्राणों का सङ्गीत या सेना के साथ बजने वाला या सैनिकों के कदम मिलाकर चलने से उत्पन्न होने वाला सङ्गीत अभिप्रेत है। मैक्डॉनल के अनुसार उनके गायकत्व से वायु की ध्वनि अभिप्रेत है।

क्योंकि मरुत् रुद्र के पुत्र हैं अतः उनके समान ही इनके क्रोध का वर्णन होना स्वाभाविक ही है—अहिमन्यवः (ऋ० १।६४।८)। किन्तु रुद्र के समान ही इनकी उपशामक जलरूप ओषधी का भी उल्लेख हुआ है—धृष्टवो वा यीराप उस्रि भेषजम् (ऋ० ५।५३।१४)।

निष्कर्षरूप में मैक्डॉनल ने मरुतों को झंझावात के देवता माना है। कुह्न, बेनफे, मेयर, श्रोडर प्रभृति ने इन्हें (√मृ—मरना से) प्रेतात्माओं का मानवी-

---

[1] "अन्तरिक्ष में जो मरुत् हैं वे इन्द्र के सामन्त या सहचारी प्राण हैं। वे ही विद्युत् शक्ति या प्राणशक्ति के रूप हैं। एक दूसरे से अधिक सूक्ष्म हैं। यही उनका तारतम्य है।"—वेदविद्या, भूमिका, पृ. ६।

करण बताया है। मॅक्डॉनल ने इसकी व्युत्पत्ति √मर् (मरना, कुचलना, प्रकाशित होना) से मानी है। √मर् के इन अर्थों में से उसके अनुसार अन्तिम अर्थ ही मरुतों के वर्णन से सङ्गत है। तु० स० मरीचि ग्री० मर्माइ रेन (चमकना)।

योगी अरविन्द के अनुसार मरुत् वे जीवनी शक्तियाँ और प्रज्ञाशक्तियाँ हैं जो हमारी सभी क्रियाओं के लिये सत्य के प्रकाश का अन्वेषण करती हैं। ये हमारी सत्ता की स्नायविक या जीवनी शक्तियाँ हैं जो बुद्धि में चेतन अभिव्यक्ति के रूप में प्रकट होती हैं।[1]

यास्क ने निरुक्त (११।१३) में मध्यमस्थानीय देवताओं का वर्णन मरुतों से ही प्रारम्भ किया है। इस प्रसङ्ग में दुर्ग ने टिप्पणी की है कि वायु ही मरुद् है—वायुरेव हि भेदेनापेक्ष्यमाणो मरुदभिधानो बहुवचनभाग् भवति। यास्क ने इसके जो निर्वचन दिये हैं उनसे इनका वर्षा से अधिक सम्बन्ध द्योतित होता है—मरुतो मितराविणो मितरोचिनो वा महद् द्रवन्तीति वा। अर्थात् मरुत् वे हैं जो सुश्लिष्ट होकर साथ साथ शब्द करते हैं अथवा सुश्लिष्ट होकर प्रकाशित होते हैं। इन दोनों निर्वचनों में सन्धि मानकर अमितराविण तथा अमितरोचिन पाठ भी मानते हैं। तदनुसार अर्थ है 'बहुत प्रकार से शब्द करने वाले या चमकने वाले'। अन्तिम निर्वचन का अर्थ है—जो बहुत अधिक द्रवित होते या बरसते हैं।

ऋ० ५।५७

ऋषि—श्यावाश्व, देवता—मरुत, छन्द—जगती, ७, ८—त्रिष्टुप्।

आ रुद्रास इन्द्रवन्तः सजोषसो हिरण्यरथाः सुविताय गन्तन।
इयं वो अस्मत् प्रति हर्यते मतिस्तृष्णजे न दिव उत्सा उदन्यवे ॥१॥

आ। रुद्रासः। इन्द्रऽवन्तः। सऽजोषसः। हिरण्यऽरथाः। सुविताय। गन्तन। इयम्। वः। अस्मत्। प्रति। हर्यते। मतिः। तृष्णऽजे। न। दिवः। उत्साः। उदन्यवे॥

इधर हे रुद्रो, इन्द्रसहित (तुम सभी) प्रीति से युक्त
स्वर्णिम रथ वाले, शोभन गमन निमित्त चले आओ।
यह तुम्हें हमारी ओर से चाहती है स्तुति (मन की)
तृषित को जैसे नभ से झरने (चाहें) जल-कामी को॥

जिस प्रकार पिता पुत्र का अभेद माना जाता है, उसी प्रकार यहाँ रुद्र

[1] अरविन्द : वैदिक ग्लॉसरी, पृ० ७०।

और मरुतों में अभेद मान कर मरुतों को रुद्र सम्बोधन किया गया है। स्वर्णिम रथ से उत्तम यान का अभिप्राय है जिससे मरुतों (प्राणों या ब्रह्माण्ड-किरणों) की गति शोभन, नियमित बनी रहे। ऋषि के मन में यह भावना है कि जिसको हम देवता मानकर अर्चना करते हैं, वह हमारी अर्चना या स्तुति के लिये लालायित रहता है। इसलिये वह इष्ट-देव को विश्वास दिला देना चाहता है कि हमारी स्तुति आपके प्रति ही प्रेरित है—ठीक उसी प्रकार जैसे आकाश से बरसने वाला जल प्यासे संसार के लिये ही प्रेरित होता है।

आ, गन्तन—आगच्छत (आओ), स्वा० द०-आगच्छथ। उपसर्ग और क्रिया में व्यवधान द्रष्टव्य है। वैदिक भाषा में यह प्रायः होता है। दे० 'व्यवहिताश्च' (पा० १।४।८२)। 'तिङ्ङतिङः' से क्रियापद सर्वानुदात्त है।

रुद्रासः—या०-रुद्रा, स्क०, वें०, सा०, गेल्ड०—रुद्रपुत्रा, स्वा० द०—(हे मनुष्याः) दुष्टानां रोदयितारः (दुष्टों को रुलाने वाले—प्रथमा० एक०, किन्तु स्वर, सर्वानुदात्त, के अनुसार सम्बोधन), 'आमन्त्रितस्य च' (पा० ८।१।१९) के अनुसार सर्वानुदात्त। वेद में अवर्णान्त प्रातिपदिक के जस् विभक्ति वाले (प्रथमा, सम्बोधन, बहु०) रूप के आगे असु (असुक्) आगम होकर भी रूप बनता है, यथा रुद्रा: और रुद्रासः (पा० ७।१।५०—आज्जसेरसुक्)। दे० स्वा० द० का अन्वय—हे मनुष्या यथा हिरण्यरथाः...रुद्रास सुवितायाऽगन्तन यूयमागच्छथ।

इन्द्रवन्तः—इन्द्र के साथ, इन्द्र से युक्त, स्वा० द० बह्विन्द्र ऐश्वर्यं विद्यते येषान्ते (बहुत ऐश्वर्य रखने वाले)। पदपाठ में नामपद के साथ जुड़े हुए मतुप्, वतुप् तद्धित प्रत्ययों को अवग्रह द्वारा पृथक् किया जाता है। (दे० वै० व्या०, पृ० १९९-२००)। मरुतों को प्राय इन्द्र का सेवक या सहायक बताया गया है। आध्यात्मिक दृष्टि से भी मन और प्राण की सङ्गति ध्यान देने योग्य है।

सजोषसः—स्क०-सम्प्रीयमाणा इन्द्रेण सहैव परस्परतो वा, सा०-परस्पर समानप्रीतयः, स्वा० द०—समानप्रीतिसेविनः, गेल्ड०—समरस (आइनत्रेशिग), ग्राम०—परस्पर संयुक्त (फेरआइन्त)। समान जोषः येषां ते (बहु०), किन्तु उत्तरपद के आदि में उदात्तत्व के लिये दे० वार्तिक—'परादिश्च परान्तश्च' इत्यादि।

हिरण्यरथाः—हिरण्मया रथा येषां ते, स्वा० द०-हिरण्यं सुवर्णं रथेषु येषां ते, यद्वा हिरण्यं तेज इव रथा येषां ते। बहुव्रीहि समास होने के कारण पूर्वपद में प्रकृतिस्वर (पा० ६।२।१—बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्)।

सुवितायं—या०-सुविताय कर्मणे, स्क०—यज्ञकर्मणे यज्ञसमाप्त्यर्थमित्यर्थः इण्) गतौ, अधिकरणे क्तः प्रत्ययः—शोभनं गम्यते यस्मिन् तत् सुवितं यज्ञकर्म।

छान्दसत्वादुपसर्गस्यापि सोऽवग्रहादेशः) । वें-सुप्रसूताय नर्मणे, सा०-सुगमनाय तत्साधनाय सुष्ठु सर्वैर्गन्तव्याय यज्ञाय तदर्थम्, स्वा० द०—ऐश्वर्याय, गेल्ड०—शोभन गति के लिये (रसु गुतेंर फाह् तें), ग्रास०—सातत्य, कल्याण, प्रसन्नता (फोर्नगांग, वोह्लफाह् त, ग्ल्युक) । मैं०—कल्याण, सुगति—दुरित (दुर्गति) का विपरीत, मक्स०-कल्याण, आशीर्वाद (वेल्फेअर, ब्लेसिंग) । शोभन-गति(सु+√इ क्त) इसका सीधा और स्पष्ट अर्थ है । (दे० ७।१००।२) ।

युस्मद्—स्क०, वें०, सा०—अस्माकम्, अस्मदीया (व्यत्ययेमात्र षष्ठी), स्वा० द०, गेल्ड०—अस्माक सकाशात् (हमारे पास से, हमारी ओर से)—यह अधिक ठीक प्रतीत होता है क्योंकि इससे किसी व्यत्यय की आवश्यकता नहीं पड़ती ।

तृष्णजे'—तृषिताय, (पिपासु के लिये)',—तृष्णक् (ज्)पु० चतुर्थी एक०, सा० तृष्णक् तृष्यते (√तृष् पिपासायाम् से 'स्वपितृषोर्नजिङ्'—पा० ३।२। १७२ से नजिङ् (नज्) प्रत्यय) । ऋ० में केवल एक और स्थान (१।८५।११) पर यह शब्द आया है, और वहाँ इसके विशेष्य 'गोतमाय' से इसका चतुर्थ्यन्त होना निश्चित है ।[१] किन्तु स्क० और दुर्गाचार्य ने इसे सप्तम्यन्त माना है (तृष्णा पिपासा सा जायते यस्मिन्, तां वा यो जनयति स तृष्णज' कालो ग्रीष्मान्तः तस्मिन् वृष्टिकाले) ।

उदन्यवे'—यह शब्द समस्त ऋ० में केवल यहीं है । उदकम् इच्छते, उदकेच्छवे (जल के इच्छुक के लिये)—उदन्यु पु० चतुर्थी एक०, सा० उदन्युः उदन्यते (उदक+क्यच् से 'अश्वाघस्यात्'—पा० ३।२।१७० से उ प्रत्यय । किन्तु स्क० ने एक पक्ष में यहाँ प्रथमार्थे चतुर्थी मानी है ।

अन्तिम पाद— में दी गई उपमा का सम्बन्ध दो प्रकार से जोड़ा जा सकता है । एक तो ऋचा के पूर्वार्ध में मरुतों के आगमन से, और दूसरे तृतीय पाद में मरुतों के प्रति स्तुति की कामना से । निस्सन्देह इनमें से प्रथम सम्बन्ध दूराकृष्ट है । द्वितीय सम्बन्ध स्वाभाविक भी है और अधिक काव्यात्मक भी । स्क० ने दोनों सम्बन्धों की दृष्टि से यह व्याख्या दी है —इयं युष्माकम् अस्माकं स्तुतिः कामयते, किमिव । उच्यते । ग्रीष्मान्ते काले यथा दिवः द्युलोकस्य सम्बन्धिन उत्सा । द्वितीयार्थे प्रथमैषा । उत्सान् मेघान् उदन्यवे इत्यपि प्रथमार्थे चतुर्थी । उदन्युः उदककामो लोकः कामयते, तद्वत् । अथवा उत्सा उदन्यवे इति स्वार्थे एव प्रथमाचतुर्थ्यौ । *व्यवहितस्य वा गन्तनेत्यस्येयमुपमा न प्रतिहृर्यत इत्यस्य* । यथा

---

१. दे अमर शुष्कोऽपिपासातृष्णक् ।

२ सा. ने सम्भवतया उवट के अनुकरण पर यहाँ भी 'तृष्णजे गोतमाय' दिया है ।

ग्रीष्मान्ते दिवः सम्बन्धिन उत्सा मेघा उदन्यवे उदककामस्य लोकस्यार्थाय गच्छन्ति तद्वदागच्छत ॥ वेंकट की प्रथमगम्य-धातुगामिणी व्याख्या यह है—यथा तृष्णजे तृष्णा जाता यस्य तस्मै उदकमिच्छते दिव मेघा आगच्छन्ति तद्वदागच्छतेति ॥ इसी प्रकार सायण—अस्मादागच्छत । उदन्यवे उदकेच्छवे तृष्णजे जातपिपासाय दिवः द्युलोकस्य सकाशात् उत्सा उदकनिष्यन्दा यथा युष्माभिः प्रेरिताऽस्मदर्थमागच्छन्ति तथाभिगमनम् इत्यर्थः । न पूरणे ॥ किन्तु गेल्ड० ने द्वितीय सम्बन्ध माना है—(हमारी स्तुति आपका स्वागत उसी प्रकार करती है) जैसे जल की इच्छा करने वाले पिपासु व्यक्ति के लिये आकाश के झरने करते हैं (श्री वेन दुग्तिगेन, वेघर नास कासमर पे अरलाम्न, दी वेतेल्लेन दस हिम्मेल्स)। रथ० ने इस उपमा का सम्बन्ध जोड़ने के लिये स्वत. कल्पना की है—तृष्णज उदन्यव उत्सा न ये दिव कामयन्ते तेऽस्माभि गन्तं सत्कर्तव्याः (तृष्णायुक्त, जल की इच्छा करने वाले के लिये कूप जैसे, वैसे जो कामनाओं की कामना करते हैं व हम लोगों से निरन्तर सत्कार करने योग्य हैं)। सातवलेकर ने तो दिव का सम्बोधन मानकर जो अर्थ किया है, उसमें व्याकरण की पूर्ण अवहेलना कर दी गई है क्योंकि स्वर की दृष्टि से सर्वानुदात्त न होने पर यह शब्द सम्बोधन कदापि नहीं हो सकता। सातवलेकर ने भी भाव पूर्ण करने के लिए अपनी ओर से कुछ जोड़ा है '—हे (दिव) तेजस्वी वीरो ! जिस प्रकार प्यासे और जल को चाहने वाले के लिये जलकुण्ड रखे जाते हैं, उसी प्रकार हमारे लिये तुम हो।

वाशीमन्त ऋष्टिमन्तो मनीषिणः सुधन्वान इषुमन्तो निषङ्गिणः ।
स्वश्वाः स्थ सुरथाः पृश्निमातरः स्वायुधा मरुतो याथना शुभम् ॥२॥

वाशीऽमन्तः । ऋष्टिऽमन्तः । मनीषिणः । सुऽधन्वानः । इषुऽमन्तः । निषङ्गिणः । सुऽअश्वाः । स्थ । सुऽरथाः । पृश्निऽमातरः । सुऽआयुधाः । मरुतः । याथन । शुभम् ॥

वाणी से युक्त, (त्वरित) गमन से युक्त मनीषी, (तुम)
शोभन प्रेरक, गति से युक्त, निषङ्गी (संग्रहकर्ता) ।
शोभन अश्वों वाले हो सुरथ, हे पृश्निमातृक (जन) !
शुभ युद्धशक्तियुत, मरुतो हे, जाते हो तुम शुभ को ॥

श्वास निश्वास क्रम से प्राण विशेष स्वर उत्पन्न करते हैं वही मानो उनकी वाणी है। जैसे मनीषी के सभी कार्य नियमित होते हैं उसी प्रकार प्राण भी नियमित रहते हैं, इसीलिये इन्हें मनीषी कहा गया है। निषङ्ग तरकैस को कहते हैं। जिस प्रकार तरकस बाणों के संग्रह के लिये प्रयुक्त होता है

उसी प्रकार ये प्राण भी जीव के लिये शक्ति का संग्रह करते रहते हैं। उसी शक्ति को संकेतित करने के लिये इन्हें शोभन अश्वों वाला कहा गया है। अश्व (अश्नुतेऽध्वानम्) उस शक्ति का प्रतीक है जो किसी को कहीं ले जाने में सहायक होती है। प्राणों की माता अन्तरिक्ष (पृश्नि) है। सकल विश्व में व्याप्त वायु का आधार होने के कारण ही अन्तरिक्ष को माता कहा जाता है। इसीलिये वायु का एक नाम 'मातरिश्वा' है। इस मन्त्र में आये मरुतों के विशेषण जिस प्रकार आध्यात्मिक दृष्टि से प्राणों के लिये सङ्गत हैं, उसी प्रकार आधिभौतिक दृष्टि से वीर पुरुषों और आधिदैविक दृष्टि से वायुदेव या वृष्टिदेव के लिये भी सङ्गत हो सकते हैं।

वाशीमन्त —स्क०-वाशी प्रसिद्ध शस्त्रविशेषो लोके तद्वन्त', वें०-वास्यायुधयुक्ता, सा०-तक्षणसाधनमायुध वाशी, तद्वन्त, ग्रास०, गेल्ड०, मै०, सात०-कुठार से युक्त (मिट एक्स्तेन), मक्स०-छुरे (डैगर) से युक्त। किन्तु स्वा० द०-प्रशस्ता वाग् विद्यते येषा ते (उत्तम वाणी है जिनकी), इसकी पुष्टि या० (४।१६) की निरुक्ति से होती है—वाशीति वाङ्नाम वाशत इति सत्या'—√वाश् (शब्द करना) से। ग्रास० के अनुसार वाशी शब्द (वासी का रूपान्तर) √वस=वश्च् से निष्पन्न है। किन्तु √वाश् (शब्दे) दिवादि० धा० से इसका निर्वचन सीधा है।

ऋष्टिमन्त —स्क० ऋष्टय शक्तय तद्वन्त', वें०-शक्तिमन्त, सा०-छुरिकावन्त', स्वा० द० ज्ञानवन्त (ज्ञान वाले), ग्रास०, गेल्ड०, मै०, सात०-भाले धारण करने वाले। मै० के अनुसार ऋष्टि शब्द √ऋष् (घोंपना) से निष्पन्न है। आश्चर्य की बात है कि स्वय मै० की धातुसूची में √ऋष् का अर्थ दौड़ना (रन) दिया है। अत √ऋष् गतौ से व्युत्पत्ति मानकर इसका अर्थ 'गति से युक्त' करना उचित प्रतीत होता है। ऋष्टि शब्द से मतुप् प्रत्यय लगकर यह शब्द बना है, अत 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' (पा० ३।१।४) के अनुसार पित् प्रत्यय मतुप् अनुदात्त होना चाहिये था। परन्तु ऋष्टि शब्द ह्रस्वान्त और अन्तोदात्त होने के कारण 'ह्रस्वनुड्भ्या मतुप्' (पा० ६।१।१७६) से यहाँ मतुप् प्रत्यय उदात्त है।

सुधन्वान —शोभन धनुषो को धारण करने वाले (शोभन धनूंषि येषा ते)। यहाँ धनुष् शब्द प्रेरणा का प्रतीक है क्योंकि यही से बाणों को लक्ष्य पर पहुँचने की प्रेरणा और बल मिलते हैं। (दे० या० ६।१६—धनुर्धन्वतर्गतिकर्मणो वधकर्मणो वा। धन्वन्त्यस्मादिषव। √धवि गतौ स्वा० द०) बहुव्रीहि समास होने पर भी पूर्वपद सु होने के कारण उदात्त नहीं है (पा० ६।२।१७२—नञ्सुभ्याम्)।

इषुमन्त —बाणों से युक्त (बाणवन्त)। यहाँ भी इषु शब्द गति का

प्रतीक है। इसके मूल में √ईष् गतौ धातु है। (दे० या० ६।१८-इषुरीषते र्गतिकर्मणो वधकर्मणो वा।) इषु शब्द ह्रस्वान्त होने पर भी अन्तोदात्त न होने के कारण यहां सामान्य नियम (अनुदात्तौ सुप्पितौ) के अनुसार मतुप् प्रत्यय अनुदात्त ही है। यदि मरुतों को वृष्टिदेव माना जाये तो धनुष् बिजली और बाण जल की धाराएं होंगे।

स्वश्वा.—शोभन अश्वों वाले (शोभना अश्वा येषां ते)। सुधन्वानः के समान यहां भी सु उदात्त नहीं है (दे० पदपाठ)। यदि मरुतों को वृष्टिदेव मानें तो ये घोड़े सम्भवतया वायु होंगी जो उनका वाहन बनती है। उन्हें वीर योद्धा मानने पर तो उपर्युक्त सभी विशेषण अभिधार्थ में ही लिये जा सकते हैं। इसी प्रकार सुरथा की व्याख्या होगी—रथ और अश्व में विशेष भेद नहीं है।

पृश्निमातरः—हे पृश्निरूपी माता वाले या पृश्नि जिनकी माता है। वाक्य के मध्य में सम्बोधनपद होने के कारण सर्वानुदात्त है। स्क० ने पृश्नि को द्यौ माना है (विनर्दी सा माता येषां ते), और वें० ने इसे गौ माना है (गोमातर), स्वा० द०-पृश्निरन्तरिक्षं मातेव येषां ते (अन्तरिक्ष है माता के सदृश जिनकी), मात०-हे भूमि को माता मानने वाले वीर मरुतो, ग्राम०-चितकबरी गौ (लाक्षणिक दृष्टि से मेघ) रूपी माता वाले। या० (२।१४) ने पृश्नि का अर्थ आदित्य बताते हुए इसके ये निर्वचन दिये हैं—पृश्निरादित्यो भवति, प्राश्नुत एनं वर्ण इति नैरुक्ताः, संस्प्रष्टा रसान्, संस्प्रष्टा भास ज्योतिषां, संस्पृष्टो भासेति वा॥ सा०-अन्यत्र (ऋ० १।८५।२ में)—नानारूपाया भूमेः पुत्राः (प्राश्नुते सर्वाणि रूपाणीति पृश्नि भूमिः)। अर० पृश्नि का प्रयोग ऋषभरूप परम पुरुष तथा गोरूपा स्त्री शक्ति दोनों के लिये होता है। अतः पृश्निमातरः मरुतः उस स्त्रीशक्ति से उत्पन्न जीवनशक्तियां और विचारशक्तियां हैं। वा० श० के अनुसार पृश्नि चित्रवर्णा शबला सत्व रजस्तम इति त्रिगुणात्मिका प्रकृति है। श्वेताश्वतर उपनिषद् (४।५) में उसे ही रक्त, श्वेत और कृष्ण वर्ण की बताया गया है—अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्। यह व्याख्या मरुतों की ब्रह्माण्डकिरणों के रूप में कल्पना से पूर्ण मेल खाती है क्योंकि सृष्टि के प्रारम्भ में उन किरणों की उत्पत्ति प्रकृति से ही हुई। (दे० वे० वि० नि०, पृ० १५६-१६१), पृश्नि से तु० यू०-पैक्नॉस।

स्वायुधा.—शोभन शस्त्रास्त्रों वाले (शोभनानि आयुधानि येषां ते)। यहां भी प्राणों के सम्बन्ध में आयुधों को प्रतिरोध शक्ति का प्रतीक मानना होगा। प्राण निरन्तर अनिष्ट विजातीय द्रव्यों का प्रतिरोध करते रहते हैं। वृष्टिदेवों के प्रसङ्ग में ये आयुध विविधाकार की विद्युत् ही हो सकती है।

यातन—जाओ। 'संहितायाम्' (पा० ६।३।११४) के अनुसार संहितापाठ

में यह पद दीर्घान्त है। √या लोट् म० पु० बहु० में त प्रत्यय के स्थान पर 'तप्तनप्तनथनाश्च' (पा० ७।१।४५) के अनुसार 'थन' प्रत्यय है। व्याख्याकारों में से केवल स्क० (गच्छत) ने इसे लोट् लकार में माना है। अन्य सभी भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वान् इसे लट् म० पु० बहु० का रूप मानकर व्याख्या करते हैं। (दे० वै० व्या०, भा० २, पृ० ६८६, टि० १६)।

अन्तिम दोनों पादों में—एक-एक अक्षर कम होने से इस मन्त्र के छन्द को विराड् जगती की संज्ञा दी जा सकती है। अथवा व्यूह के द्वारा 'सुमखा' और 'सुमायुधा.' उच्चारण से जगती छन्द की पूर्ति की जा सकती है।

धूनुथ द्यां पर्वतान् दाशुषे वसु नि वो वना जिहते यामनो भिया।
कोपयथ पृथिवीं पृश्निमातरः शुभे यदुग्राः पृषतीरयुग्ध्वम् ॥३॥

धूनुथ। द्याम्। पर्वतान्। दाशुषे। वसु। नि। वः। वना। जिहते। यामन। भिया। कोपयथ। पृथिवीम्। पृश्निऽमातरः। शुभे। यत्। उग्राः। पृषतीः। अयुग्ध्वम् ॥

कँपाते नभ को शैलों को, दाता के हित धन को,
अत्यधिक तुम्हारे वन थरति गमन की भीति से।
करते हो कुपित धरा को, हे पृश्निसमातृको!
शुभार्थ जब उग्रो! धब्बे वालों को जोता तुमने ॥

यहाँ मरुतों का आध्यात्मिक प्राणरूप बहुत स्पष्ट नहीं है। वीरयोद्धाओं का रूप अत्यन्त स्पष्ट है। इस प्रसङ्ग में केवल पृश्निमातरः का अर्थ भूमिपुत्र करना पड़ेगा। वृष्टिदेव के रूप में पृषती से अभिप्राय विविधरूपों वाले या सेचन समर्थ मेघ होगा। किन्तु फिर भी आध्यात्मिक दृष्टि से नभ मस्तिष्क है, पर्वत विविध अंगों के जोड़ हैं, वन सम्भवतया सारे शरीर में व्याप्त रोम हैं। प्राणों की गति से ही समस्त शरीर और उसके अवयवों में कम्पन अर्थात् क्रियाशीलता आती है। धरा को कुपित करना भी शरीर को सञ्चालित करने की प्रतीकात्मक उक्ति है। पृषती. का अर्थ सेचनसमर्थ रक्तवाहिनी नाड़ियाँ हो सकता है क्योंकि रक्तसञ्चार प्राणों का प्रमुख कार्य है। रक्तसञ्चार के बिना प्राण निरर्थक हो जाते हैं।[1]

प्रथम पाद—स्क०-चिकीर्षितमजानती कम्पयथ द्या दिवं पर्वतान् च। दाशुषे हवींषि दत्तवते यजमानाय। यजमानायेति सम्प्रदानचतुर्थीश्रुते. दत्तेति वाक्यशेष। (अभीष्ट कार्य से अपरिचित आकाश को और पर्वतों को कँपाते

1. दे. वै. वि. द., भा. २, पृ. ४२२—"मरुत् पृथक् या प्राणरूप भवन में रहते हैं।"

हो, आहुति करने वाले यजमान को वर्षा का जलरूप धन—धन वृष्टयुदक-लक्षणम्—दे दो) वें०-कम्पयथ दिव मेघाश्च यजमानाय धनम्। सा० द्याम् में द्वितीया कोसप्तम्यर्थक मानकर धूनुथ का अन्वय वें० के समान ही करता है—द्या दिवीत्यर्थः पर्वतान् मेघान् दाशुषे हविर्दात्रे यजमानाय वसु धनानि च धूनुथ प्रापयथ। स्वा० द० ने यत् का अन्वय इसी पाद के साथ किया है—यत् ये यूयम् वायव इव द्यां विद्युत पर्वतान् मेघान् च धूनुथ कम्पयथ, तत् ते दाशुषे दात्रे वसु द्रव्यं धूनुथ कम्पयत (जो आप लोग बिजुली और मेघों को कंपाइये वह दाताजन के लिये द्रव्य को कम्पित कीजिये)। सात०-दानी को धन देने के लिये जब तुम चढ़ाई करते हो, तब द्युलोक को और पहाड़ों को भी तुम हिला देते हो। गेल्ड०-तुम यजमान के लिये आकाश और पर्वतों से धन का धूनन करते हो (ईमर श्युत्तैल्न फोम हिम्मॅल, फोन दॅन बॅर्गॅन दास गूत फ्यूर दॅन ऑफ्फरस्पॅंडर)। यहाँ √धू को द्विकर्मक धातु मानकर अर्थ किया गया है—तदनुसार अपादानकारक से विवक्षित द्यौ. और पर्वत शब्दों की भी कर्म संज्ञा होने से ये शब्द द्वितीया में माने गये हैं।[1] परन्तु √धू का अन्वय वसु के साथ लाक्षणिक अर्थ में किया जा ही सकता है। "धन को कंपा देते अर्थात् बरसा देते हो।" आप मानो दानी व्यक्ति में प्रफुल्लता का और निर्भयता का सञ्चार करते हैं।

वनां—जङ्गल, वृक्षादि, वेबल स्क०—वनानि उदकानि वृष्टिलक्षणानि। 'शेश्छन्दसि बहुलम्' से शि का लोप।

नि, जिहते—स्क०-नीचैर्गच्छन्ति, वें०-नीचैन गच्छन्ति, सा०-नितरां कम्पन्ते, अवनता भृशं त्रसन्तीत्यर्थः। स्वा० द०-गच्छन्ति (जो आप लोगों को जंगल प्राप्त होते हैं, उनको जाने वाले आप लोग नि कोपयथ—निरन्तर कंपाइये) यहाँ नि का सम्बन्ध जिहीते से न मानकर कोपयथ से माना गया है। मान० बहुत ही काँपने लगते हैं। गेल्ड०-अपने आप को झुकाते हैं (डूकॅन ज़िश दी वेल्डर)। √हा (ओहाङ् गतौ) जुहोत्यादि० लट्, प्र० पु० बहु०।

यामनः—स्क०-यान याम गमनम् तस्मात् भयेन युष्मद्गमनभयेन। गमनाय प्रवृत्तेष्वेव युष्मासु मेघेन मुक्तान्युदकानि पतन्तीत्यर्थः। वें०—युष्माकं गमनात् भयेन, सा०—युष्माकं गमनस्य भीत्या, स्वा० द०—ये यान्ति ते (जाने वाले आप लोग), सा० -हमले के डर से।

कोपयथ—वें., सा०,-क्रुद्ध करते हो (कोपयथ), किन्तु स्क०-आकुलीकुरुथ

1. द. वं. व्या., भा. २, पृ. ८२२, यह स्मरणीय है कि पा. १।४।५१ पर कारिका (दुह्याच् इत्यादि) में √धू धातु नहीं गिनाई गई।

समस्तां पृथिवीम्, स्वा० द०-निरन्तर कँपाइये (लकार व्यत्यय, लट् के स्थान पर लोट्), सात०, गेल्ड०, ग्रास०—क्षुब्ध कर डालते हो (ईग्रर ब्रिगत दी एर्दे इन ग्रोफ हूर)। वैदिक प्रयोग से √ कुप् का मूल अर्थ स्थूल, भौतिक 'काँपना, हिलना, क्षुब्ध होना' प्रतीत होता है। धीरे-धीरे इस धातु का क्षेत्र भौतिक से मानसिक हो गया। अतः परवर्ती भाषा में √ कुप् क्रोधे। और क्रोध में भी काँपना, हिलना जैसी मूल क्रियाएँ स्पष्ट दिखाई देती हैं।[1]

शुभे—जल के लिये (उदकार्थम्)—शुभमित्युदकनाम (निघ० १।२), पाश्चात्य विद्वान्-शोभा के लिये (शुभ्-स्त्री० चतुर्थी एक०)।

पृषतीः—अश्वा (घोड़ियों को), पाश्चात्य विद्वान्-धब्बे वाली (घोड़ियों) को, सात०-धब्बे वाली हिरणियाँ, स्वा० द०-सेचनकर्त्र्युदकधाराः (सेचन करने वाली जल की धाराओं को), वेलएकर-भूरे रंग की घोड़ियाँ। पृषतियाँ मरुतों का वाहन हैं (निघ० १।१५।६-पृषत्यो मरुताम्)। ये धब्बे वाली घोड़ियाँ सम्भवतया वृष्टिदेव मरुतों के सहायक विविधवर्ण वाले मेघ हैं। धातुमूलक अर्थ के अनुसार पृषतीः (√ पृष्-भ्वा० सेचने) सेचनशील मेघरूपी घोड़ियाँ हैं। 'धब्बे' अर्थ के मूल में भी सेचन या बिन्दुओं का भाव विद्यमान है। प्राणों के सन्दर्भ में ये घोड़ियाँ सेचनशील रक्तवाहिनी नाड़ियाँ भी हो सकती हैं।

अयुग्ध्वम्—जोतते हो (योजयथ), गेल्ड०-जब तुमने जोत लिया है, स्वा० द०-युक्त कीजिये (व्यत्यय से लङ् के स्थान पर लोट् माना गया है), तिङन्त पद होते हुए भी वाक्य में यत् शब्द होने के कारण अद् उदात्त है।

वातत्विषो मरुतो वर्षनिर्णिजो यमा इव सुसदृशः सुपेशसः।

पिशङ्गाश्वा अरुणाश्वा अरेपसः प्रत्वक्षसो महिना द्यौरिवोरवः ॥४॥

वातऽत्विषः। मरुतः। वर्षऽनिर्निजः। यमाःऽइव। सुऽसदृशः। सुऽपेशसः। पिशङ्गऽअश्वाः। अरुणऽअश्वाः। अरेपसः। प्रऽत्वक्षसः। महिना। द्यौःऽइव। उरवः॥

वायुसम तेजस्वी (वे) मरुत् वृष्टि रूप के धारक,
यमजों के सम शुभ सदृशरूप शोभन (तेज से युक्त)।
भूरे अश्वों, लाल अश्वों वाले पापरहित (वे),
प्रकृष्ट कार्य करने वाले, महत्त्व से नभ सम विशाल ॥

इस मन्त्र में वृष्टि के साथ मरुतों का सम्बन्ध अत्यन्त स्पष्ट है। मरुतों

1. दे. पीटर्सन, हिम्स फ्राम दि ऋग्वेद, पृ. ११५, ऋ. २।१२।२ पर टि. २, मै. ने आश्चर्यजनक रूप से बै. धा. स्टु. के धातुकोश में कुप् का अर्थ 'क्रुद्ध होना' दिया है—की एशी।

को ब्रह्माण्ड किरणें मानने पर भी अर्थ में कोई कठिनाई नहीं होती। किन्तु इन्हें मनुष्य, सैनिक या प्राण मानने पर प्रथम पाद में स्पष्टता नहीं रहती, विशेष रूप से 'वर्पनिर्णिज' शब्द में। फिर भी इस प्रसङ्ग में 'वातत्विष' से अभिप्राय 'वायु के समान प्रवाहमय तेज वाले' या 'वायु के समान सतत प्रवाह ही जिनका तेज है' हो सकता है। प्राण निरन्तर प्रवाहमय रहते हैं, और वही प्रवाह उनका तेज है। इसी प्रकार सैनिकों की गति ही उनका तेज है। 'वर्पनिर्णिज' का भाव इस प्रसङ्ग में यह हो सकता है कि जिस प्रकार वर्षा में जल बिन्दुओं का तांता बंधा रहता है उसी प्रकार इनका (प्राणों या सैनिकों का) भी क्रम निरन्तर चलता है। जैसे जुड़वाँ सन्तान एक दूसरे से अभिन्न होती है उसी प्रकार प्राणों में भेद नहीं किया जा सकता—सब एक समान होते हैं। प्राणों के प्रसङ्ग में भूरे और लाल अश्व क्रमशः शिराएँ और धमनियाँ हो सकती हैं क्योंकि उनमें क्रमशः मटमैले और लाल रंग का रक्त प्रवाहित होता है। उन्हें प्राणों का अश्व कहना सर्वथा उचित है। दे० चरक०-तद्विशुद्धं हि रुधिरं बलवर्णसुखायुषा। युनक्ति प्राणिनं प्राणः शोणितं ह्यनुवर्तते ॥[1] अपने महत्त्वपूर्ण कार्य के कारण प्राण नभ के समान विशाल अर्थात् महान् हैं।

वातत्विषः—यह शब्द ऋ० में केवल एक और मन्त्र (५।५४।३) में आया है और वहाँ भी यह मरुतों का ही विशेषण है।—वातस्य इव त्विट् येषां ते (बहु०)। इस प्रसङ्ग में स्क०, वें० और सा०-तीनों ने वात का यौगिक अर्थ (√वा गतिगन्धनयोः से निष्पन्न) लेकर व्याख्या की है। स्क० वाता गता प्राप्ता त्विट् दीप्तिर्येषां ते, वें० निर्गच्छद्दीप्तयः (जिनमें से दीप्ति प्रकट हो रही है), सा०-सर्वत्र प्राप्तदीप्तयः (जिनका प्रकाश सर्वत्र व्याप्त है)। त्विट् शब्द √त्विष् दीप्तौ (चमकना) से क्विप् प्रत्यय द्वारा बनता है। स्वा० द० और मक्स० ने वात का रूढार्थ 'वायु' लेकर क्रमशः यह व्याख्या की है—वातस्य त्विट् कान्तिर्येषां ते, ब्लेज़िंग विद् द विंड (वायु से देदीप्यमान)। परन्तु मक्स० की व्याख्या में स्वरविषयक आपत्ति आ जाती है क्योंकि तदनुसार यह उपपद समास होगा और उक्त समास के कृत्प्रत्ययान्त पद का प्रकृतिस्वर होता है (दे० पा० ६।२।१३९—गतिकारकोपपदात् कृत्), परन्तु यहाँ बहुव्रीहि का पूर्वपदप्रकृतिस्वर है। मै० प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार √त्विष् का अर्थ क्षुब्ध होना (बी स्टर्ड) है। तदनुसार उन्होंने 'वायु के समान क्षुब्ध' अर्थ किया है (दे० गेल्ड०-हैफ्तिग वी देभर विंड)।

---

1. सुश्रुत संहिता शारीरस्थान (जयदेव विद्यालङ्कार—१६३२, लाहौर) पृ० १२७ में से उद्धृत।

सात०-प्रखर तेज से युक्त। वायु में तेज की कल्पना ऋ० १०।१६८।१ की वात-सम्बन्धी इस उक्ति से भी स्पष्ट होती है—दिविस्पृग् यात्यरुणानि कृण्वन् (अरुणिमाएँ उत्पन्न करता हुआ वात आकाश का स्पर्श करता हुआ जा रहा है)।

व॒र्षनि॑र्णिजः—वर्षं इव निर्णिक् येषां ते (बहु०)—वर्षा जैसा रूप है जिनका। स्क०—निर्णिक (निघ० ३।७) इति रूपनाम। वृष्टिरूपाश्च। वृष्टिकर्मप्रादुर्भावाद्धि मरुतस्तद्रूपा इव लक्ष्यन्ते। अथवा निर्णिक् इति णिजिर् शौचपोषणयोरित्यस्य रूपम्। सर्वप्राणिनां वृष्ट्या निश्चयेन पोषयितारः (वर्षा से सब प्राणियों के पोषक)। वें०-वर्षरूपाः, सा०-वृष्टेः शोधयितारः (वृष्टि के शोधक), अथवा निर्णिगिति रूपनाम। वर्षमेव रूपं येषां ते तादृशाः, वृष्टिप्रदा इत्यर्थः। स्वा० द०-ये वर्षं निर्नेनिजन्ति ते। यह व्याख्या सा० की प्रथम व्याख्या के समान है। किन्तु इसमें और स्क० की दूसरी व्याख्या में स्वर सम्बन्धी आपत्ति होती है, क्योंकि इसके अनुसार यह उपपद समास बनता है, परन्तु स्वर बहु० का है (दे० ऊपर वातत्विषः पर टि०)। पाश्चात्य विद्वानों ने निर्णिज् का अर्थ 'वस्त्र' मानकर व्याख्या की है—'वर्षारूपी वस्त्र वाले' या 'वर्षा में लिपटे हुए' (क्लोट्ज इन रेज)। सा० ने निर्णिज् का अर्थ तो वस्त्र माना है, परन्तु वर्ष का अर्थ स्वदेश किया है—स्वदेशी कपड़ा पहनने वाले।

यु॒मा इ॑व—पदपाठ में दोनों पदों के मध्य अवग्रह होने से पता चलता है कि यह समास है। इव सर्वानुदात्त है।

सु॒सं॒दृशः॑—सुष्ठु सदृशः (शुभ रूप में समान)। यह प्रादिसमास है। 'सु' निपात प्रादि के अन्तर्गत होने के कारण यहाँ पा० ६।२।२ और उस पर वार्तिक 'अव्यये नञ्कुनिपातानाम्' के अनुसार पूर्वपद पर प्रकृतिस्वर है।

सु॒पेश॑सः—शोभनं पेशः (रूपम्) येषां ते (बहु०)—सुन्दर रूप वाले। बहु० में 'सु' पूर्वपद होने के कारण 'सोर्मनसी अलोमोषसी' (पा० ६।२।११७) के अनुसार उत्तरपद के आदि अक्षर 'पे' पर उदात्त है। पेशस् की निरुक्ति-नि० ८।११—पेश इति रूपनाम, पिंशतेर्विपिंशितं भवति। (✓ पिश् अवयवे +असुन्)।

अ॒रे॒पसः॑—पापरहिताः, अविद्यमानं रेपः येषां ते (बहु०), आदि में नञ् होने के कारण उत्तरपद में उदात्त है (दे० वै० व्या० भा० २, पृ० ८६५ (क) १)। यह ध्यान देने योग्य है कि पदपाठ में इस समास के पदों को अवग्रह द्वारा पृथक् नहीं किया गया। नञ् समास तथा देवता द्वन्द्व में अवग्रह नहीं दिखलाया जाता (दे० वै० व्या० भा० १, पृ० १९७)। दे० वा० प्रा० ५।२४—प्रतिषेधे नावग्रहः। नि. १२।४ में मुकुन्द बख्शी झा ने यह निर्वचन दिया

है :—रिफ कत्थनयुद्धनिन्दाहिंसादानेषु (तुदादि० परस्मै०) ततोऽसनि फस्य पः पृषोदरादित्वात् । किन्तु पाश्चात्य विद्वान् इसमे √रिप् लिपटाना (√लिप्) मानते हैं। तदनुसार भाव होगा निर्लेप, निर्दोष। इस प्रसङ्ग मे यह प्रवधेय है कि अकेला रेपस् शब्द ऋ० मे केवल एक बार (४।६।६ मे) आया है। √रिप् > √लिप् से तु० यू० लिपोस्, ला. लिप्पुस् गोथिक-विलाइबन।

प्रत्वक्षसः—प्रकर्षेण त्वक्षसः—प्रादि समास होने के कारण पूर्वपद उदात्त (दे० पा० ६।२।२)। यह शब्द √त्वक्ष् से निष्पन्न है। पाणिनीय धातुपाठ मे दिये गये इसके अर्थ (तनूकरणे—पतला करना, क्षीण करना) के अनुसार भारतीय भाष्यकारों ने 'प्रकर्षेण शत्रूणा तनूकर्तारः' (शत्रुओं का पूर्ण विनाश करने वाले) अर्थ किया है। मै० ने तो त्वक्ष् धातु अपनी धातु सूची मे दी ही नही है। ग्रास० के अनुसार इसका अर्थ 'बलिष्ठ होना' है। तदनुसार पाश्चात्य विद्वानों ने इस शब्द का अर्थ 'अत्यन्त बलवान्, ओजस्वी' (ग्रास० तातक्रेफ्तिग) किया है। यास्क ने एक स्थान पर √त्वक्ष् का अर्थ 'कार्य करना' दिया है (दे० नि० ८।१३—त्वक्षतेर्वा स्यात् करोतिकर्मणः)। तदनुसार अर्थ होगा—प्रकृष्ट कार्य करने वाले।

महिना—'महिम्न्' से तृतीया एक० में उपधालोप के साथ साथ उपधा से पूर्ववर्ती म् का भी लोप। यह रूप ऋ० में अधिक प्रचलित है। (दे० वै० व्या०, पृ० २७४ (३))।

द्यौरिव—स्क०, वें—द्युलोक इव, सा०-अन्तरिक्षमिव, स्वा० द०-सूर्य इव। पदपाठ में दोनों पदों के मध्य अवग्रह से समास। यह नित्य समास है—दे० वार्तिक-इवेन नित्यसमासो विभक्त्यलोपश्च।

पुरुद्रप्सा अञ्जिमन्तः सुदानवस्त्वेषसंदृशो अनवभ्रराधसः।
सुजातासो जनुषा रुक्मवक्षसो दिवो अर्का अमृतं नाम भेजिरे ॥५॥

पुरुऽद्रप्साः। अञ्जिऽमन्तः। सुऽदानवः। त्वेषऽसंदृशः। अनवभ्रऽराधसः। सुऽजातासः। जनुषा। रुक्मऽवक्षसः। दिवः। अर्काः। अमृतम्। नाम। भेजिरे ॥

> अतिप्रवाहयुत (सकल शरीर में) लिप्त, सुदाता (देव),
> महाबलरूपी अच्युत (उत्साह शक्ति)—धन वाले हैं।
> भले [illegible] उत्पन्न जन्म से द्युतियुत उर वाले हैं,
> नभ से (उतर) पूज्य (इन्होंने) अमृत नाम पाया है॥

ये प्राण निरन्तर प्रवाहमय हैं। ये लिप्त हैं, शरीर से एकाकार हैं। ये जीवनदान देने वाले हैं. ये ही बलरूप हैं। ये अच्युत धन वाले हैं। और हम

जानते हैं कि ऋष्टुत धन केवल स्वास्थ्य ही है। मनुष्य के जन्म के साथ ही साथ ये उत्पन्न होते हैं और इनसे ही मनुष्य का वक्षःस्थल तेजस्वी रहता है। वायु मानो प्राणरूप में आकाश से उतर कर भू लोक में आता है (यों तो वायु सर्वत्र व्याप्त है ही) और जब तक प्राण होते हैं तब तक मनुष्य की मृत्यु नहीं होती। इसलिये इन्हें अमृत भी कहा जाता है। यदि मरुतों को वृष्टिदेव माना जाये तो ऋष्टुत धन जल होगा, द्युतिमुत उर से विद्युत् का अभिप्राय होगा। इसी प्रकार यदि मरुतों को योद्धा माना जाये तो द्युतिमुत उर से तात्पर्य वक्षः-स्थल पर 'माला जैसा आभूषण पहनने वाले' होगा। नभ से उतर कर अमृत नाम पाने का अभिप्राय है कि मानो ये दिव्य शक्ति लेकर आते हैं और अपने वीरता के कार्यों से इस संसार में यश द्वारा अमर हो जाते हैं।

पृषुद्रप्साः—स्क०-पृषः द्रप्सो रसः पयोघृतादिर्यषां ते, वें०—अनेकोदक-बिन्दवः, सा०-प्रभूतोदकाः। स्वा० द०—बहुमोहाः (सम्भवतया √दृप् (घमण्ड करना) से)। सात०-यथेष्ट जल समीप रखने वाले। मक्स०-बहुत अधिक वर्षा की बूँदों वाले (रिच इन रेनड्रॉप्स)। ग्रास०, गेल्ड०-बूँदों में समृद्ध (ट्रॉफ़्न-राइश)। यह शब्द ऋ० में केवल एक बार इसी स्थान पर आया है। इसके अर्थ का मुख्य आधार द्रप्स शब्द है। यास्क (नि० ५।१४) ने इस शब्द की निम्न-लिखित निरुक्ति दी है—द्रप्सः सम्भृतः प्सानीयो भवति। दुर्गाचार्य के अनुसार सम्भृतः का अर्थ स्त्री द्वारा धारण किया गया 'पुरुष-रेतस् या शुक्र' है और प्सानीय का अर्थ भक्षणयोग्य द्रव 'दही' है। द्रप्स का 'शुक्र' अर्थ मानते हुए ही इसका निर्वचन अन्य विद्वानों द्वारा √दृप् (हर्षादो) से भी किया गया है—दृप्यन्त्यनेनेति (जिससे लोग घमण्ड करते हैं)। किन्तु इन निर्वचनों से पूर्ण व्याख्या नहीं होती। यदि 'द्रवति च प्सानीयश्च भवति' निर्वचन किया जाये तो पूर्ण व्याख्या हो जाती है—(जल की) बूँद या धारा या प्रवाह जो बहता भी है और भक्षण योग्य या पीने योग्य भी होता है। ग्रास० ने √द्रु को आधार मानकर इसके मूलरूप 'द्रप्स' की कल्पना की है। इससे तु० जर्मन—ट्रॉफ़न, अ-ड्रॉप् (स)। बहुव्रीहि समास होते हुए भी यह अन्तोदात्त है (दे० वा० परादिश्च परान्तश्च इत्यादि, और वै० व्या० भा० २, पृ० ८६५, ३)।

अञ्जिमन्तः—पदपाठ के लिये दे० प्रथम मन्त्र में 'इन्द्रवन्तः' पर टि०। अधिकांश भाष्यकार-आभरणवन्तः (आभूषणों से युक्त, आभूषण धारण किये हुए)। ग्रास०—'अनुलिप्त' भी (गेसाल्ब्त)। स्वा० द०-प्रकृष्टा अञ्जयः कामना विद्यन्ते येषां ते। अञ्जि शब्द √अञ्ज् (व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु) से निष्पन्न है। इसका प्रमुख अर्थ 'लेप करना' है।

सुदानव—शोभन दान वाले, केवल ग्रास०-अत्यधिक वृष्टि-बिन्दु वाले

(दे० योर्तंरबुल स्मुम ऋग्वेद)। बहुव्रीहि समास होते हुए भी 'आद्युदात्त द्वय-च्छन्दसि' (पा० ६।२।११९) के अनुसार सु के पश्चात् दो स्वर वाले आद्युदात्त उत्तर पद दानु का आदि अक्षर उदात्त है।

त्वेषसंदृशः—दीप्तदर्शना-दीप्तियुक्त रूप वाले (√त्विष् दीप्तौ—चमकना), स्वा० द०-ये त्वेषं सम्पश्यन्ति (जो प्रकाशरूप को देखते हैं या दीप्तिपूर्वक देखते हैं)। सात०-तेजस्वी दीख पड़ने वाले। पाश्चात्य विद्वान्—अभिभूत करने वाला रूप है जिनका, भयानक रूप वाले (ऑफ टैरिबल आस्पेक्ट—मैं०, गेल्ड०-फॉन युरबेंल्तिगेंन्देम आन्बिलक)। यास्क ने (नि० १०।२१) 'त्वेषप्रतीका' के निम्नलिखित चार अर्थ दिये हैं—भयप्रतीका, बलप्रतीका, महाप्रतीका, दीप्तप्रतीका वा। तदनुसार 'त्वेष' के 'भय, बल, महा और दीप्त' अर्थ हैं। पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार √त्विष् का अर्थ 'तीव्र, भयानक गति में होना, क्षुब्ध होना' है।

अनवभ्रराधसः—यह शब्द ऋ० में केवल मरुतों के लिये प्रयुक्त हुआ है। स्क०—अवभ्रमिति विमर्शधारणास्य रूपम्, अव यत्र भ्रियते, धारित हस्यते यत्तद्, अवभ्रराधो धन येषां ते अवभ्रराधसो निकृष्टधना, न अवभ्रराधस अनवभ्रराधस-उत्कृष्टधना (उत्तम धन वाले), वें० अनवभ्रंशितयजमानधना (यजमान के धन को नष्ट न करने वाले), सा०-अनवभ्रष्टधना, स्वा० द०-न विद्यतेऽवभ्रो धननाशो येषां ते, मक्स०-असमाप्य सम्पत्ति वाले (ऑफ इन्-एग्जॉस्टिबल वैल्थ), ग्रास०—अनश्वर पुरस्कार देने वाले, गेल्ड०, ग्रास० जिनका धन (उपहार) कोई छीन नहीं सकता (दी जिन दी गाबें निदल ए'न्ना इस्सन लास्सन)।

सुजातासः—शोभन जन्म वाले, सुष्ठु शोभन वा जाता—सुजात शब्द में उत्तरपद जात, 'जूयमानात् क्त' (पा० ६।२।१४५) के अनुसार अन्तोदात्त है। 'आज्जसेरसुक्' से जस् विभक्ति के आगे असुक् भी।

रुक्मवक्षसः—रुक्मा वक्षस्सु यषां ते (बहु० पूर्वपद पर प्रकृतिस्वर)। स्वर्णाभूषणों से युक्त वक्षस्थल वाले। स्क० ने 'रोचिष्णुरस्का' (तेजस्वी वक्ष वाले) अर्थ भी किया है (रुक्माणि वक्षांसि येषां ते)। रुक्म शब्द √रुच् (चमकना) से मक् प्रत्यय लगकर निष्पन्न होता है (दे० उणादि० युजिरुचितिजां कुश्च)।

अर्का—पूज्या, पूजनीया (इन पूज्यों ने), पाश्चात्य विद्वान्—गीत (√अर्च् गाना), किन्तु मक्स०-गायक (सिंगर्ज)। ऑर० प्रकाश के गीत (सॉंग्ज ऑफ इल्यूमिनेशन)। या० (नि० ६।२३) ने भी इसका अर्थ 'अर्चनीयैं स्तोमैं' (पूज्य स्तुतियां) किया है। नि० ५।५ में इसके देव, मन्त्र, अन्न, वृक्ष' अर्थ भी

दये हैं, किन्तु अन्तिम अर्थ को छोड़कर इन सब के मूल में √अर्च् (पूजायाम्-जा करना) है। अतः 'पूजनीय' अर्थ सर्वथा सगत प्रतीत होता है।

नाम—स्क०, वें०, सा०—अमरणसाधनम् वृष्टिलक्षणम् उदकम् (अमर-व प्रदान करने वाला वृष्टिरूप जल)—निघ० (१।१२)-उदकनाम। शेष सभी विद्वान्—नाम, अमर यश।

ऋष्टयो वो मरुतो अंसयोरधि सह ओजो बाह्वोर्वो बलं हितम्।
नृम्णा शीर्षस्वायुधा रथेषु वो विश्वा वः श्रीरधि तनूषु पिपिशे ॥६॥

ऋष्टयः। वः। मरुतः। अंसयोः। अधि। सहः। ओजः। बाह्वोः। वः। बलम्। हितम्।
नृम्णा। शीर्षऽसु। आयुधा। रथेषु। वः। विश्वा। वः। श्रीः। अधि। तनूषु। पिपिशे ॥

गतियाँ तुम्हारे हे मरुतो, कन्धों पर आश्रित हैं।
सहनशक्ति, ओज, भुजाओं में तुम्हारी बल स्थित है।
नराभिमत बल शीर्षों पर, आयुध रथों पर तुम्हारे,
सभी तुम्हारे शोभा आश्रित देहों पर भूषित है॥

प्रथम दृष्टि मे यह युद्ध के लिय तत्पर, गणवेषधारी सैनिकों का मनोहर वर्णन है। उनके कन्धों पर भाले रखे हैं, भुजाओं मे बल और ओज है, उन्नत मस्तक से पुरुषोचित बल प्रकट हो रहा है, रथों पर अन्यान्य प्रकार के शस्त्रास्त्र सुसज्जित हैं, और इन सबके परिणामस्वरूप मानो वे लक्ष्मी द्वारा आभूषित हैं। वृष्टिदेव के रूप मे मरुतों के भाले बिजली की रेखा के प्रतिरूप हैं, अन्य शब्दों द्वारा उनके वेग को प्रकट किया गया है। आध्यात्मिक दृष्टि से प्राणो के कन्धों पर गतियाँ रखी हैं अर्थात् प्राण ही सब प्रकार की गतियो का मूलाधार हैं। सहनशक्ति, बल, पौरुष—सब प्राणों पर आधृत हैं। शरीर प्राणों के रथ हैं, और उन रथों पर मानो प्राणों द्वारा सञ्चालित विविध शक्तियाँ रखी हैं जिनसे सारी शोभा शरीर पर अलङ्कृत होती है।

ऋष्टयः—ऋष्टि शब्द पर टिप्पणी के लिये दे० म० २. ऋष्टिमन्तः पर टि०। स्वा० द० ने इसे 'मरुतः' का विशेषण और तदनुसार सम्बोधन मानते हुए इसका अर्थ 'हे ज्ञानवन्तः मनुष्याः' किया है। किन्तु स्वर की दृष्टि से यह उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि सम्बोधन-पद पाद के आरम्भ में आने पर वह आद्युदात्त होता है (दे० पा० ६।१।१९८—आमन्त्रितस्य च)।

वः—युष्मद् और अस्मद् शब्दों की द्वितीया, चतुर्थी और षष्ठी विभक्तियों मे जो त्वा, मा आदि ह्रस्वरूप बनते हैं, उन्हें इन शब्दों के निघातादेश कहा

जाता है। इसका अभिप्राय है कि ये रूप सर्वानुदात्त होते हैं (दे० पा० ८।१।१८, २०-२३)।

<u>मरुतो</u> अंसयोः—हे मरुतो तुम्हारे कन्धों पर। 'प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे' (पा० ६।१।११५) के अनुसार यह एक पाद के मध्य परवर्ती व के पश्चात् वकार या यकार न रहने पर पूर्ववर्ती एकार और ओकार से होने वाली पूर्वरूप (अभिनिहित) सन्धि का अपवाद है, और इसीलिये यहाँ प्रकृतिभाव है। (दे० वै० व्या० भाग० १, पृ० ८८-८९)।

<u>सहः</u>—अधिकांश विद्वानों ने इसका अर्थ 'बल' किया है और पर्याय प्रतीत होने वाले तीन शब्दों के एक साथ आ जाने से उन्हें कुछ कठिनाई भी हुई है। स्क०-मत्वर्थेऽत्र सहःशब्द, सहस्वत् बलवत् ओजः, बल सेनालक्षणम्, वें०-सहः ओजः बलम् इति त्रीणि—तेषामल्पो भेद। सा०, ग्रास०, सात०-शत्रूणामभिभावुकम् ओज (युबरलेगेन्हाइट माख्त—शत्रु को पराभूत करने वाला बल), मक्स० और गेल्ड० ने क्रमशः अंग्रेजी और जर्मन के तीन पर्याय देकर सन्तोष किया है, 'स्ट्रेंथ, पॉवर, माइट (माख्त, श्टेर्के, क्राफ्त)'। स्वा० द० के अर्थ 'सहनम्' (सहनशक्ति), से समस्या सरलतापूर्वक सुलझ जाती है।

<u>नृम्णा</u>—स्क०-नृम्णमिति बलनाम अन्तर्णीतमत्वर्थं चात्र द्रष्टव्यम्। बलवन्ति (आयुधानि), वें०—नृम्णमिति धननाम, शीर्षसु हिरण्मयशिप्रा हिता इत्यर्थः, सा०, सात० (शिरस्सु) हिरण्मयानि उष्णीषादीनि निहितानि। स्वा० द०-नरो रमन्ते येषु तानि (शस्त्रास्त्राणि) मक्स०-पौरुषमय विचार (मैन्ली थॉट्स)। गेल्ड०-उत्साह, ग्रास०-पुरुषोचित बल (मानेस्क्राफ्ट)। यास्क नृम्णं बलं नृन् नतम् (नि०११।६), सायण ने उस प्रसंग में (ऋ०१०।५०।१) नृम्ण का अर्थ 'धन' भी दिया है। इसकी एक निरुक्ति नृ + √मन् या √म्ना से भी सम्भव है नृणां मतम्' या 'नृभिर्म्नातम्' (नरों को अभिमत, नरों द्वारा अभ्यस्त-बल)।

<u>पिपिशे</u>—स्क०-रूप्यते दृश्यत इत्यर्थः, वें०-आश्लिष्टा, सा०-आश्रिता, स्वा० द०-आश्रीयते, मक्स०-स्थापित की गई है (हैज बीन लेड), ग्रास०, गेल्ड०-(आभूषण के रूप में) धारण की गई है (इस्त आउफगेलागन), सात०-शोभा बढ़ा रहा है।—√पिश् अवयवे, अयं दीपनायामपि—कम० लिट्, प्र० पु० एक०।

छन्द—द्वितीय तथा तृतीय पादो मे एक-एक अक्षर कम होने के कारण विराड् जगती। किन्तु इन दोनों पादो में क्रमश 'बाह्वो' का 'बाहुवो' और 'शीर्षस्वायुधा' का 'शीर्षसु आयुधा' उच्चारण करने से पूर्ण जगती छन्द प्राप्त होता है।

गोमदश्वावद् रथवत् सुवीरं चन्द्रवद्राधो मरुतो ददा नः ।

प्रशस्तिं नः कृणुत रुद्रियासो भक्षीय वोऽवसो दैव्यस्य ॥७॥

गोऽमत् । अश्वऽवत् । रथऽवत् । सुऽवीरम् । चन्द्रऽवत् । राधः । मरुतः । दद । नः ।
प्रऽशस्तिम् । नः । कृणुत । रुद्रियासः । भक्षीय । वः । अवसः । दैव्यस्य ॥

गोयुक्त अश्वयुक्त रथयुक्त शोभन वीर सहित (भी),
चन्द्र (कान्ति) युक्त धन मरुतो दे दो तुम (सब) हमको ।
कीर्ति हमारी करो (प्रसारित) हे रुद्रसदृश (बलशाली),
भागी हों हम तुम्हारी रक्षा और दिव्यता के भी ॥

प्रकटरूप से यह मन्त्र सैनिकों को सम्बोधित प्रतीत होता है । वे शत्रु पर विजय प्राप्त करके तथा रक्षा के अन्य उपायों द्वारा मानो देश को समृद्ध करते हैं जिससे लोग सब प्रकार की धन सम्पत्ति प्राप्त ही नहीं करते, अपितु वह सुरक्षित भी रहती है । उधर वृष्टि सम्बन्धी देव के रूप में भी मरुत् वृष्टि द्वारा अन्न सुलभ करके सबको समृद्ध बनाते हैं, वे ही दुःख-दारिद्र्य से रक्षा करते हैं । वे ही मानो अन्न से पुष्ट करके हमें कीर्ति योग्य बनाते हैं । आध्यात्मिक दृष्टि से भी प्राणरूप मरुत् समस्त जीवन का आधार हैं । उन्हीं के आधार पर मनुष्य धनसम्पत्ति प्राप्त करता है । बिना स्वास्थ्य के सब कुछ दुर्लभ है । वही कीर्ति का साधन है । प्राणसार से युक्त शरीर ही सब विपत्तियों से सुरक्षित रहता है और उसमें दिव्य तेज भी उत्पन्न होता है । सम्भवतया इस प्रसङ्ग में गौओं का अर्थ 'इन्द्रियां' अश्वों का अर्थ 'गति', रथों का अर्थ 'शरीर की सुघड़ता', वीर का 'वीरता' और चन्द्र का 'सौम्य तेज' हो सकता है ।

सुवीरम्—शोभना वीरा यस्मिन् तत् (बहु०)—शोभन वीरसहित । बहुव्रीहि होने पर भी 'वीरवीर्यौ च' (पा० ६।२।१२०) के अनुसार उत्तरपद 'वीर' आद्युदात्त है ।

चन्द्रवत्—अधिकांश विद्वान्-हिरण्ययुक्तम् (सोने से युक्त) । स्वा० द०-सुवर्णादियुक्तमानन्दादिप्रदं वा । अर०-मनुष्य में अवतरित होने वाले अमृतत्व के आह्लाद का स्वामी, तेजस्वी तथा आनन्दमय । यास्क ने चन्द्र की ये निरुक्तियाँ दी हैं (नि० ११।५)—चन्द्रश्चन्दतेः कान्तिकर्मणः । चारु द्रमति चिरं द्रमति । चमेर्वा पूर्वम् (चन्द्र शब्द 'चाहना' अर्थ वाली √चद् धातु से निष्पन्न है । यह (चारु + √द्रम्—)सुन्दर रूप में चलता है, यह चिरकाल तक चलता है, या पूर्वपद में √चम् का रूप हो सकता है—देवों के द्वारा भक्षण किया जाता हुआ यह चलता है ।

दद्[1]—√दा लिट् म० पु० बहु० , पाश्चात्य विद्वानों ने इसके लकार के अनुरूप ही भूतकालिक अर्थ किया है—'तुमने दिया है'। किन्तु सभी भारतीय भाष्यकार सम्भवतया 'छन्दसि लुङ्लङ्लिट.' (पा० ३।३।६) के आधार पर इसका लोट् लकार जैसा अर्थ करते हैं—'तुम दो'। अन्यत्र भी (ऋ० ४। ३६।९ में) इस क्रियापद के प्रसङ्ग से लोट्लकारार्थ की पुष्टि होती है।

प्रशंस्तिम्—स्क, स्वा० द०-प्रशंसाम्, वें०-प्रशस्तिम्, सा०, सात०-समृद्धिम्, (वैभवशालिता)। मक्स०-अत्यधिक प्रशंसा (ग्रेट प्रेज)। ग्रास०-प्रशंसनीय कार्य (रयुम्लिशे थात), गेल्ड०-मान्यता (आन्केन्नुग)। पदपाठ में प्र और शस्तिम् को अवग्रह द्वारा पृथक् किया गया है (दे० वं० व्या० भाग १, पृ० १६६, ख)।

रुद्रियासः—हे रुद्र पुत्रो। 'रुद्र के पुत्र' कहने का अभिप्राय 'रुद्र के समान बलशाली' बताना है। स्वा० द०-साधनकर्तृषु भवाः (साधन बनाने वालों में उत्पन्न हुए) मरुतः-मनुष्या। सात०-वीरो। अर०-प्रेरक बल में स्थित, भयानक।

भक्षीय—मैं भागी होऊँ, सेवन करूँ (भजेय)। वाक्य के आरम्भ में होने के कारण तिङन्त पद में उदात्तत्व। एकवचन में होने पर भी प्रसङ्गवश बहुवचन का भाव ग्रहण किया गया।

दैव्यस्य—दिव्य (रक्षण) का। परन्तु इसका अर्थ 'दिव्यता' (देवस्य भाव) भी हो सकता है, और फिर यह 'अवस' का विशेषण नहीं रहेगा—रक्षण का (और) दिव्यता का। अन्तिम पाद में त्रिष्टुप् के दो अक्षरों की कमी उसका निम्नलिखित उच्चारण करके पूरी की जा सकती है—भक्षीय वो अवसो दैविअस्य॥ अन्यथा इस मन्त्र का छन्द विराट् त्रिष्टुप् होगा।

हये नरो मरुतो मृळता नस्तुवीमघासो अमृता ऋतज्ञाः।

सत्यश्रुतः कवयो युवानो बृहद्गिरयो बृहदुक्षमाणाः॥८॥

हये। नरः। मरुतः। मृळत। नः। तुविऽमघासः। अमृताः। ऋतऽज्ञाः। सत्यऽश्रुतः। कवयः। युवानः। बृहत्ऽगिरयः। बृहत्। उक्षमाणाः॥

हे नेतृरूप मरुतो सुखी करो तुम हमको (सदैव),
अतिशय (दान) धन वालो हे अमरो, हे ऋत के ज्ञाता!
सत्य कीर्ति वालो, क्रान्तदर्शियो, हे युवको (अभिनव)!
महती स्तुतियों वालो! विशाल का सिञ्चन करते॥

प्राण नेतृरूप हैं—वही शरीर की विविध क्रियाओं का नेतृत्व करते हैं। वे ही मानो शरीर को सवस्त्र दान करते हैं। वे शाश्वत जीवन नियम के ज्ञाता

१ द्व्यचोऽतस्तिङः (पा० ६।३।१३५) से संहिता में दीर्घ।

हैं। उनका यश सच्चा है। क्रान्तदर्शियों के समान इनका कार्य सुव्यवस्थित होता है। नित्य नये प्राणों का क्रम चलते रहने से इन्हें 'युवक' कहा गया है। ये मानो विशाल शरीर (और इसी कारण विश्व) को अपने प्रवाह से सिञ्चित करते रहते हैं।

हये—हे। यह निपात सम्बोधन के सदृश है, जिससे कि आगे आने वाले सम्बोधन पदों (नरः आदि) के लिये यह न होने के समान माना जाता है और वे सब वाक्य के आदि के समान उदात्तत्व ग्रहण करते हैं। स्क०-अस्मादव्यतिरिक्तप्रातिपदिकार्थप्रथमान्तात् 'सम्बोधने च' (पा० २।३।४७) इति प्रथमा। आमन्त्रितत्वाच्च 'आमन्त्रित पूर्वमविद्यमानवत्' (पा० ८।१।७२) इत्यविद्यमानवद्भाव। अतो नर इत्यादीनामामन्त्रितानामनिघात। वें० निपातोऽयमामन्त्रितवत्पर सम्बोधयति अविद्यमानवच्च भवति।

नरः—स्क०-मनुष्याकारा मरुतः। शेष भारतीय भाष्यकार-नेतार.। मक्स०, ग्रास०-नेताओ, गेल्ड०-मनुष्यो।

मृळत—तुम (हमें) सुखी करो, √मृड् लोट् म० पु० बहु०। पाश्चात्य विद्वान्-दयालु हो जाओ। यह रूप प्राय॰ संहिता में दीर्घान्त होता है (दे० पा० ६।३।१३३-ऋचि तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम्)।

तुविमघासः—प्रभूतधना, गेल्ड०-बहुत दान देने वाले (फील शेन्केन्दन)। यह अर्थ यास्क (नि० १।७) की निरुक्ति के बहुत अनुकूल है—मघमिति धननामधेयम्। मंहतेर्दानकर्मणः। पदपाठ में तुवि का ह्रस्व इकार द्रष्टव्य है (दे० पा० ६।३।१३७—अन्येषामपि दृश्यते)।

ऋतज्ञा—विस्तृत टि० के लिये दे० ऋ० १।१।८ में 'ऋतस्य' पर टि०। स्क०-ऋत सत्यमुदक यज्ञो वा, तस्य ज्ञातारः, वें०-सत्यप्रज्ञा॰, सा०-यज्ञस्य ज्ञातारः, मक्स०—धार्मिक (राइटिअस), अन्य पाश्चात्य विद्वान्—पवित्र नियमों के ज्ञाता (दी हाइलिगं गेजे॰त्स केनेंद)।

सत्यश्रुत—सत्य शृण्वन्ति इति (उपपद०), मक्स०-सचमुच हमारी बात सुनने वाले (ट्रूली लिसनिंग टु अस—सत्य यथा स्यात्तथा शृण्वन्ति न॰), सात०-सत्य कीर्ति से युक्त—श्रूयते इति श्रुत—कीर्ति। इसके अतिरिक्त प्राण सत्य को सुनने या जानने वाले हैं—सत्य, जो वास्तव में होता है, शरीर में जो कुछ भी परिवर्तनादि होता है, उसको प्राण सुनते हैं, जानते हैं, उससे प्रभावित होते हैं—तभी शरीर समय-समय पर रोगग्रस्त या स्वस्थ, युवा या वृद्ध होता है। छन्द में एक अक्षर की कमी को 'सतिअश्रुत.' उच्चारण करके पूर्ण किया जा सकता है (दे० ग्रास० वोर्तरबुख त्सुम् ऋग्वेद)। अन्यथा इसे विराट्-त्रिष्टुप् माना जायेगा।

बृहद्गिरय—यह शब्द ऋ० में एक बार (केवल इसी मन्त्र में) आया है। स्क०, वें०, और सभी पाश्चात्य विद्वान्—महान्त गिरय पर्वता येषां ते—बड़े पर्वतों वाले (मक्स०-दृवेलिंग ऑन माइटी माउटेन्स), स्क०, वें० महामेघा-महतां मेघानां हन्तारः (जिनके विनाश के योग्य बड़े मेघ हैं)। किन्तु सा०-प्रभूतस्तुतय अतिशय स्तुतियुक्त। इसी के समान स्वा० द० और सात०-बहुप्रशंसा (अत्यन्त सराहनीय)। स्पष्ट ही यहां 'गिरि' का अर्थ 'स्तुतिवचन' लिया गया है, सम्भवतया √गृ शब्दे (क्र्यादि०) से निष्पन्न। यास्क (नि० १।२०) का निर्वचन—गिरि पर्वत, समुद्गीर्णो भवति।

बृहदुक्षमाणा —स्क०-बृहद् सुविस्तृतमयं, उक्षमाणा सिञ्चन्त अस्मान् वृष्ट्या वर्धन्त इत्यर्थः। वें०-अत्यन्त सिञ्चन्त (उक्ष सेचने), सा०-अत्यधिक हविर्भि सेविता सन्तोऽस्मान् मृळत। स्वा० द०-महत् सेवमाना। पाश्चात्य विद्वान् और सात० अत्यधिक अभिवृद्ध (मक्स०-ग्रोन माइटी, गेल्ड०-होख गवॉक्सेन्द), प्रचण्ड बल से युक्त।

वरुणः

वरुण का नाम वैदिक देवसमूह में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । √वृ (आवृत करना) से निष्पन्न इसका शाब्दिक अर्थ 'आवृत करने वाला' है । प्रारम्भिक वैदिक काल मे यह परमोपासना का विषय था । यह परम देवता माना जाता है, इसीलिये इसे देवों और मनुष्यो दोनों का राजा कहा गया है । इसे सारे विश्व का राजा भी कहा गया है—विश्वस्य भुवनस्य राजा (ऋ० ५।८५।३) । इसके लिये प्रायः 'सम्राट्' शब्द का प्रयोग हुआ है । इसी प्रकार क्षत्र और असुर उपाधियों के प्रयोग अधिकतर इसके लिये हुए हैं । ये विशेषतायें अन्य किसी देवता के विषय में वर्णित नहीं हैं । यह ऋत अथवा शाश्वत सत्य और नियम से विशेषतया सम्बद्ध है—ऋतेन ऋतमपिहितं ध्रुवं वाम् (ऋ० ५।६२।१) । वरुण के विधानो द्वारा ही उज्ज्वल प्रकाश से युक्त होकर चन्द्रमा रात्रि में भ्रमण करता है, और इसी से उन्नत स्थान में स्थित तारे रात्रि में तो दिखाई पड़ते हैं किन्तु दिन के समय दृष्टि से ओझल हो जाते हैं :—

> अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा नक्तं ददृश्रे कुह चिद् दिवेयुः ।
> अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि विचाकशच्चन्द्रमा नक्तमेति ॥

वरुण ऋतुओं का भी नियमन करता है । वह बारह मासों से परिचित है—वेद मासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः (ऋ० १।२५।८) । उसी के नियम (ऋत) का अनुसरण करती हुई नदियाँ प्रवाहित होती हैं—ऋत सिन्धवो वरुणस्य यन्ति (ऋ० २।२८।४) । वरुण के ये नियम प्रकृति की व्यवस्था तक ही सीमित नहीं हैं । वह मनुष्य के मन से सम्बद्ध नैतिक नियमों का भी पालक है । इसी लिये उससे प्रार्थना की गई है कि 'हे वरुण मुझसे अपराध का बन्धन मुक्त कर दीजिये, हम आपके ऋत के स्थान मे वृद्धि को प्राप्त हों'—वि मच्छ्रथाय रशनामिवाग ऋध्याम ते वरुण खामृतस्य (ऋ० २।२८।५) । वरुण की एक उपाधि 'धृतव्रत' है । स्वय देवगण भी वरुण के विधानो का अनुसरण करते हैं—वरुणस्य पुरो गये विश्वे देवा अनु व्रतम् (ऋ० ८।४१।७) । इसे नियमों का रक्षक (ऋतस्य गोपा) भी कहा गया है ।

नियमों की रक्षा के लिये वरुण सतत-जागरूक रहता है, सब कुछ देखता रहता है । अथर्व० ४।१६।२ में कहा गया है कि जो (आलस्य में) स्थिर

रहता है, जो चलता (कार्य करता) है, जो कपट करता है, जो छिप कर या आतङ्कपूर्वक कुछ करता है, और जो दो मिलकर साथ बैठकर कोई षड्यन्त्र करते हैं, राजा वरुण तीसरा होकर वह सब जान लेता है—

> यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम् ।
> द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः ॥

इसी कारण नियमों का उल्लङ्घन करने वाले का ज्ञान वरुण को तत्काल हो जाता है। इस प्रसङ्ग में वरुण के गुप्तचरों (स्पश) का बहुधा उल्लेख हुआ है। इसे सहस्राक्षः और उरुचक्षाः भी कहा गया है। नियमों का उल्लङ्घन होते ही तुरन्त राजा के समान वरुण अपराधियों को कठोर दण्ड देता है। वरुण द्वारा अपने पाशों में पापियों को बांधे जाने का बहुधा उल्लेख हुआ है। अनेक मन्त्रों में वरुण के पाशों से मुक्ति की प्रार्थना की गई है—उदुत्तमं मुमुग्धि नो वि पाशं मध्यमं चृत। अवाधमानि जीवसे (ऋ० १।२५।२१)। यह पाश रस्सियों का बन्धन नहीं (ऋ० ७।८४।२), अपितु नियमानुसार कर्मफलरूपी बन्धन प्रतीत होता है। दण्ड देने के साथ साथ वरुण क्षमाशील भी है क्योंकि दण्ड केवल दण्ड देने के उद्देश्य से नहीं दिया जाता, अपितु व्यक्ति को सुधारने के लिये दिया जाता है—यो मृळयाति चक्रुषे चिदागो वयं स्याम वरुणे अनागाः (ऋ० ७।८७।७)।

सूर्य को अनेक स्थलों (ऋ० १।११५।१ इत्यादि) पर मित्र के साथ साथ वरुण का नेत्र बताया गया है। वरुण के चमकीले परिधान का अनेक बार उल्लेख हुआ है (बिभ्रद् द्रापिम्)। यह परिधान कदाचित् सूर्य का प्रकाश ही है। वरुण का रथ सूर्य के समान द्युतिमान् है—रथो वां मित्रावरुणा...... सूरो नाद्यौत् (ऋ. १।१२२।१५)। इससे वरुण का सूर्य से सम्बन्ध अत्यन्त स्पष्ट लक्षित होता है। वरुण को 'सुपाणि' कहने में भी सम्भवतया सूर्य की किरणें संकेतित हैं। इसी प्रकार अपने द्युतिमान् पाँवों से कपट को दमित करने का भी उल्लेख है—स माया अर्चिना पदास्तृणात् (ऋ० ८।४१।८)। यहाँ भी 'द्युतिमान् पाँव' सूर्य की किरणें ही प्रतीत होती हैं।

मित्र और वरुण बहुधा साथ साथ समस्त रूप में वर्णित हुए हैं, और दोनों ही 'आदित्यों' में परिगणित होने के कारण सूर्य से सम्बद्ध हैं, तथापि मित्र सूर्य के प्रातः कालिक रूप का और वरुण रात्रि-कालिक रूप का (अर्थात् जिस रूप में वह हमारी दृष्टि से परे भूमण्डल के अन्य स्थानों को प्रकाशित करता है, उस रूप का) प्रतीक है। इसीलिये तै० सं० ६।४।८।३ में कथन है कि मित्र ने दिन बनाया और वरुण ने रात्रि। अन्य वैदिक आदित्यों की अपेक्षा के साथ

'प्रमेयस्पेन्तस्' से तुलना करते हुए ओल्डनबर्ग ने मित्र और वरुण को क्रमशः सूर्य और चन्द्रमा तथा अवशिष्ट पाँच आदित्यों को पाँच ग्रह माना है। किन्तु ऋग्वेद के वरुण-सम्बन्धी वर्णन में इस कल्पना का कोई आधार दिखाई नहीं देता। वरुण की प्रमुखता देखकर इसकी तुलना अवेस्ता के प्रमुख देव 'अहुर-मज़्द' से भी की गई है। इन दोनों में नामगत समानता न होते हुए भी चरित्र-गत समानता बहुत है।[1] यूनानी 'यूरेनस' की तुलना भी वरुण के नाम से की जा सकती है।[2]

वरुण का समुद्र से सम्बन्ध भी बहुत ध्यान देने योग्य है। इसके विषय में कहा गया है कि यह सागर में ऐसे ही उतरता है जैसे द्यौः—**अव सिन्धुं वरुणो द्यौरिव स्थात्** (ऋ० ७।८७।६)। यह भी उल्लेख है कि एक गुप्त समुद्र के रूप में वरुण ऊपर द्युलोक को जाता है—**स समुद्रो अपीच्यस्तुरो द्यामिव रोहति** (ऋ० ८।४१।८)। उपर्युक्त उद्धरणों में द्युलोक से सम्बन्ध होने के कारण "ऐसा प्रतीत होता है कि वरुण को साधारणतया अन्तरिक्षीय जल से सम्बद्ध किया गया है।"[3] अनेक स्थलों पर इसे वर्षा का स्रष्टा वर्णित किया गया है। एक सम्पूर्ण सूक्त (ऋ० ५।६३) में इसकी वर्षा करने की शक्ति की चर्चा है। अथर्व० ४।१५।१२ में उल्लेख है कि वरुण दिव्य पिता के रूप में जल का वर्षण कराता है—अपो निषिञ्चन्नसुरः पिता नः। इसी प्रकार तै० स० ५।५।४।१ में जल को वरुण की पत्नियाँ बताया गया है। सम्भवतः वर्षा से इस सम्बन्ध के कारण ही निघण्टु के पाँचवें अध्याय में इसकी गणना अन्तरिक्षीय और द्युलोक-सम्बन्धी दोनों प्रकार के देवताओं में हुई है।

निस्सन्देह वरुण का स्वरूप अत्यन्त व्यापक है और, जैसा कि पौराणिक काल में इसे केवल जल या समुद्र से सम्बद्ध कर दिया गया, किसी एक प्राकृतिक रूप में इसे बाँध देना बहुत असम्भव है। इसका एक कारण यह भी है कि इसका स्वरूप बहुत अमूर्त है। सम्भवतया इसी कारण स्वामी दयानन्द ने इसे जगदीश्वर अथवा वायु (ऋ० १।२४।८, ११), जल, वायु या चन्द्रमा (ऋ० १।१७।५), तथा उपदेशक माना है। इसका मूल भाव व 'वर' या श्रेष्ठ मानते हैं—अर्थात् जो वरणीय है। मैक्डॉनल के मतानुसार "वरुण मूलतः किसी अन्य तत्त्व के ही प्रतिनिधि रहे होंगे और सामान्यतया स्वीकृत मत के अनुसार यह तत्त्व सर्वत्र व्याप्त 'आकाश' ही हो सकता है। आकाश के नेत्र के रूप में सूर्य की धारणा पर्याप्त रूप से स्पष्ट है।"[4]

1. वैदिक माइथोलाजी, पृ. २१।
2. वही, पृ. ५२।
3. वही, पृ. ४६।
4. वही, पृ. ४६।

वरुण सूक्तों से वसिष्ठ ऋषि का विशेष सम्बन्ध है, और यह सम्बन्ध परवर्ती पौराणिक कथाओं में भी सुरक्षित है। परवर्ती साहित्यमें जो पश्चिम दिशा (वारुणी) वरुण के नाम से सम्बद्ध है, उसका भी आधार अनेक विद्वानों की दृष्टि में वैदिक वरुण का अस्तंगामी सूर्य का प्रतिरूप होना है।

यास्क ने (नि० १०।३) वरुण का निर्वचन √वृञ् वरणे से दिया है—वरुणः वृणोतीति सतः। यास्क द्वारा मध्यस्थानीय देवताओं के अन्तर्गत इसका निर्वचन दिये जाने के कारण दुर्गाचार्य ने आवृत करने की व्याख्या इस प्रकार की है—आवृणोति द्याम् मेघजालेन वियत्।

अरविन्द के अनुसार वरुण सर्वोच्च आवरक आकाश है, आत्मा को घेरने वाला समुद्र, आकाशीय प्रभुत्व और अनन्त व्याप्ति है। विशालता का प्रतिनिधि है। वरुण सूर्य का क्रिया-कलाप है, विस्तार तथा विशालता की शुद्धता का स्वामी है।[1]

ऋ० ७।८६

ऋषि —मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः, देवता वरुणः, छन्द —त्रिष्टुप् ।

धीरा त्वस्य महिना जनूंषि वि यस्तस्तम्भ रोदसी चिदुर्वी ।
प्र नाकमृष्वं नुनुदे बृहन्तं द्विता नक्षत्रं पप्रथच्च भूम ॥१॥

धीराः । तु । अस्य । महिना । जनूंषि । वि । यः । तस्तम्भ । रोदसी इति । चित् । उर्वी इति । प्र । नाकम् । ऋष्वम् । नुनुदे । बृहन्तम् । द्विता । नक्षत्रम् । पप्रथत् । च । भूम ॥

बुद्धिमान् शीघ्र इसकी महिमा से जन्म (वाले) होते,
पृथक् पृथक् जिसने थामा है गगन-धरा को विस्तृत ।
ऊपर सूर्य को दर्शनीय को दिया उछाल बड़े को
दो मार्गों में नक्षत्र को, फैलाया और भूमि को ॥

सब व्यापी, सब नियन्ता वरुण सबका अन्तर्यामी भी है। उसकी महिमा इतनी है कि सभी जन्म लेने वाले प्राणियों में जन्म के साथ तत्काल ही चैतन्य-बोध उत्पन्न हो जाता है। यहाँ 'जन्म के साथ' भाव को व्यक्त करने के लिये ही सम्भवतया प्राणियों के अर्थ में 'जनूंषि' (जन्म) शब्द का प्रयोग हुआ है। सूर्य जैसे दर्शनीय महान् तेजस्वी तत्त्व पर भी वरुण का पूर्ण अधिकार है। उसने ही उसे मानो सहज ही गेंद के समान ऊपर उछाल दिया है और

---

1 वैदिक भास्वरी, पृ ७९ ८१।

उस महान् नक्षत्र को दिन और रात रूपी दो भागों में विभाजित किया है। यह स्मरणीय है कि दिन और रात दोनों का कारण सूर्य है।

धीरा—सा०—धैर्यवन्ति, लुड्विग—बुद्धिमान् (वाइज़) वेल०—चतुर। 'शेरछन्दसि बहुलम्' से धीराणि के स्थान पर धीरा रूप।

अस्य—सर्वानुदात्त, सा०—अस्य वरुणस्य जनूंषि महिना महिम्ना धीराणि सन्ति। किन्तु जनूंषि का अर्थ 'प्राणी' लेने पर अस्य का अन्वय महिना के साथ करना अधिक उचित होगा। पी. और वेल ने यही अन्वय किया है। मक्ग., रोथ. और ग्रास. ने जनूंषि का अर्थ 'कार्य' करते हुए सायणानुसारी अन्वय किया है। तु और अस्य का सन्धि विच्छेद करके पाठ करने से जात्य स्वरित और साथ ही छन्द की कठिनाई दूर हो जाती है।

प्र नाक्षंम्—सा.-बृहन्तमादित्यं नक्षत्र च ऋष्व दर्शनीयं द्विता द्वैध प्रेरयति स्म—अहनि सूर्यं दर्शनीयं प्रेरयति रात्रौ नक्षत्र तथेति द्विप्रकारः, (तु. ऋ. १।२४।८-उरु हि राजा वरुणश्चकार सूर्याय पन्थामन्वेतवा उ)। मक्ग.-ऊँचा उठाया (लिफ्टड ग्रॉन हाई), ग्रास., लुड्विग—चला दिया, वेल-विशाल तथा उन्नत आकाश को ऊपर धकेल कर उसने एक ओर से सूर्य को ऊपर भेज कर दूसरी ओर से...। पी-जिसने विशाल तथा उन्नत आकाश को उसके सभी नक्षत्रों के साथ धकेल दिया। किन्तु यास्क ने नाक को आदित्य भी बताया है। एकवचन में नक्षत्र का अर्थ 'सूर्य' ही संगत प्रतीत होता है।[1] ऋष्व-दर्शनीय (ऋषिर्दर्शनात्)। किन्तु √ऋष् (गतौ) से इसका अर्थ 'मार्ग' भी हो सकता है। तब यह अर्थ किया जा सकता है—नक्षत्र (सूर्य) को आकाश के ऊँचे और विस्तृत मार्ग पर चला दिया। द्विता-मक्ग-पृथक् पृथक्, ग्रास.-बलाघात अर्थ वाला अव्यय, जो ऐसे भाव में प्रयुक्त होता है जिसमें हम किसी कथन की पूर्ण निश्चितता द्योतित करने के लिये उसकी आवृत्ति करते हैं।[2]

पुप्रथंत्—तिङन्त पद होते हुए भी नये वाक्य के प्रारम्भ में होने के कारण उदात्त।

उत स्वया तन्वा३ सं वदे तत् कदा न्व१न्तर्वरुणे भुवानि।
किं मे हव्यमहृणानो जुषेत कदा मृळीकं सुमना अभि ख्यम् ॥२॥

उत। स्वया। तन्वा। सम्। वदे। तत्। कदा। नु। अन्तः। वरुणे। भुवानि। किम्। मे। हव्यम्। अहृणानः। जुषेत। कदा। मृळीकम्। सुमनाः। अभि। ख्यम् ॥

---

१. वेल., ऋक्सूक्तवैजयन्ती, पृ. २६०।
२. पीटर्सन, हिम्स फ्राम द ऋग्वेद, पृ. २३४ से उद्धृत।

.' इसी माला की पुस्तक, भाग दो, पृ० ३६० पर पी० ने नक्षत्र का अर्थ सूर्य किया है।

और अपने तन से समरूप होऊँ तो (फिर मैं भी)
कब (अरे) भीतर वरुण के होऊँ (उससे एकाकार) ?
क्या मेरी आहुति बिन क्रोध किये स्वीकार करेगा ?
कब (उस) सुखदायक को शोभनमन में देखूँ (सुविचार) ?

उस सर्वव्यापी वरुण ने सब प्राणियों को बोध तो दिया है, किन्तु मानव होते हुए मैं इस कमी का अनुभव करता हूँ कि उसने ऐसा बोध क्यों नहीं दिया जिससे मैं उसका अन्तरंग होकर रहूँ। मैं जो वस्तुतः हूँ, उसे अपने तन से पृथक् क्यों समझता हूँ ? मुझे पता है कि वह मेरी प्रार्थना या आहुति तभी स्वीकार करेगा जब मैं पूर्णतया उससे समभाव प्राप्त करके एकचित्त होकर उसे अपने मन में देखता रहूँ—अनुभव करता रहूँ। यह एक ऐसे भक्त के उद्गार हैं जो स्व को परमात्मा मे लीन कर देना चाहता है।

सं वंदे—सा-उतेति विचिकित्सायाम्, उत किम् आत्मीयेन शरीरेण सह-वदन करोमि, अहोस्विन् तत् तेन वरुणेन सह सवदे—क्या मैं अपने शरीर से ही बोलूँ या उस वरुण के साथ बोलूँ ? पी-और इस प्रकार मैं स्वयं अपने आप से प्रश्न करता हूँ। किन्तु सम्√वद्—समरूप होने, एकरूप होने के अर्थ मे प्रयुक्त होती है विशेष रूप से तृतीया वि. के योग मे।[1]

कदान्वन्तर्वरु॑णे—सा-कदा खलु वरुणे देवेऽन्तर्भूतो भवानि, वरुणस्य चित्ते संलग्नो भवानीत्यर्थः। पी-मैं वरुण के सम्मुख कब उपस्थित हूँगा ? मक्म-मैं वरुण मे कैसे प्रवेश कर सकता हूँ ? ग्रुडिक्ग मैं (मित्रता मैं) वरुण से कब संयुक्त हूँगा ? ग्रास. ने यही अर्थ देते हुए 'मित्रता में' शब्दों का अध्याहार नहीं किया है। वेल-मैं वरुण के सामने कब जाकर खड़ा रहूँगा ? √भू विकरणलुग्लुङ् के अर्थ से लेट्, उत्तम पु एक.।

कुदा मृ॑ळीकम्—सा०-शोभनमनस्क सन्नहं कस्मिन् काले सुखयितार वरुणम् अभिपश्येयम्, रोथ, ग्रास०—मैं कब उसकी कृपा देखूँगा ? पी-मैं कब उसकी कृपा देखूँगा और आनन्दित हूँगा ? वेल०-सुप्रसन्न चित्त से उसकी कृपा कब सम्पादन करूँगा ?

विशेष—मन्त्र के पूर्वार्ध मे जात्य-स्वरित को ध्यान मे रखते हुए छन्द-पूर्ति के लिये तुन्वा३ का पाठ तनुआ और न्व१न्तः का पाठ नु अन्तः (दे. पदपाठ) करना चाहिए।

पृच्छे तदेनो॑ वरुण दिदृक्षूपो॑ एमि चिकितुषो॑ विपृच्छम्।
समानमिन्मे॑ कवयंश्चिदाहुरयं ह तुभ्यं वरु॑णो हृणीते ॥३॥

---

1 अभिज्ञानश., अक—७, अस्य बालकस्य तेऽपि संवादिन्याकृतिः।

पृच्छे । तत् । एनः । वरुण । दिदृक्षु । उपो इति । एमि । चिकितुषः । विऽपृच्छम् ।
समानम् । इत् । मे । कवयः । चित् । आहुः । अयम् । ह । तुभ्यम् । वरुणः । हृणीते ॥

पूछता हूँ वह पाप वरुण ! (तेरे) दर्शन का इच्छुक
शरण में आता हूँ विद्वज्जन की (यही) पूछने हेतु ।
समान रूप से ही मुझको विद्वान् कहा करते हैं—
"यह ही तुझपर वरुण क्रुद्ध होता है (सृष्टि का सेतु)" ॥

वरुण-रूप परमात्मा का भक्त अपने आपको उसके सायुज्य में असमर्थ पाकर उसी से पूछता है कि मुझसे ऐसा कौन सा पाप हो गया जिससे वरुण दर्शन नहीं दे रहे । अवश्य कोई न कोई अपराध हुआ है । वह अशान्त होकर यही बात पूछने के लिए विवेकशील विद्वान् पुरुषों की शरण में जाता है । और सभी विद्वान् एक स्वर से बताते हैं कि वरुण के क्रुद्ध होने के कारण ही वह अशान्त है । स्वाभाविक है कि सारी सृष्टि का आधार, सब दुःख बाधाओं से पार कराने वाला ही जब क्रुद्ध हो तो शान्ति कैसे प्राप्त हो सकती है । परन्तु भक्त उस क्रोध का कारण जानने के लिए चिन्तित है, जिससे वह अपनी प्रमाद सुधार सके ।

दिदृक्षु—सा०-द्रष्टुम् इच्छन् √दृश् सन् उ । 'सुपां सुलुक्' इत्यादि सूत्र से सु का लोप । पाश्चात्य विद्वानों ने इसे वैदिक सन्धि का उदाहरण माना है जिसके अनुसार आगे उ आने पर दिदृक्षुः के विसर्ग का र् न होकर लोप हो गया है और पुनः सन्धि हो गई है । लुड्विग, बेल.—दिदृक्ष् शब्द से सप्तमी बहु०-जानकार जनों में । तदनुसार रूपरचना और सन्धि दोनों ही नियमित हैं । पी.-मैं जानने को प्रयत्नशील हूँ (आइ ट्राइ टु फाइंड इट आउट)।

उपो—प्रगृह्य अव्यय होने के कारण (सम्भवतया उप+उ) पदपाठ में आगे इति लगाया है । सा.-उपो एमि—उपागाम् ।

विपृच्छम्—सा.-विविध प्रष्टुम्, अम् √प्रच्छ् कमुल् (अम्) प्रत्यय (पा ३।४।१२—शकि णमुल्कमुलौ) ।[1] किन्तु पाश्चात्य विद्वान् उसे विपृच्छ् शब्द से द्वितीयामूलक तुमर्थक अम्-प्रत्ययान्त मानते हैं ।

किमाग॑ आस वरुण ज्येष्ठं यत् स्तोतारं जिघांससि सखायम् ।
प्र तन्मे॑ वोचो दूळभ स्वधावोऽव॑ त्वानेना नम॑सा तुर ईयाम् ॥४॥

किम् । आगः । आस । वरुण । ज्येष्ठम् । यत् । स्तोतारम् । जिघांससि । सखायम् । प्र ।
तत् । मे । वोचः । दुःऽदभ । स्वधाऽवः । अव । त्वा । अनेनाः । नमसा । तुरः । इयाम् ॥

---

1. पाणिनि के नियमानुसार उपपद में √शक् के किसी रूप का प्रयोग होना चाहिए।

क्या अपराध था वरुण बड़ा (इतना मेरा अक्षम्य),
जो स्तोता को (भी) मारने को इच्छुक रहे सखा को ?
यह मुझको (अपराध) बताओ हे दुर्धर्ष तेजस्वी
पास तुम्हारे (जिससे) निष्पाप प्रणति से द्रुत आ जाऊँ ?

यहाँ इष्ट देव के प्रति भक्त का सख्य-भाव प्रकट हुआ है। सखा तो सखा की रक्षा करता है, और वह भी स्तुति करने वाले सखा की। इसलिए वह सोचता है कि अवश्य ही मेरा कोई असाधारण बड़ा अक्षम्य अपराध रहा होगा, जो अनजाने में हो गया और जिसका मुझे ज्ञान भी नहीं है। अन्यथा वरुण कभी अपने स्तोता सखा को संकट में डालने का इच्छुक न होता। तेजस्वी वरुण दुर्धर्ष है। कोई उसे किसी कार्य से रोक नहीं सकता। अतः स्तोता विनम्र भाव से वरुण से अपना अपराध पूछता है जिससे कि अपराध-शोधन करके पाप-रहित होकर वह प्रणामपूर्वक शीघ्र ही वरुण की शरण में आकर सुख का अनुभव करे।

आस—सा०-कोऽपराधो मया कृतो बभूव, पी०, वेल०-वह ऐसा कौन सा महान् अपराध है ? √अस् लुङ् प्र० पु० एक०।

ज्येष्ठम्—सा०-अधिकम्, लुड्विग ने[1] इसे आगः का विशेषण न मानकर 'स्तोतारम्' का विशेषण और 'जिघांससि' का कर्म मानना अधिक उचित समझा है। किन्तु भक्तिभाव और .शब्द की स्थिति के अनुसार सायण तथा तदनुसारी अन्य विद्वानों द्वारा किया गया अन्वय ही समीचीन प्रतीत होता है।

प्र वो'चः—सा०-प्रब्रूहि, प्र √ब्रू लुङ् म० पु० एक०-वेद में अट् का लोप मा का योग न होने पर भी (बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि, पा० ६।४।७५)। पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार √वच् विधिमूलक (इजंक्टिव) म० पु० एक०।

दूळभ—सा०-दुर्दभ, अन्यैर्बाधितुमशक्य, पी०-शक्तिशाली (माइटी), वेल०-जिसकी प्रतारणा असम्भव है। √दह् भस्मीकरणे, दुःखेन दह्यत इति दुर्दहम्। 'ईषद्दुःसुषु...(पा० ३।३।१२६) इत्यादिना दुर्युपपदे दन्धेः खल्। 'व्यत्ययो बहुलम्' इति उकारस्य ऊकारो रेफस्य लोपो दकारस्य डकारो हकारस्य च भकारः। यह व्याकरण सम्बन्धी व्याख्या पदपाठ के अनुसार की गई है। ड के के ळ के लिये दे० ऋ० १।१।

स्वधावः—सा० तेजस्विन्, पी०-हे यशस्वी (ग्लोरियस), वेल०-हे स्वतन्त्र-प्रज्ञ देव ! स्वधावत् शब्द से सम्बोधन में स्वधावस् (लौकिक-स्वधावन्; इसी प्रकार भगवः आदि रूप)—पा० मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि (८।३।१)।

---

१. हिम्ज फाम द ऋग्वेद, पृ. २३७।

स्वधा-तेज। निघ० १।१२ में यह शब्द उदक के नामों में और निघ० २।७ में अन्न के नामों में पठित है। किन्तु 'स्वस्मिन् अनया धीयते' व्युत्पत्ति से स्वधा का अर्थ स्वास्थ्य भी हो सकता है, अन्न भी स्वास्थ्य में सहायक ही है।

तुरः—सा०-अहं त्वरमाणः शीघ्रः त्वामुपगच्छेयम्, पी०-आइ शैल कम विदाउट डिले टु दी, वेल०-तुम्हारे पास शीघ्र आ सकूंगा—तुम्हारे चरण चूम कर क्षमा मांगूंगा। सम्भवतया तुरग, तुरङ्ग, तुरङ्गम में यही शब्द अवशिष्ट है। कदाचित् √त्वर् से भी इसका सम्बन्ध होगा। तु० पंजाबी टुर, टुरना। छन्द में एक अक्षर के आधिक्य को सन्तुलित करने के लिये तुर इयाम् में पुनः सन्धि करके 'तुरेयाम्' उच्चारण करना चाहिये।[1] 'असल में त्रिष्टुप्चरण का दसवाँ अक्षर दीर्घ ही होता है। उसके स्थान पर यहाँ कवि ने दो लघु अक्षर प्रयुक्त किये हैं।'[2]

अव॑ द्रु॒ग्धानि॒ पित्र्या॑ सृजा॒ नोऽव॒ या व॒यं च॑कृ॒मा त॒नूभिः॑।
अव॑ राजन् पशु॒तृपं॒ न ता॒युं सृ॒जा व॒त्सं न दाम्नो॒ वसि॑ष्ठम् ॥५॥

अव॑। द्रु॒ग्धानि॑। पित्र्या॑। सृ॒ज॒। नः॒। अव॑। या। व॒यम्। च॒कृ॒म। त॒नूभिः॑। अव॑। रा॒ज॒न्। प॒शु॒ऽतृप॑म्। न। ता॒युम्। सृ॒ज। व॒त्सम्। दाम्नः॑। वसि॑ष्ठम् ॥

पृथक् द्रोह पितरों से उत्पन्न कर दो दूर हमारे
पृथक् द्रोह जो हमने किये (कदाचित् निज) देहों से।
पृथक् हे राजन्! पशुओं के तर्पयिता को यथा चोर को
कर दो मुक्त बछड़े को जैसे रस्सी से वसिष्ठ को ॥

भक्त को सन्देह है कि वरुण कहीं उसके पितरों द्वारा किये गये देव-द्रोह रूपी अपराध से रुष्ट न हो। इसलिये वह अपने इसी शरीर द्वारा किये गये अपराधों के साथ साथ पितृजन्य अपराधों से भी मुक्ति की प्रार्थना कर रहा है। जैसे स्तन्यपान को उत्सुक बछड़े को रस्सी से मुक्त करने पर उसके आनन्द की सीमा नहीं रहती उसी प्रकार भक्त भी वरुण से मिलने की उत्कट अभिलाषा के कारण पाप-बन्धनों से मुक्त होना चाहता है। और फिर पशुओं को घासादि द्वारा तृप्त करने रूप प्रायश्चित्त के द्वारा तो चोर को भी क्षमा कर दिया जाता है[3], फिर इस वरुण-भक्त को अपराध का प्रायश्चित्त करने पर क्यों क्षमा नहीं किया जा सकता?

---

१. हिम्ज फ्राम द ऋग्वेद, पृ. २३७।
२. ऋक्सूक्तवैजयन्ती, पृ. २६१—नीचे।
३. ऋक्सूक्तवैजयन्ती, पृ. २६२, तथा मनु. ११।१६६

पिप्र्मा—पिप्र्याणि (छान्दसि बहुलम्) सा०-पितृतः प्राप्तानि, पी०, वेल०-पूर्वजों के द्वारा किये गये।

चकृम—सा०-वयं कृतवन्तः। संहिता में शब्द के अन्त में दीर्घत्व देखने योग्य है। यत् शब्द का रूप 'या' वाक्य में होने के कारण तिङन्त होते हुए भी यह सोदात्त है। पाणिनि के नियम (परोक्षे लिट्) के अनुसार उत्तम पुरुष में लिट् का प्रयोग उन्माद, स्वप्न अथवा मूर्छा की अवस्था में हो सकता है। तदनुसार यह भी ध्वनि निकलती है कि 'हमने जो अपराध अपने इस शरीर से किये हैं, वे अनजाने में अनिच्छा से हुए हैं, अतः वे सहज ही क्षम्य हैं।'

पशुतृपम्—सा०-स्तैन्यप्रायश्चित्तं कृत्वावसाने घासादिभिः पशूनां तर्पयितारं स्तेनमिव, पी०-प्रायश्चित्त करने वाले चोर के समान, मक्स०-चुराये हुए पशुओं के भोजन से तृप्त होने वाले चोर को। पशुतृप् का भाव यह भी हो सकता है कि मैं केवल अनपढ़ चरवाहा हूँ, पशुपालक हूँ, अतः मुझ में अज्ञान अधिक है। अतः मेरे अपराध को बहुत गम्भीर नहीं समझना चाहिये। इसी प्रसंग में अज्ञानी अल्पबुद्धि बछड़े से उपमा भी महत्त्वपूर्ण है। कुछ विद्वान् तुलनात्मक भाषाविज्ञान के आधार पर √तृप् का अर्थ 'चोरी करना' भी करते हैं। इस विषय में उनका आधार वैदिक शब्द तृप् (डाकू), यूनानी 'त्रेपो' और अवेस्ता '√त्रिफ (चुराना)' है। किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में यह अर्थ अनुकूल नहीं है। इसके अतिरिक्त यदि यह अर्थ मान लिया जाये तो 'तायु' अनर्थक रह जाता है।

वसिष्ठम्—यद्यपि यह स्पष्ट ही नाम है किन्तु यहाँ किसी विशेष भाव को व्यक्त करने के लिये इसका प्रयोग किया गया प्रतीत होता है। सम्भवतया वस (रहने वाला, निष्ठापूर्वक स्थिर रहने वाला) से इष्ठन् प्रत्यय के द्वारा निष्पन्न होने में भक्त की प्रगाढ़ निष्ठा की ओर यहाँ संकेत किया गया है। भक्त की प्रार्थना है कि ऐसे निष्ठावान् व्यक्ति को अवश्य ही क्षमा कर दिया जाना चाहिये। दे० ऋ० १।११२।९ के अन्तर्गत 'वसिष्ठम्' की स्वामी दयानन्द की व्याख्या—यो वसति धर्मादिकर्मसु सोऽतिशयितस्तम्।

न स स्वो दक्षो॑ वरुण ध्रुतिः॒ सा सुरा॑ म॒न्युर्वि॒भीद॑को॒ अचि॑त्तिः।
अस्ति॒ ज्याया॒न् कनी॑यस उपा॒रे स्वप्न॑श्च॒नेदनृ॑तस्य प्रयो॒ता ॥६॥

न। सः। स्वः। दक्षः। वरुण। ध्रुतिः। सा। सुरा। मन्युः। विऽभीदकः। अचित्तिः। अस्ति। ज्यायान्। कनीयसः। उपऽआरे। स्वप्नः। चन। इत्। अनृतस्य। प्रऽयोता॥

नहीं यह अपनी इच्छा है वरुण ! नियति (है) वह (तो),
मदिरा, क्रोध, जुए के पासे, (या) अविवेक (बड़ा भारी)।

होता है बड़ा (सदा) छोटे की सन्निधि में (प्रेरक)

और स्वप्न भी मिथ्या (पाप) का मिथक (विपदा सारी)॥

पिछले मन्त्र में जो अज्ञान में अपराध की भावना प्रकट की गई, उसी की पुष्टि प्रस्तुत मन्त्र में की जा रही है। बताया गया है कि किन परिस्थितियों में मनुष्य विवेक खो बैठता है। इसके अतिरिक्त एक कारण अपराध का यह भी है कि प्रायः व्यक्ति अपने से बड़े का अनुकरण करते हैं। यदि वह इस प्रकार के अपराध करता है तो सामान्य जन उसका अनुकरण करके वैसा अपराध करेंगे।[1] इसकी व्याख्या इस प्रकार भी हो सकती है कि बड़े व्यक्ति के पार्श्व में छोटा व्यक्ति निश्चिन्त हो जाता है। वह सोचता है कि यदि मैं इसकी सन्निधि में कोई अपराध करता हूं, तो या तो वह मुझे उसमें रोक देगा और या फिर वह मुझे क्षमा कर देगा। असत्य या नियमविरुद्ध कार्य तो मनुष्य से स्वप्न में भी नहीं छूटता, फिर जाग्रत अवस्था में तो अनजाने में मनुष्य वह कार्य करता ही रहता है। इसलिये अज्ञानवश या नासमझी की अवस्था में किये गये अपराध को अपराध न मानकर क्षमा कर देना चाहिये।

स्वः दक्षः—सा०-स्वरूपवद् बल पापप्रवृत्तौ कारण न भवति। पी०-मेरा अपना बल (माइ ओन स्ट्रेंथ), वेल०—अपनी बुद्धि। यह शब्द बुद्धि और शीघ्रता अर्थ वाले √दक्ष् से निष्पन्न है।

ध्रुतिः—सा०-स्थिरा उत्पत्तिसमय एव निर्मिता दैवगतिः[2] कारणम्। ध्रु गतिस्थैर्ययोरिति धातुः, पी०-भाग्य (फेट), वेल०-वञ्चना—√ध्रु (सताना) से—छलना, वञ्चना। रोथ—पाप के प्रति लोभ (टेम्प्टेशन इनटू सिन)। जुआ, क्रोध, मदिरा—ये सब दैवगति के अन्तर्भूत हैं।

विभीदक.—सभी विद्वान्—द्यूतसाधनोऽक्ष.। स ह्य द्यूतेषु पुरुष प्रेरयत्ननर्थहेतुर्भवति।

अस्ति ज्यायान्...सा०-अपि च कनीयसः अल्पस्य हीनस्य पुरुषस्य पापप्रवृत्तौ उपारे उपागते समीपे नियन्तृत्वेन स्थितो ज्यायान् अधिकः ईश्वरोऽस्ति स एव त पापे प्रवर्तयति। तथा चाम्नातम्—एष ह्येवासाधु कर्म कारयति त यमधो निनीषतीति (कौषीतकि उपनिषद् ३।८)। पी० यह एक असमाधेय ग्रन्थि है क्योंकि 'उपारे' अन्यत्र नहीं आता। मक्स० प्रभृति विद्वानों द्वारा किये गये इसके अर्थ का भाव यह है कि 'बड़ा व्यक्ति ही छोटे को पथभ्रष्ट

---

1. तु. गीता—यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जन।
स यत् प्रमाण कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

2. तु० भवत्यभव्येष्वनवग्रहग्रहा यया दिशा धावति वेधस स्पृहा।
तृणेन वात्येव तयानुगम्यते जनस्य चित्तेन भृशावशात्मना॥ नैषध०

करता है।' ग्रास०-छोटे व्यक्ति का प्रमाद बड़े को ग्रभिभूत कर लेता है। वेल०-छोटे (बच्चे) के ग्रपराध में बड़े को हिस्सेदार मान्त्र हो जाता है। 'उपारे' की व्युत्पत्ति सम्भवत: उप + √ऋ (गतौ) से मानी जा सकती है—निकट जाने से, संयुक्त होने से। पाश्चात्य विद्वान् इसके मूल में हिंसाथक √ग्रर् मानने के पक्ष में हैं। उनके मतानुसार √ग्रर का यह ग्रर्थ √मर, ग्ररिग्रर्वन् ग्रादि में सुरक्षित है। प्रस्तुत वाक्य की निम्नलिखित व्याख्यायें भी सम्भव हैं —

१ कनीयस मनुष्यस्य उपारे ज्यायान् स्वप्नश्च इत् ग्रनृतस्य प्रयोता। कनीयान् ग्रल्पशक्ति परन्तु स्वप्न ज्यायान्। तु० यो जागार तमृच कामयन्ते यो जागार तमु सामानि यन्ति। यो जागार तमय सोम ग्राह तवाहमस्मि सख्य न्योका॥ ऋ० ५।४४।१४

२ कनीयस ग्रनृतस्य उपारे ज्यायान् स्वप्न प्रकर्षेण प्रेरयिता (प्रयोता)।

३ कनीयस मनुष्यस्योपारे न स स्वो दक्षो वतते येन पापाना निराकरण स्यात्। परन्तु ध्रुति, सुरा विभीदक मन्युश्च सन्ति। ग्रस्मादप्यधिकमनृतस्य प्रयोता ज्यायान् स्वप्न।

४ कनीयस मनुष्यस्योपारे (वरुणेन सह मिलने) प्रयोता दूरीकर्ता च केवल सुराद्य परन्तु ग्रनृतस्य स्वप्नमात्रमपि ज्यायानस्ति।

५ उपारे सम्मिलने कनीयस ग्रनृतस्य स्वप्नोऽपि ज्यायान् प्रयोता दूरीकर्ता भवति।

६ कनीयस मनुष्यस्योपारे समीपे ज्यायान् स्वप्न ग्रनृतस्य प्रयोता–मनुष्य की भौतिक कामनायें (जो कि वस्तुत स्वप्न ही हैं) ग्रनृत से मिलाने वाली या ऋत भग करने वाली हैं क्योंकि इन्हीं कामनाग्रो के वशीभूत होकर मनुष्य ग्रपराध कर बैठता है। यही ज्यायान् ग्रासुरी शक्ति कही जा सकती है। तु० गीता—

> ग्रथ केन प्रयुक्तोऽयं पाप चरति पूरुष।
> ग्रनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजित॥

स्वप्नश्चन—सा० स्वप्नोऽपि ग्रनृतस्य पापस्य प्रयोता प्रकर्षेण मिश्रयिता भवति। ईदिति पूरक। स्वप्ने कृतैरपि कर्मभिर्बहूनि पापानि जायन्ते किमु वक्तव्य जाग्रति कृत कर्मभि पापायुत्पद्यन्त इति। ग्रतो ममापराधो दैवागत इति हे वरुण त्वया क्षन्तव्य इति भाव। पी०-स्वप्न भी मुझे पाप में प्रवृत्त कराता है पापों को दूर नहीं करता—च न प्रयोता (पृथक्कर्ता)। वेल० निद्रा भी (मनुष्य को दुष्ट शत्रु के) मिथ्यात्व से दूर नहीं कर सकती। स्वप्न की

दाक्षित के विषय में तु०-अदृष्टमप्यर्थमदृष्टवैभवात् करोति सुप्तिर्जनदर्शनातिथिम् ॥
(नैषध०)

अरं दासो न मीळ्हुषे कराण्यहं देवाय भूर्णयेऽनागाः ।
अचेतयदचितो देवो अर्यो गृत्सं राये कवितरो जुनाति ॥७॥

अरम् । दासः । न । मीळ्हुषे । कराणि । अहम् । देवाय । भूर्णये । अनागाः । अचेतयत् । अचितः । देवः । अर्यः । गृत्सम् । राये । कविऽतरः । जुनाति ॥

सेवा दास-सम (मैं) सुखदायक की करूँ (निरन्तर),
मैं देव की, महाबलिष्ठ की दोष-रहित हो (अब तो) ।
देता ज्ञान, ज्ञान-रहितों को देव (सभी का) स्वामी,
मेधावी को, धननिमित्त अधिक ज्ञानी प्रेरित करे ॥

जब सखा रूप मे भी वरुण ने भक्त को दोष-मुक्त नही किया, तब वह प्रायश्चित के लिये दासरूप मे भी उसकी सेवा करने को तत्पर है । वह देव अत्यन्त बलिष्ठ है, सर्वशक्तिमान् है । अतः किसी न किसी प्रकार से उसे प्रसन्न करके उसकी दृष्टि मे पूर्णतया दोषरहित होना आवश्यक है । क्योंकि वह देव अज्ञानी जनो को ज्ञान देता है, अतः भक्त उससे प्रार्थना कर रहा है कि सबसे अधिक ज्ञानी होने के कारण मेधावी जन को भी (सच्चे) धन के प्रति प्रेरित कर दे । सच्चे धन का भाव 'राये' शब्द में विद्यमान √रा (दाने) धातु से स्पष्ट होना है—अर्थात् दान की भावना । वही त्याग है, वही मुक्ति का मार्ग है । तु० तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः (ईशोपनिषद्) ।

अरं कराणि—सा०-पर्याप्त कराणि परिचरणं करवाणि, पी०—मैं पूजा रूप सेवा करूँगा (आइ विल वर्शिप—सर्व), वेल०-मैं सेवा करूँगा । कराणि—√कृ के विकरण-लुग्-लुङ् अङ्ग से लेट्, उत्तम० एक० (दे० वै० व्या० भा० २, पृ० ५७३) ।

भूर्णये—सा०-जगतो भर्त्रे, पी०-यशस्वी, बलिष्ठ (ग्लोरिअस्, माइटी), वेल०-सुलभ कोप वाले ।

अनागाः—सा०-वरुणप्रसादादपापः सन् । इस बहुव्रीहि समास का नियमित स्वर ('नञ्सुभ्याम्' के अनुसार अन्तोदात्त) ऋग्वेद मे केवल एक स्थान (१०।१६५।२) मे प्राप्त होता है। आद्युदात्त व्यत्यय से ही सिद्ध हो सकता है ।

अचेतयत्—सा०-चेतयतु, प्रज्ञापयतु, पी०-मेधावी बनाता है (मेक्स वाइज), वेल०-ज्ञानपूर्ण करता है । मं०-विचारवान् बनाया । पाद के आदि मे होने के कारण तिङन्त होते हुए भी सोदात्त है ।

पूर्य.—स्वामी । विस्तृत टिप्पणी के लिये दे० ऋ० १।८१।६ ।

गृत्सम्—सा०-स्तोतारम्, पी०, वेल०-ज्ञानी पुरुष को । नि० ६।५-गृत्स इति मेधाविनाम, गृणातेः स्तुतिकर्मणः, मेधावी व्यक्ति ही अच्छी स्तुति कर सकता है ।

जुनाति—सा०-जुनातु प्रेरयतु, (लेट्, प्र० पु० एक०), पी०, वेल०-सहायता करता है, आगे बढ़ाता है । (लट्, प्र० पु० एक०) ।

अयं सु तुभ्यं वरुण स्वधावो हृदि स्तोम उपश्रितश्चिदस्तु ।
शं नः क्षेमे शमु योगे नो अस्तु यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥८॥

अयम् । सु । तुभ्यम् । वरुण । स्वधाऽवः । हृदि । स्तोमः । उपऽश्रितः । चित् । अस्तु । शम् । नः । क्षेमे । शम् । ऊँ इति । योगे । नः । अस्तु । यूयम् । पात । स्वस्तिऽभिः । सदा । नः ॥

यह शुभ तेरे लिये वरुण हे पूर्ण स्वास्थ्य से युक्त (प्रभो) !
हृदय में (मेरे) स्तोम उपस्थित सदा रहे (आह्लादक) ।
शान्ति हमारी क्षेम में शान्ति सब योग में हमरी हो
तुम सब रक्षा करो कल्याण से सदा हमारी (देवो) ॥

ऐसा प्रतीत होता है कि उपर्युक्त स्तुति के द्वारा भक्त वरुण को प्रसन्न करके उससे कृपा प्राप्त करने में सफल हो गया है । इसीलिये अब वह सचेत है कि भविष्य में ऐसा प्रमाद न हो । वह अभिलाषा व्यक्त करता है कि वरुण की स्तुति उसके हृदय में उपस्थित रहे । उसके फलस्वरूप क्षेम अर्थात् प्राप्त वस्तुओं की रक्षा तथा योग अर्थात् अप्राप्त वस्तुओं की प्राप्ति में शान्तिपूर्ण सफलता के प्रति वह अभावान् है ।

क्षेमे योगे—प्रायः परवर्ती साहित्य में इन शब्दों का क्रम योगक्षेम है । वेद के इस विशेष क्रम से यह द्योतित होता है कि अप्राप्त वस्तुओं की प्राप्ति की समस्या बाहुल्य के कारण तब सम्भवतया इतनी अधिक नहीं थी, जितनी उनकी रक्षा की ।

शम्—सा०-उपद्रवाणां शमनमस्तु, पी०-मुझे विश्राम के समय और कार्य के समय सुख दो (ब्लैस मी रैस्टिंग, ब्लैस मी वर्किंग), वेल०—श्रम तथा विश्राम के समय हमें सुख प्राप्त हो ।

विष्णुः

व्याप्त्यर्थक √विष् से निष्पन्न विष्णु नाम वाला देवता महिमा की दृष्टि से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। यद्यपि ब्राह्मणों में यज्ञ की प्रमुखता के कारण विष्णु का बहुत प्रमुख स्थान रहा है और अनेक बार उसे ही यज्ञ बताया गया है (विष्णुर्वै यज्ञः), तथापि ऋग्वेद में भी मूल रूप में विद्यमान व्याप्ति की भावना सर्वदा ध्यान में रही है। इसीलिये कहा गया है कि विष्णु के तीन विस्तीर्ण पगों की सीमा में सभी लोकों का निवास है—यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधि क्षियन्ति भुवनानि विश्वा (ऋ० १।१५४।२)। यह भी बताया गया है कि तीन स्थानों में रहने वाले उस अकेले ने पृथिवी और आकाश को ही नहीं, सभी लोकों को धारण किया हुआ है—य उ त्रिधातु पृथिवीमुत द्यामेको दाधार भुवनानि विश्वा (ऋ० १।१५४।४)। विष्णु सबको प्रेरणा देने वाला है, वह अपने तीनों पाद-प्रक्षेपों में नियमों का पूर्ण ध्यान रखता है—अतो धर्माणि धारयन् (ऋ. १।२२।१८) विष्णु अन्तर्यामी भी है क्योंकि एक व्याख्या के अनुसार वह गर्भरक्षक भी वर्णित हुआ है—विष्णुं शिपिविष्टमा (ऋ० ७।३६।९)। सम्भवतया इन विशेषताओं के आधार पर ही स्वामी दयानन्द ने विष्णु की व्याख्या सर्वव्यापी ईश्वर के रूप में की है। बहुत स्पष्ट कहा गया है कि हे विष्णु देव, न तो उत्पन्न हुआ कोई, और न उत्पन्न होने वाला आपकी महिमा के परम अन्त को प्राप्त कर सकता है—न ते विष्णो जायमानो न जातो देव महिम्नः परमन्तमाप (ऋ० ७।९९।२)।

विष्णु का वर्णन अतिविशाल शरीर वाले एक ऐसे युवक के रूप में किया गया है जो अब शिशु नहीं है—बृहच्छरीरो विमिमान ऋक्वभिर्युवा कुमारः प्रत्येत्याहवम् (ऋ० १।१५५।६)। विष्णु की प्रमुख विशेषता उसके तीन कदम (त्रीणि विक्रमणानि) हैं जिनके कारण उसे त्रिविक्रम, उरुक्रम और उरुगाय कहा जाता है। इसके दो पग तो मनुष्यों को दिखाई देते हैं, परन्तु सर्वोच्च तृतीय पद पक्षियों की उड़ान से भी परे है—तृतीयमस्य नकिरा दधर्षति वयश्च न पतयन्तः पतत्रिणः (ऋ० १।१५५।५)। इसका यह सर्वोन्नत पग स्वर्ग में स्थित नेत्र के समान है और नीचे की ओर प्रदीप्त होता है—तद्विष्णोः परमं पदं...दिवीव चक्षुराततम् (ऋ० १।२२।२०)। उसके इसी प्रिय स्थान में दिव्यत्व के अभिलाषी मनुष्य आनन्दित होते हैं—नरो यत्र देवयवो मदन्ति

(ऋ० १।१५४।५)। मैक्डॉनल के मतानुसार इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन तीन क्रमणों से सूर्य का मार्ग, और बहुत सम्भव है कि विश्व के तीन भागों, पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में से जाने वाला इसका मार्ग अभिप्रेत है।[1] किन्तु जैसा कि तीन क्रमणों का (विशेष रूप से तृतीय सर्वोच्च का) वर्णन है, उसमें पृथ्वी, द्युलोक और उसके भी ऊपर का लोक अभिप्रेत प्रतीत होते हैं। इस अन्तिम लोक को ब्रह्मलोक या सूर्य से भी परे का लोक कहा जाता है।[2] विष्णु के इस परम पद में ही मधु या आनन्द के झरने का उल्लेख किया गया है—विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः (ऋ० १।१५४।५)। श्री अरविन्द के अनुसार विष्णु के तीन क्रमण पृथ्वी आकाश और परमलोक हैं जिनके आधार प्रकाश, सत्य और सूर्य हैं।[3] इन्हीं तीन क्रमणों को आध्यात्मिक दृष्टि से ऋषि, विचारक और निर्माता के रूप भी माना जा सकता है। अरविन्द की दृष्टि में विष्णु समस्त संसार का वृषभ है जो शक्ति की सभी ऊर्जाओं और विचारों के समूह का भोग करने वाला और उन्हें उत्पन्न करने वाला है।[4]

एक परिभ्रमणशील चक्र के समान अपने ९० घोड़ों (दिनों) को उनके चार नामों (ऋतुओं) के साथ चला देता है। इससे सौर वर्ष के ३६० दिनों की ओर संकेत होता है—चतुर्भिः साकं नवतिं च नामभिश्चक्रं न वृत्तं व्यतीँरवीविपत् (ऋ० १।१५५।६)। 'इस प्रकार मूलरूप में विष्णु उस तीव्रगति से चलने वाली ज्योति रूप सूर्य की क्रिया का मूर्तीकरण प्रतीत होता है जो अपने विशाल क्रमणों से समस्त विश्व को पार कर लेता है।'[5] विष्णु मनुष्य के अस्तित्व, उस निवास के रूप में भूमि देने के लिये क्रमण करता है—वि चक्रमे पृथिवीमेष एतां क्षेत्राय विष्णुर्मनुषे दशस्यन् (ऋ० ७।१००।४)।

विष्णु की गौण विशेषताओं में सर्वप्रमुख उसका इन्द्र के साथ सख्य है यद्यपि प्रायः वृत्र के साथ युद्ध में वह उसके साथ होता है। केवल विष्णु को निवेदित सूक्तों में इन्द्र ही मात्र ऐसा देव है जो उसके साथ साहचर्य प्राप्त करता है। एक सूक्त (ऋ० ६।६९) तो पूरा ही केवल इन दो देवों को संयुक्त रूप से अर्पित है। यह बताया गया है कि विष्णु को साथ लेकर इन्द्र ने वृत्र-वध किया—अहि यद् वृत्रमपो वव्रिवांसं हन्नृजीषिन् विष्णुना सचानः (ऋ० ६।२०।२)। इस वृत्रकथा के कारण ही इन्द्र के सहायक मरुत् भी विष्णु के सहयोगी बन

१ वैदिक माइथौलोजी, पृ ७१।
२ ईशोपनिषद्—हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
३ औरोबिन्दो ऑन दी वेद ग्लासिरी, पृ ५४।
४ वही, पृ ५३ ५४।
५ वैदिक माइथोलोजी पृ ७२।

गये हैं। एक सम्पूर्ण सूक्त (ऋ० ६।६७) में उनके सायुज्य में विष्णु की स्तुति की गई है।

मैक्डॉनल के मतानुसार "अवेस्ता में एक सम्कार में पृथ्वी से लेकर सूर्य के क्षेत्र तक बढ़ाये गये अमृतस्पन्दम के तीन पग इसकी अनुकृति हैं।"[1] कुछ विद्वानों का मत है कि परवर्ती पौराणिक विष्णु के वामन अवतार का मूल आधार ऋग्वेद के तीन विक्रमणों में है। तै० स० २।१।३ में तो यहाँ तक उल्लेख है कि विष्णु ने वामन का रूप धारण करके तीनों लोकों को विजित किया। विष्णु के पौराणिक वामनावतार का एक महत्त्वपूर्ण कृत्य बलि राक्षस से भूमि को मुक्त कराना भी था। इसका संकेत भी वैदिक साहित्य में प्राप्त होता है। ऐ० ब्रा० ६।१५ और श० ब्रा० १।२।५ में बताया गया है कि किस प्रकार असुरों से देवों द्वारा पृथ्वी प्राप्त करने में विष्णु ने सहायता की थी।

मैक्डॉनल के अनुसार इसका निर्वचन √विश (क्रियाशील होना) से होगा। तदनुसार विष्णु उसका नाम है जो बहुत क्रियाशील हो।

ऋ० ७।१००

ऋषि—मैत्रावरुणिवसिष्ठ, देवता विष्णु, छन्दः—त्रिष्टुप्।

नू मर्तो॑ दयते सनि॒ष्यन् यो विष्ण॑व उरुगा॒याय॒ दाश॑त्।
प्र यः स॒त्राचा॒ मन॑सा॒ यजा॑त ए॒ताव॑न्तं॒ नर्य॑मा॒विवा॑सात् ॥१॥

नु। मर्तः॑। दय॑ते। स॒नि॒ष्यन्। यः। विष्ण॑वे। उ॒रु॒गा॒याय॑। दाश॑त्। प्र। यः। स॒त्राचा॑। मन॑सा। यजा॑ते। ए॒ताव॑न्तम्। नर्य॑म्। आ॒ऽविवा॑सात् ॥

निश्चय ही (वह) मर्त्य प्राप्त करता है प्राप्ति का इच्छुक,
जो विष्णु को विस्तृत गति को करदे अर्पित (सब कुछ)।
जो सतत पूर्ण मन से प्रकृष्ट उपासना करता है,
(और जो) इतने नर के हितकारी को करे सपर्या ॥

इस मन्त्र में गीता (९।२७) के निम्नलिखित श्लोक की स्पष्ट झलक प्राप्त होती है—यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ जिस प्रकार वहाँ (९।२८) में कहा गया है कि सब कुछ ईश्वरार्पण करने वाले व्यक्ति को मुक्ति प्राप्त होती है, उसी प्रकार यहाँ भी सर्वव्यापी विष्णु का सर्वस्व अर्पित करने वाले को सब कुछ अभीष्ट प्राप्त होने

[1] वैदिक माइथोलाजी, पृ ७५।

की बात कही गई है। मूल भावना यहाँ अहङ्कार के त्याग की है। पूर्ण समर्पण की भावना से उस परमेश्वर की शरण में जाने पर ही मनुष्य सच्ची शान्ति प्राप्त करता है। वह ईश्वर तो स्वयं न्यायपूर्वक सब जनों का हितचिन्तक है। इसके समान भाव भी गीता (१८।६२) में उपलब्ध है —तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत। तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

घ—निरुक्त (१।२) में इसके 'हेतु, अनुप्रश्न, उपमा' अर्थ दिये गये हैं। नि० २।८ में जो मन्त्र उद्धृत किया गया है, उसमें इसका 'निश्चय' अर्थ स्पष्ट है। यहाँ वें०, सा०—क्षिप्रम्, सात०-सत्वर, स्वा० द० ने भी प्रायः इस शब्द का यही अर्थ दिया है। गेल्ड०—निश्चय ही (गेविस्स)। संहितापाठ में दीर्घ ऊकार द्रष्टव्य है—पा० ६।३।१३३, ऋचि तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम्। त्रिष्टुप् पाद के दो अक्षरों में से एक की कमी पूरी करने के लिये यहाँ इसका उच्चारण 'नू उ' करना चाहिये (दे० वोलंर बुक स्मुम ऋग्वेद)।

दयते—प्रयच्छति (वें०), सात०, गेल्ड०-धनमादत्ते, दयतिरादानार्थे द्रष्टव्य (प्राप्त करता है), ग्रास०-पश्चात्ताप करना (बेरॉयन)। धातु पाठ में इसके अर्थों में से एक अर्थ 'आदान' भी है—दय दानगतिरक्षणहिंसादानेषु। सा० ने एक भिन्न अन्वय करके 'ददाति' अर्थ भी दिया है—स मर्तः सनिष्यन् धनादीनि लप्स्यमानो भवन्नेव हविरादिकं नु क्षिप्रं दयते विष्णवे ददातीति योज्यम्।

सनिष्यन् —प्राप्ति का इच्छुक—√सन् तनादि० लृट् शतृ० पु० प्रथमा० एक०, वें० —हविर्द्वारेण धनं सनिष्यन्। ग्रास०-सनि (प्राप्ति) ■ नामधातु—सम्पत्ति की इच्छा करता हुआ। सात०-धन की इच्छा करके। सा०-धनमिच्छन्, यद्वा सनिष्यन्निति सनतेर्लाभार्थस्य लृटि रूपम्—धनादीनि लप्स्यमान। पाद में दूसरे अक्षर की कमी पूरी करने के लिये 'सनिषियन्' उच्चारण करना चाहिये।

उरुगायाय—वें०-उरुकीर्तये। सा०, सात० बहुभिः कीर्तनीयाय (बहुतों द्वारा प्रशंसनीय), आधुनिक भारतीय और पाश्चात्य विद्वान्—विस्तृत गति वाले को (उरु. गाय √गा—जाना, यस्य स, बहु०—मॅ०—वाइड पेस्ड), अन्यत्र स्वयं सायण ने और अर्थों के साथ साथ यह अर्थ भी स्वीकार किया है—दे० ऋ० ८।२९।७—उरुभिर्बहुभिर्गातव्य, यद्वा बहुषु देवेषु गन्ता, बहुकीर्तिर्वा सर्वाऽङ्छत्रून् स्वसामर्थ्येन शब्दयत्याक्रन्दयतीति वोरुगाय। दे० या० (नि० २।७)—उरुगायस्य विष्णोर्महागतेः।

दाशात्—दे दे, अर्पित कर दे, √दाश् लेट्, प्र० पु० एक०, सा०-दद्यात्, (पा०, ८।१।६६) के अनुसार यह तिङन्त पद वाक्य के अन्त में भी उदात्त है।

सुत्राव्णा—वें०-अहत्वमञ्चता, सा०-सहाञ्चता मनसा मननेन स्तोत्रेण,

सात०-साथ साथ कहे जाने वाले मन्त्रों से, ग्रास०-सत्रा मञ्चति इति—साथ साथ चलने वाला (शास्त्रसम-चिन्तनयुक्त), गेल्ड०-पूर्ण (मन से), मक्स०-सामान्य (कॉमन)।

नर्यं॑प्—सा०, सात०—नरेभ्यो हितम् (मनुष्यों के हितकर्ता), पौरुषयुक्त (मैन्ली)—सभी पाश्चात्य विद्वान्। या० (नि० ११।३७)—नर्यो मनुष्यो नृभ्यो हितो नरापत्यमिति वा। ग्रर०—वीरोचित शक्ति (स्ट्रेंग ग्रॉफ द हीरो)। छन्द के अनुसार इसका उच्चारण 'नरिग्रम्' होना चाहिये।

आविवासात्—वें०-आविवासति, अधितिष्ठति, सा०—नमस्कारादिभिः परिचरेत्, या० (नि० २।२४)—आविवासेम परिचरेम, सात०-पूजा करता है, पाश्चात्य और आधुनिक भारतीय विद्वान्[1]—प्राप्त करने की इच्छा करे (√वन्—प्राप्त करना—सन्नन्त, लेट्, प्र० पु० एक०)। किन्तु नि० २।२४ पर मुकुन्द बक्शी झा—विवासतिर्नैरुक्तधातु विपूर्वाद् वसेर्णिच्। छन्दस्युभयथा (पा० ३।४।११७) इति शपि आर्धधातुकत्वाण्णिलोपः इति भट्टभास्करमिश्राः आहुः। विवासतीति परिचरणकर्मसु पठितम् (निघ० ३।५)।

त्वं विष्णो सुमतिं विश्वजन्यामप्रयुतामेवयावो मतिं दाः।
पर्चो यथा नः सुवितस्य भूरेरश्वावतः पुरुश्चन्द्रस्य रायः ॥२॥

त्वम्। विष्णो इति। सुऽमतिम्। विश्वऽजन्याम्। अप्रऽयुताम्। एवऽयावः। मतिम्। दाः। पर्चः। यथा। नः। सुवितस्य। भूरेः।

तुम हे विष्णु, शुभ विचार की, सभी जनों की हितकर,
स्खलनरहित (जो उदार) कामगति हे, बुद्धि (हमें) दो।
सम्बद्ध करो जिससे तुम हमको शुभ-गमन बहुत से,
अश्वों से युक्त बहुआह्लादक धन के (अंशों से)॥

पिछले मन्त्र में कहा गया कि ईश्वर के उपासक को अभीष्ट की प्राप्ति हो जाती है। अब यह बताया जा रहा है कि ऐसे उपासक को अभीष्ट क्या है। ऐसे व्यक्ति का अभीष्ट सन्तुलित जीवन ही है। अश्वादि धन के साथ साथ शोभन बुद्धि, विवेक की भी प्रार्थना की गई है। वह बुद्धि या विचारधारा ऐसी हो जिससे सभी जनो का कल्याण सिद्ध हो। उसी बुद्धि से धन सुप्राप्य हो—अर्थात् बिना छल-कपट के, परिश्रमपूर्वक धनोपार्जन हो। और धन के

---

1. पीटर्सन इस विषय में अपवाद है। उसने ऋ. १।८३।१ में 'आ विवास' का अर्थ 'उसके सम्मुख प्रणाम करो' (बा डाउन बिफोर हिम) किया है। [illegible] 'परिचर' के निकट है।

लिये भी 'रै' शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसमे मूल भावना दान देने (√रा) की है। प्रतीक रूप मे अश्वयुक्त धन गतियुक्त सामर्थ्य भी हो सकता है। इसी प्रकार प्रति कान्तिशील धन भी 'तेजस्विता' हो सकती है।

विष्णो—पदपाठ मे इसके आगे इति द्रष्टव्य है। पदपाठ में उकारान्त प्रातिपदिकों के सम्बोधन के एकवचनान्त ओकार को प्रगृह्य माना जाता है और उसके आगे 'इति' जोड़ा जाता है। (दे० वै० व्या० भा० १, पृ० ६७-पा० १।१।१६—सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे।)

सुमतिम्—शोभना मति बुद्धि यस्या तां मतिम् (बहु०) 'नञ्सुभ्याम्' से अन्तोदात्त।

विश्वजन्याम्—विश्वस्मै जनाय हिताम् (पा० ५।१।५—तस्मै हितम्—से यत् प्रत्यय), या० (नि० ११।१२) ने 'विश्वजन्यम्' का अर्थ 'सर्वजन्यम्' दिया है। सब लोगों के लिये हितकर। ऋ० १।१६६।८ मे 'विश्वजन्या' पर स्वा० द० -या विश्व जनयन्ति ता—अत्र अघ्न्येयेति कर्तरि जन्यशब्द। किन्तु यहाँ इस प्रकार उपपद समास बनता है, तदनुसार 'गतिकारकोपपदात् कृत्' से उत्तर पद प्रकृतिस्वर होना चाहिये था। किन्तु ऋ० ६।४७।२५ मे 'विश्वजन्यम्' पर—विश्वाञ्जनमित् ओयम् विश्वसुखजनक था।

अप्रयुताम्—वें०-अप्रमत्ताम्, सा०, सात०-दोषैर्वियुताम्, ग्रास०-निरन्तर (उन् आब्लैसिग), गेल्ड०-परिवतनरहित (उन्-वाडलबारे)। स्पष्ट ही सायण के अर्थ मे√यु को मिश्रणार्थक माना गया है और ग्रासमैन के अर्थ में पृथग्भावार्थक। किन्तु रूढ़ि को देखते हुए सायण ठीक प्रतीत होता है क्योंकि प्राय 'युत' का अर्थ 'युक्त' ही होता है। नञ समास मे पूर्वपद पर प्रकृतिस्वर होता है (दे० पा० ६।२।२ और उस पर वार्तिक)।

एवयावः—सम्बोधन, सर्वानुदात्त। वें०-एवान् गच्छति इति, सा०—एवाः प्राप्तव्याः कामा, तान् यापयति प्रापयति स्तोतृन् इत्येवयावा, हे एवयावन्। सात० हे कामनाओं की पूर्णता करने वाले, ग्रास०, मै० —द्रुतगति से चलने वाले (राशगेहेंद), गेल्ड०-स्वैरगति से आने वाले (गेर्न-कॉमेंदर), स्वा० द० ऋ० १।६०।५ में—एति जानाति सर्वव्यवहार येन स एवो बोधस्त याति प्राप्नोति प्रापयति वा तत्सम्बुद्धौ। मैक्स०-निरन्तर चलने वाला, या० (नि० १२।२१)—एवैं कामैरयनैरवनैर्वा। एवैं कामैं याति गच्छति इति एव+या +वन् (वनिप्)—एवयावन् से सम्बो० एक० मे 'मतुवसो रु सम्बुद्धौ' (पा० ८।३।१) तथा वार्तिक 'मतुवसोरादेशे वन उपसख्यानम्' से अन्तिम न् के स्थान पर 'रु' और फिर उससे विसर्जनीय।

दाः—दे दो √दा लेट् म० पु० एक०, पाश्चात्य विद्वान्—√दा विकरण-

लुग्-लुङ् के अर्थ में लेट् म० पु० एक।

पर्चः—वें०, सा०, सात०—सम्पर्कं न अस्माकं यथा भवति तथा देही-त्यन्वयः (विपुल धन का सम्पर्क जिस तरह हो सके, ऐसा करो)। पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार—तुम सम्पर्क (सम्पृक्त) करो—√पृच विकरण-लुग लुङ् अर्थ में लेट् म० पु० एक०, ग्रास०, गेल्ड०-दे दो। वाक्य के प्रारम्भ में तिङन्त पद उदात्त है। यह पद ऋ० में केवल एक बार इसी स्थान पर आया है।

सुवितस्य—वें०-शोभनगमनस्य, सा०, सात०-सुष्ठु प्राप्तव्यस्य (सुख से (प्राप्त होने योग्य) पाश्चात्य विद्वान्—दुरित का उल्टा, कल्याण, शुभ गति वाला (सु+√इ+क्त)—वेन्केयर, गुर्वेर फोनगाग। या० (नि० ४।१७)—सुविते—सु इते सूते—सुगते प्रजायामिति वा (अच्छी गति वाले स्थान में या प्रजा में)। 'राय' के विशेषणभूत इस पद में, अन्य विशेषणों में तथा 'राय.' में स्वयं पूर्ण का अंश निर्दिष्ट करने के लिये द्वितीया के अर्थ में षष्ठी है। (दे० ऋ. ५।५७।१ और वै० ग्रा० स्ट्र०, २०२ A, d २)।

पुरुश्चन्द्रस्य—वें०-बहुसुवर्णस्य, सा०, सात० पुरूणा बहूनामाह्लादकस्य (अत्यन्त आह्लाददायक), भारतीय भाष्यकारों और गेल्ड० ने प्रायः यही दो अर्थ किये हैं (दे० ऋ० १।२७।११, २।२।१२, ३।२५।३ इत्यादि), सा० ने ऋ० १।२७।११ में 'पुरुचन्द्र' का अर्थ 'बहुदीप्ति' किया है। कुछेक स्थलों पर 'बहुतों का प्रिय' (बहूना कान्तः) अर्थ भी किया गया है। इस अर्थ में 'चन्द्र' शब्द का निर्वचन √चन्द् (कामना करना) से किया गया है। ग्रास०, मक्स०, ओ० ब० प्रभृति विद्वानों ने इसका अर्थ प्रायः 'अत्यन्त दीप्ति या प्रकाश से युक्त' किया है। 'चन्द्र' पर टि० के लिये दे० ऋ० ५।५७।७ में 'चन्द्रवत्' पर टि०। पुरूणां बहूनां चन्द्र. आह्लादक—षष्ठी तत्० 'समासस्य' (पा० ६।१।२२३) के अनुसार अन्तोदात्त। 'बहुत दीप्तियुक्त' या 'बहुत सुवर्णयुक्त' अर्थ करने पर भी बहुव्रीहि समास होने से उत्तरपद पर उदात्त होता है।[१] 'ह्रस्वाच्चन्द्रोत्तरपदे मन्त्रे' (पा० ६।१।१५१) के अनुसार दोनों पदों के मध्य सुट् (स्) आकर सन्धि से 'श्' हो गया है।

त्रिर्देवः पृ॑थि॒वीमे॒ष ए॒तां वि च॑क्रमे श॒तर्च॑सं महि॒त्वा।
प्र विष्णु॑रस्तु त॒वस॒स्तवी॑या॒न् त्वे॒षं ह्य॑स्य॒ स्थवि॑रस्य॒ नाम॑ ॥३॥

त्रि । दे॒वः । पृ॒थि॒वीम् । ए॒षः । ए॒ताम् । वि । च॒क्र॒मे॒ । श॒तऽअ॑र्चसम् । म॒हि॒ऽत्वा । प्र । विष्णुः॑ । अ॒स्तु॒ । त॒वसः॑ । तवी॑यान् । त्वे॒षम् । हि । अ॒स्य॒ । स्थवि॑रस्य । नाम॑ ॥

१. क्योंकि यहाँ पूर्वपद में प्रथम विशेषण है। दे वै. व्या भा. २, पृ. ८६६।

तीन बार देव ने पृथ्वी का इसने इसका (देखो)
विक्रमण किया है सौ स्तुतियों वाली का महिमा से।
प्रकृष्ट विष्णु हो जाये, (जो है) महान् से अतिमहान्,
महान् ही (है) इस वृद्ध का नाम (अतुलित गरिमा से)॥

यहाँ स्पष्ट ही सूर्य रूप में ईश्वर का स्मरण किया गया है। प्रतिदिन प्रातः, मध्याह्न और सायं की अवस्थाओं में मानो यह तीन बार पृथ्वी को पार करता है। पृथ्वी स्वयं विविध रस रूप और अद्भुत प्रकृति के कारण स्तुत्य है। ये तीन अवस्थायें संसार की उत्पत्ति, स्थिति और लय अथवा शरीर की जन्म, स्थिति और मृत्यु की अवस्थायें भी हो सकती है जिन सब पर परमेश्वर का पूर्ण अधिकार है। यहाँ विस्तृत संसार या शरीर ही पृथ्वी है। विष्णु महान् से भी महान् के रूप में सब जनों के मन में प्रकृष्टता प्राप्त कर ले। अनादि-काल से स्थिति के कारण ही उसे वृद्ध कहा गया है। भाव यह है कि सभी जन किसी और को उससे महान् न समझें। सा० ने पृथ्वी को पृथ्वी आदि तीन लोक माना है (पृथिव्यादीस्त्रीन् लोकान्)।

प्रथम और चतुर्थ पादों में एक एक अक्षर कम होने के कारण इसे निचृद् त्रिष्टुप् छन्द माना जायेगा। अथवा छन्दःपूर्ति के निमित्त प्रथम पाद में 'देवः' का 'दइव', और चतुर्थ पाद में 'ह्यस्य' का 'हि अस्य' उच्चारण करना होगा।

शतर्चसम्—वें०-बहुस्तुतिकाम्, सा०, सात०-शतसंख्यान्यर्चीषि यस्या-स्ताहशीम् (सैंकड़ों तेजों वाली इस भूमि पर तीन बार पराक्रम किया)। ग्रास०-सैंकड़ों स्तुतियों वाली, गेल्ड०-जिसके सौ गायक (?) हैं (दी हुन्दर्त वेंगर् (?) हात) 'शत+अर्चसम्' में पररूप सन्धि प्रतीत होती है। दे० वार्तिक-शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्। शतम् अर्चांसि यस्या ताम् शतर्चसम्।[1] वेल० के मतानुसार 'सौ स्तुतियों वाली' का अर्थ है 'जो विष्णु को सौ स्तुतियाँ अर्पित करती है। —जहाँ विष्णु को लोग सौ स्तुतियाँ अर्पित करते हैं।

महित्वा—महत्व के द्वारा, √मह्+इन् (उणादि०)+त्व, (दे० ऋ० १।८।५ में 'महित्वम्' पर स्वा० द०-महाते पूज्यते सर्वैर्जनैरिति महिस्तस्य भाव'। अत्रौणादिक. सर्वधातुभ्य इन्नि तीन् प्रत्ययः'। महित्व शब्द से तृ० एक० सुपां सुलुक्पूर्वसवर्ण' इत्यादि (पा० ७।१।३६) से विभक्ति का पूर्व-सवर्णदीर्घत्व। त्व प्रत्यय को पदपाठ में प्रातिपदिक से अवग्रह द्वारा पृथक् करके दिखाया जाता है। (दे० वै० व्या०, भाग १, पृ० १९९-२००)।

---

१. अर्चस् शब्द समस्त ऋ० में केवल यहीं (उत्तरपद में) आया है। इसकी व्युत्पत्ति √अर्च् (पूजायाम्) से भी सम्भव है—अर्च्यते इति अर्चः.—√अर्च्+असुन् (उणादि. ४।१८८—सर्वधातुभ्योऽसुन्।

तुवसः—बड़े से (बड़ा), पाश्चात्य विद्वान्—बलिष्ठ से (अधिक बलवान्), या० (नि० ५।६)—तवस इति महतो नामधेयमुदितो भवति।—बड़ा, देवराजयज्वा—√तव् (वृद्धौ) से उणादि० ३।११३ से असच् प्रत्यय।

तवीयान्—अधिक बड़ा, तवस्+ईयसुन्, प्रत्यय को न् इत् होने के कारण 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (पा० ६।१।१९७) से यह आद्युदात्त है।

त्वेषम्—विस्तृत टिप्पणी के लिये दे० ऋ. १।२७।५ में 'त्वेषसन्दृशः' पर टि०।

स्थविरस्य—सा०—अस्य वृद्धस्य विष्णो नाम नामक रूप विष्णुरित्येतन्नामैव वा त्वेष हि यस्माद्दीप्त तस्मात्कारणात् स विष्णु प्रभवतित्यर्थः। ग्रास०, गेल्ड, वेल०-सुरड (प्टाइफेस्टन)।

वि च॑क्रमे पृथि॒वीमे॒ष ए॒तां क्षेत्रा॑य॒ विष्णु॒र्मनु॑षे दश॒स्यन्।
ध्रु॒वासो॑ अस्य की॒रयो॒ जना॑स उरुक्षि॒तिं सु॒जनि॑मा चकार ॥४॥

वि। च॒क्र॒मे॒। पृ॒थि॒वीम्। ए॒षः। ए॒ताम्। क्षेत्रा॑य। विष्णुः॑। मनु॑षे। द॒श॒स्यन्। ध्रु॒वासः॑। अ॒स्य॒। की॒रयः॑। जना॑सः। उ॒रु॒ऽक्षि॒तिम्। सु॒ऽजनि॑मा। च॒का॒र॒।

विक्रमण किया पृथ्वी का इसने इसका (अनायास)
निवास के लिये विष्णु ने मनुष्य को उपहृत करते।
सुस्थिर (अडिग, विश्वस्त हैं) इसके स्तुतिकर्ता जन,
विस्तीर्ण निवास शुभ सृष्टि वाले ने बना दिया है॥

सूर्य मानो पृथ्वी को मनुष्य के लिये निवासयोग्य बनाने हेतु ही पृथ्वी का तीन बार विक्रमण करता है, अन्यथा प्रकाश और उष्णता के अभाव में यहाँ जीवन असम्भव हो जाये। इसके स्तुति करने वाले जन अपनी भावनाओं में पूर्ण विश्वस्त और आस्था मे स्थिर हैं। वे इस महान् देव के महत्व को जानते हैं और इसीलिये विचलित नही होते। इस शुभ सृष्टि वाले ने मनुष्यों के लिये सुविधापूर्ण विस्तृत निवास बनाया है। सूर्य ने ही अन्न, जल आदि की विस्तृत सुविधाएँ उपलब्ध कराई हैं। यदि विष्णु को सर्वव्यापी ईश्वर माना जाये तो पृथ्वी के विक्रमण का अर्थ होगा 'सारे ससार में व्याप्ति द्वारा पहुँच जाना'। आध्यात्मिक दृष्टि से यह शरीर ही पृथ्वी है।

पृथिवीम्—सायण को छोड शेष सभी व्याख्याकार इसका अर्थ केवल 'पृथिवी' करते हैं। सा०-पृथिव्यादीनिमांस्त्रील्लोकान् (पृथ्वी आदि इन तीनों लोकों को)।

मनु॑षे—वें०—मनुष्याय (ऋ० ७।९९।३ में—मनुष्याय मनवे राज्ञे वा),

सा०-स्तुवते देवगणाय (ऋ० ७।६६।३ में—स्तुवते मनुष्याय), ग्रास०-मानव के लिये, गेल्ड० मनु के लिये। यास्क ने (दे० नि० ८।५, १२) इसका अर्थ मनुष्य ही किया है। उसने इसी से मनुष्य शब्द को भी व्युत्पन्न माना है (दे० नि० ३।७)। अन्य विद्वानों ने भी यही अर्थ स्वीकार किया है।

दुदास्यन्—वें०—असुरैराक्रान्तां पृथ्वीं निवासार्थम् असुरानवजित्य दातु-मिच्छन्। (जो पृथ्वी पहले राक्षसों द्वारा आक्रान्त थी उसे ही राक्षसों को पराजित करके मनुष्यों को देने की इच्छा करता हुआ), इसी प्रकार सा० असुरेभ्योऽपहृत्य प्रदास्यन्।

ध्रुवासः —ध्रुवा (पा० आज्जसेरसुक्) वें०—स्थिता अयमेव स्तोतव्य इत्येकमनसः तिष्ठन्ति। सा० निश्चला भवन्ति, ऐहिकामुष्मिकफलेभिन स्थिरा भवन्तीत्यर्थः (ऐहलौकिक और पारलौकिक सुखों की प्राप्ति से वे जीवन में स्थिर हो जाते हैं। गेल्ड०-मानुहेसिग (अच्छे आवास में स्थिर), वेल० दृढ़तापूर्वक अवस्थित हो जाते हैं (विरुम फर्म्ली एस्टेब्लिश्ड (एज़ लैंडलॉर्ड्ज़))।

अस्य—विष्णोः, 'इदमोऽन्वादेशेऽनुदात्तस्तृतीयादौ' (पा० २।४।३२)) के अनुसार 'अस्य' सर्वानुदात्त रहता है।

कीरयः —वें०, सा०, ग्रास०,—स्तोता, स्तुतिगायक (सॉङ्-सेंगर), अर० स्तोता या कर्मकारी, गेल्ड०-अकिञ्चन (बेडिश्म लोजे), ओ० ब०-दरिद्र, वेल० दरिद्र उपासक (पुअर वर्शिप्पर्ज़)। निघ० (३।१६) में यह शब्द स्तोता के पर्यायों में परिगणित है। ऋ० १।३१।१३ में स्वा० द० ने इसका यह निर्वचन किया है '—किरति विविधतया वाचा प्रेरयतीति कीरिः स्तोता। अ० कृविक्षेप इत्यस्मात् (उणादि० ४ १४८) अनेन इप्रत्ययः स च कित् पूर्वस्य च दीर्घो बाहुलकात्। ऋ० २।१२ ६ में सा० करोतेः कीर्तयतेर्वा, स्तोतुर्ब्राह्मण ब्राह्मणस्य च। किन्तु अधिकांश पाश्चात्य विद्वान् इसका पद 'तुच्छ, बेचारा दरिद्र' करते हैं (दे० पी०, हिम्स फ्रॉम दि ऋग्वेद, पृ० १२१)। इस अर्थ का उनका प्रमुख आधार यह है कि जहाँ भी ऋ० में यह शब्द आया है, इसके साथ इसकी तुलना में 'होतृमत्, रातहव्य' जैसे शब्द आये हैं जिनका आशय 'समृद्ध व्यक्ति' से है। परन्तु वे यह भूल जाते हैं कि ये शब्द कीरि के प्रति स्पर्धी न होकर पूरक हैं। कीरि का सम्बन्ध 'स्तुति गान' से है और 'रातहव्य' जैसे शब्दों का सम्बन्ध आहुतिप्रदान से—ये दोनों ही कर्म यज्ञ के प्रमुख अंग हैं। शब्द के आधारभूत धातु की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

सुजनिमा—वें० शोभनजन्मा, सा० शोभनानि जनिमानि कीर्तनस्मरणादिनि सुखहेतुभूतानि यस्य तादृशो विष्णुः—उत्तम जन्म लेने वाला। यहाँ गेल्डन प्रभृति विद्वानों का 'शुभ जन्म देने वाला' (देअर गूर्ते गेबुर्त गीब्त) अर्थ अधिक

असंगत प्रतीत होता है क्योंकि देवता तो जन्म देने वाला है, उसके अपने अच्छे जन्म की चर्चा अनावश्यक प्रतीत होती है। यहाँ 'सोर्मनसो अलोमोषसी' (पा० ६।२।११८) सूत्र से बहुव्रीहि समास में सु के पश्चात् आने वाला मन्नन्त जनिमन् शब्द आद्युदात्त है। यह शब्द √जन् से इमन् प्रत्यय लग कर बना है (वे० वै० व्या० भाग २, पृ० ८०३)।

प्र तत्ते अद्य शिपिविष्ट नामार्यः शंसामि वयुनानि विद्वान्।
तं त्वा गृणामि तवसमतव्यान्क्षयन्तमस्य रजसः पराके ॥५॥

प्र। तत्। ते। अद्य। शिपिऽविष्ट। नाम। अर्यः। शंसामि। वयुनानि। विद्वान्। तम्। त्वा। गृणामि। तवसम्। अतव्यान्। क्षयन्तम्। अस्य। रजसः। पराके॥

अब से वह तुम्हारा आज है रश्मिवेष्टित, नाम
स्वामी कीर्तित करता, सकल पथों के ज्ञानी (तुम हो)।
उस तेरी स्तुति करता महान् को मैं अमहान् (अकिंचन)
रहने वाले की इस लोक से अतिदूर (निकट भी)॥

मनुष्य अपना स्वामी स्वयं है, वह अपने कर्मों से अपना भाग्य बनाता है। जो मनुष्य अपने आप को परिस्थितियों का दास समझता है, वह न तो पुरुषार्थ कर पाता है और न ही उन्नति। परन्तु कर्मों का फल देने वाला न्यायाधीश तो ईश्वर है, वह रश्मिवेष्टित अर्थात् परम-तेजस्वी है। वही सब मार्गों का ज्ञाता है और हमें उचित मार्ग पर ले जाता है। इसलिये अपने आपको स्वामी मानते हुए भी ईश्वर के आगे स्वयं को अमहान् या तुच्छ बताया गया है। ईश्वर इतना महान् है कि वह इस लोक से अतिदूर रहता है। इस कथन का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि वह इस लोक में व्याप्त होने के साथ साथ इससे बहुत दूर भी विद्यमान है। सूर्य रूप में विष्णु अपनी किरणों से वेष्टित है, वह सब मार्गों को जानता है क्योंकि उसी से सब मार्ग प्रकाशित होते हैं। वह इस लोक अर्थात् पृथ्वी से अत्यधिक दूर है।

शिपिविष्ट—या० (नि० ५।८) ने इस शब्द के दो प्रकार के अर्थ बताये हैं। एक में अश्लीलता है—शेप इव निर्वेष्टित, अप्रतिपन्नरश्मि। दूसरे अर्थ के अनुसार यह सूर्य का अश्लीलतारहित प्रशंसायुक्त नाम ही है—अपि वा प्रशंसानामैवाभिप्रेत स्यात्। शिपिविष्टोऽस्मीति, प्रतिपन्नरश्मि, शिपयोऽत्र रश्मय उच्यन्ते, तैराविष्टो भवति। इससे पूर्व (नि० ५।७ में) यास्क ने औपमन्यव का मत भी उद्धृत किया है जिसके अनुसार शिपिविष्ट का केवल अश्लील अर्थ ही है (त्वचारहित पुरुष जननेन्द्रिय के समान)—शिपिविष्टो विष्णुरिति

विष्णोर्द्वे नामनी भवतः। कुत्सितार्थीयं भवतीत्यौपमन्यवः। वेङ्कट के अनुसार शिपिविष्ट और यज्ञ—ये दोनों यज्ञ के दो नाम हैं (शिपिविष्टः यज्ञः इति द्वे यज्ञनामनी इत्युक्तम्)। सा०-हे तेजस्वी विष्णो। पाश्चात्य विद्वानों और वेलं० कर ने अपने अनुवाद में शिपिविष्ट शब्द को ज्यों का त्यों रख कर टिप्पणी में इस नाम का भाव दुर्बलता या मन्दत्व बताया है। उन्होंने इस नाम का सम्बन्ध उस पौराणिक गाथा से होने की कल्पना की है जो आगे चलकर विष्णु के वामनावतार की कथा के रूप में विकसित हुई। तदनुसार विष्णु साधारण सा भद्दा रूप धारण करके राक्षसों के सामने पहुँचे, किन्तु वास्तविक युद्ध के समय उन्होंने उग्र रूप धारण कर लिया और इस प्रकार शत्रु को भूर रखा।[1] शिपि शब्द का निर्वचन दो धातुओं √शि निशाने और √पि गतौ से सम्भव है—जो किरणें पैनी और गतिशील होती हैं—शिता पिपन्ति इति।

वयुनानि[2] विद्वान्—या० (नि० ८।२०)—प्रज्ञानानि प्रजानन्, वें०—महेश्वरः त्वम् असीति वा, प्रज्ञानानि जानन्। इसके अनुसार 'विद्वान्' का सम्बन्ध सम्भवतया 'अहम्' से न होकर 'त्वम्' से है। शेष सभी विद्वान् इसका सम्बन्ध 'अहम्' से मानते हैं। किन्तु उपासक का विनम्र भाव देखते हुए इसका अन्वय 'त्वम्' या विष्णु से करना ही अधिक सङ्गत प्रतीत होता है। वयुन शब्द का निर्वचन यास्क (नि० ५।१४)ने √वी से किया है और उसका अर्थ कान्ति, शोभा या प्रज्ञा, बुद्धि दिया है (वयुन वेतेः कान्तिर्वा प्रज्ञा वा)। √वी के गति आदि अर्थों में से धातुपाठ में एक अर्थ 'कान्ति' भी मिलता है। किन्तु उणादि (३।६०) सूत्र 'अजियमिशीङ्भ्यश्च' के अनुसार √अज् (गतौ) से उनन् प्रत्यय लगकर यह शब्द निष्पन्न हुआ है। और उस प्रक्रिया में 'अजेर्व्यघञपोः' (पा० २।४।५६) सूत्र से √अज् को वी आदेश हो जाता है। इस निर्वचन के अनुसार इस शब्द का अर्थ गति, मार्ग या गतियुक्त कर्म होना चाहिये। सामान्यतया गति और कर्म पर्यायवत् भी हैं क्योंकि गति के बिना कर्म नहीं हो सकता। सम्भवतया प्रज्ञा के मूल में भी यही गति है। गेल्ड० ने इसका अर्थ 'ज्ञातव्य' (वॅशाइद) दिया है। ग्रास के अनुसार इसका अर्थ 'कर्म' है। ग्रास० ने इसका निर्वचन √वि(बुनना) से करके इसके 'तन्तु, कलात्मक कार्य, यज्ञकर्म, प्रकाश, प्रकाशतन्तु, नियम' अर्थ दिये हैं। किन्तु धातुपाठ में बुनना अर्थ में √वे पठित है। √वि से तदर्थक सभी रूपों की सिद्धि असम्भव है। मॅ० ने इस अर्थ में √वा (दिवादि०) दी है। मक्स०, पिशल प्रभृति विद्वानों के

---

१ दे. वेल०, ऋग्वेद मण्डल VII, पृ. २१८।

२. इस शब्द पर विस्तृत लेख, दे० कंट्रिब्यूशन्स टू द इंटरप्रिटेशन ऑफ़ द ऋग्वेद, (वॅंस्टसुब्रैमा), पृ. १६२-२२३।

अनुसार 'वयुन' का अर्थ 'मार्ग' है। ग्रो० ब० ने इसका अर्थ 'सुनिश्चित नियम या क्रम' दिया है।[1] मै० (वै० री० ऋ० ४।५१।१) ने 'स्पष्टतापूर्वक-मार्ग विशद करते हुए' अर्थ देकर यह टिप्पणी की है कि 'वयुन' का प्रयोग बहुल होने पर भी इसका अर्थ कुछ अस्पष्ट है।

तुवसंम्—या०, वें०—महान्तम्, सा०-प्रवृद्धम्, पाश्चात्य विद्वान्—बलिष्ठ —√तु (बलवान् होना) से असु प्रत्यय। दे० नि० ३।९—तवस इति महतो नामधेयम् उदितो (ऊर्ध्वं गतो विवृद्धो भवति), √तु (बढ़ना) से।

अतव्यान्—सा०-अतवीयान् अवृद्धतरोऽहम् (तु० मन्त्र ३ में तवीयान्)—क्षुद्र, तुच्छ दुर्बल।

क्षयन्तम्—या०, वें०, सा०-निवसन्तम्, ग्रास०, गेल्ड०, वेल०-सिंहासनासीन, शासन करने वाला (ग्रोल्ग, रूलिंग)। मै० ने √ क्षि को निवासार्थक ही माना है।

पुराके—दूर, दूरदेश में, पराच् शब्द से निष्पन्न।

छन्द की दृष्टि से द्वितीय पाद में एक अक्षर की कमी पूरी करने के लिये प्रथम पाद के अन्तिम और द्वितीय पाद के आद्य 'नामार्य' शब्दों का उच्चारण सन्धि-विच्छेद करके 'नाम अर्य' करना चाहिये। अन्यथा इसका छन्द निचृद् त्रिष्टुप् कहा जायेगा। प्रथम पाद में 'प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे' (पा० ६।१।११५) के अनुसार 'ते अद्य' में पूर्वरूप न होकर प्रकृतिभाव रहा है।

किमित्ते विष्णो परिचक्ष्यं भूत्प्र यद्ववक्षे शिपिविष्टो अस्मि।
मा वर्पो अस्मदप गूह एतद्यदन्यरूपः समिथे बभूथ ॥६॥

किम्। इत्। ते। विष्णो इति। परिऽचक्ष्यम्। भूत्। प्र। यत्। ववक्षे। शिपिऽविष्टः। अस्मि। मा। वर्पः। अस्मत्। अप। गूह। एतत्। यत्। अन्यऽरूपः। सम्ऽइथे। बभूथ॥

क्या यह तुम्हारा है विष्णु (नाम) बखान के योग्य है?
    प्रकर्ष से जिसे बखानते शिपिविष्ट हूँ मैं (देखो)।
मही रूप हमसे दूर छिपाओ यह (अन्तर्यामी)
    जो अन्यरूप (भयानक) संघर्ष में हो जाते तुम॥

ईश्वर निर्गुण होता हुआ भी स्वयं प्रकाशित है। जिस तत्त्व को सूर्यरूप में प्रदर्शित करके मानो ईश्वर 'रश्मिवेष्टित' नाम का व्याख्यान करना चाहता है, वस्तुत: उसके व्याख्यान की आवश्यकता नहीं है क्योंकि वह पूर्णतया प्रकट है

1 से बु ई. खं ४६, पृ ४६८—एक स्थल पर 'मार्ग' या 'उपाय' अर्थ है और एक अन्य स्थल पर 'पदार्थ'।

और सभी जन उसके द्वारा ईश्वर के वैभव को जान लेते हैं। किन्तु ईश्वर का एक भयानक रूप है जिसे वह संघर्षों में ही प्रकट करता है और जिससे शरीर से दुर्बल दिखने वाला व्यक्ति भी कठिनाइयों पर विजय प्राप्त कर लेता है। वह रूप प्रायः मनुष्य देख नहीं पाता क्योंकि वह अपने हृदय में छिपा होता है और अदम्य विश्वास से ही प्रकट होता है। यहाँ प्रार्थना की गई है कि ईश्वर मनुष्य को ऐसी सद्बुद्धि और अभय प्रदान करे जिससे वह निरन्तर उसके संघर्ष में परिवर्तित भयानक रूप का अनुभव कर सके केवल उसीसे भयभीत हो और किसी सांसारिक प्राणी से भयभीत न हो। सूर्यपक्ष में भी सूर्य का प्रकट सर्वजीव-पोषक सुखद रूप भी है और संघर्षों अर्थात् दुष्ट रोगोत्पादक जीवों के विनाशादि कर्मों में भयानक रूप भी। पूर्ण वैज्ञानिक दृष्टि सूर्य के दोनों रूपों का अध्ययन करके उससे मानवमात्र का कल्याण करती है।

ऊपर पाँचवें मन्त्र के अन्तर्गत शिपिविष्ट शब्द की विस्तृत व्याख्या दी गई है। वहाँ यास्क द्वारा उद्धृत औपमन्यव के अश्लील अर्थ का उल्लेख भी हुआ है। उस अर्थ की व्याख्या करते हुए वेंकट ने कहा है कि प्रच्छन्नरूप विष्णु ने युद्ध में वसिष्ठ की सहायता की। उस प्रच्छन्नरूप विष्णु को वसिष्ठ कहते हैं कि यद्यपि आपने अपने गोपन के लिये ही किरणों को छोड़ा है तथापि आप जैसे महान् व्यक्ति को उस रूप में लज्जा होती है। ऐसी स्थिति में इस युद्ध में आप अपने रूप का गोपन न कीजिये। प्रशंसापक्ष में युद्ध में आकर अपना रूप छिपाने के लिये अपने तेज को छिपाने की इच्छा वाले विष्णु के प्रति प्रश्न है कि आप यह क्यों कर रहे हैं अर्थात् आपको ऐसा नहीं करना चाहिये। (प्रच्छन्नरूपः सन् युद्धे वसिष्ठस्य विष्णुः साहाय्यमकरोत्। तं वसिष्ठः प्रच्छन्नरूपमाह—किमित्ते इति। यद्यपि त्वं परित्यक्तरश्मिः प्रच्छादनार्थमिह वर्तमानः तत्तव व्रीडामावहति महतः। तथा सति मा वर्पो अस्मदपगूहनाय तद्यस्त्वमिदमस्मिन् सङ्ग्रामेऽन्यरूपो भवसि इति। प्रशंसानामपक्षे तु—मानुषे युद्धे समागतस्य स्वरूपप्रच्छादनायात्मीयं तेजोऽपगूहितुमिच्छतो विष्णोरनुशासनं किमित्ते इति॥

परिचक्ष्यम्—इसका उच्चारण 'परिचक्षियम्' करके प्रथम पाद में एक अक्षर की कमी पूरी की जा सकती है। यास्क ने सम्भवतया इसके आदि में अकार मानकर और उसकी 'विष्णो' के ओकार से अभिनिहित सन्धि मानकर इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—अप्रख्यातमेतद् भवति। अप्रख्यापनीयम्। दूसरी व्याख्या अकाररहित है—प्रख्यातमेतद्भवति प्रख्यापनीयम्। सायण ने किम् को निन्दावाचक मानकर अर्थ किया है, "क्या यह नाम कहने योग्य है? अर्थात् कहने योग्य नहीं है।" किं परिचक्ष्यं प्रख्यापनीयं भूत् भवति। किंशब्दः क्षेपे। अप्रख्यापनीयमेव तद्भवति। प्रशंसापक्ष में भी इसी प्रकार साधारण प्रश्न

माना है—किं परिचक्ष्य भूत् नि प्रख्यापनीय भवति। न प्रख्यापनीयम्। ग्रास०-उपेक्षणीय (यूबरजेहन), गेल्ड०-ग्रीप में ऐसा क्या निन्दनीय था? (वास वार् ग्रान् दीयर् त्सु तादेल्न), सात०-क्या यह तुम्हारा नाम त्यागने योग्य हुआ है? इसी से प्रभावित वेल०-फिर क्या? क्या तुम्हारा नाम (शिपिविष्ट) त्याज्य हो गया है? (व्हॉट देन ? हेज़ योर नेम शिपिविष्ट बिकम फ़िट टु बी डिनाउन्स्ड ?)। अन्यत्र (ऋ० ६।५२।१४ में) स्क० ने परिचक्ष्याणि का अर्थ 'परिवर्जनीयानि' और वें० ने 'गर्ह्याणि' किया है। सि० कौ० में √चक्ष् का अर्थ 'बोलना' और 'देखना' दिया है (चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि। अयं दर्शनेऽपि)।

भूत्—हुआ, था, है, हो गया है,√भू लुङ् प्र० पु० एक० 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' (पा० ६।४।७५) के अनुसार अट्-लोप।

प्र ववृक्षे—प्रवृद्ध, कहते हो, घोषणा करते हो। √वच् लिट् म०पु० एक० (आत्मने०)। यहाँ लिट् लकार वर्तमान के अर्थ में है— छन्दसि लुङ्लङ्लिटः। यद्यपि इस प्रसङ्ग में सभी व्याख्याकारों ने इस क्रियापद का उपरिलिखित अर्थ ही दिया है, किन्तु ऋ० १।६१।९ में इसीका अर्थ वें० ने 'गच्छति', सा० ने 'प्रावहति', स्वा० द० ने 'रोषं सघातं करोति' किया है। इस अर्थ का आधार स्पष्ट ही √वक्ष् (रोषे, संघाते) है। सघात का भाव 'अभिवृद्धि' भी है। इसी के अनुकूल इस प्रसंग में गेल्ड० ने अनुवाद किया है—"प्रवृद्ध हुआ है" (इस्त हेराऊगेवाक्सन)। किन्तु प्रस्तुत प्रसङ्ग में कहना, घोषणा करना अर्थ ही सङ्गत प्रतीत होता है। इस पद की तुलना ऋ० १।८१।५ के 'ववक्षिथ' से की जा सकती है। (दे० पृ० ४६)। इस पाद में 'यत्' होने के कारण 'यद्वृत्तान्नित्यम्' (पा० ८।१।६६) से यह तिङन्त पद भी सोदात्त है।

वर्पः—रूप, दे०नि० ५।८—वर्पं इति रूपनाम वृणोतीति सत.। √वृञ् (वरणे, स्वादि०) से 'वृञ्शीङ्भ्यां रूपस्वाङ्गयो. पुट् च' (उणादि० ४।१९९) से असुन् प्रत्यय और पुडागम। भाव सम्भवतया यह है—'जिसके द्वारा व्यक्ति का वरण किया जाता है अर्थात् उसे पहचाना जाता है'।

अप गूह—(मत) छिपाओ, √गुह् लुङ् म० पु० एक०-मा के योग मे अट् का-लोप (न माङ्योगे)। पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार यह विधिमूलक (इजक्टिव) का रूप है। सायण ने अपगूहन का भाव इस प्रकार स्पष्ट किया है—वैष्णवस्य रूपस्य गूहने का प्रसक्तिरिति चेत्। यद् यस्मादन्यरूप' रूपान्तरमेव धारयन् समिथे सङ्ग्रामे बभूथ अस्माकं सहायो भवसि तस्मादिदं गूहनं न कार्यमिति। प्रश्नप्रसङ्गे—इदानीं गूढरूपोऽपि यद्यस्मात्त्वं समिथे सङ्ग्रामे ऽन्यरूप कृत्रिमरूपं यदन्यद्वैष्णवं रूपं शौर्यादिलक्षणं तादृग्रूप एव भवसि तस्मात्त्वं गूढोऽपि ज्ञायस एवेति स्वयमेव तस्य रूपस्य गूहनम्। अतो बहुतेजस्कं यद्वैष्णवं रूपं

तदस्माकं प्रदर्शयेति तात्पर्यार्थं ।

अभूर्थ—तुम हो जाते हो, तुम हुए हो । √भू लिट् म० पु० एक० 'बभूथाततन्थजगृभ्मववर्थेति निगमे' (पा ७।२।६४) के अनुसार यहाँ थल् प्रत्यय से पूर्व इडागम न होकर यह अपवादात्मक रूप बना है । यहाँ भी पाद में 'यत्' आने के कारण यह निघन्त पद मोदात्त है ।

टि०—'शिपिविष्टो अस्मि' और 'वर्पो अस्मत्' में पूर्वरूप एकादेश न होकर 'प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे' (पा० ६।१।११५) से प्रकृतिभाव रहा है ।

वषट् ते विष्णवास आ कृणोमि तन्मे जुषस्व शिपिविष्ट हव्यम् ।
वर्धन्तु त्वा सुष्टुतयो गिरो मे यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥७॥

वषट् । ते । विष्णो इति । आसा । आ । कृणोमि । तत् । मे । जुषस्व । शिपिऽविष्ट । हव्यम् । वर्धन्तु । त्वा । सुऽस्तुतयः । गिरः । मे । यूयम् । पात । स्वस्तिऽभिः । सदा । नः ॥

वषट् तुम्हें हे विष्णु मुख से समन्ततः करता हूँ,
यह मेरी सेवन करो रश्मि से वेष्टित हे आहुति ।
अभिवृद्ध करें तुमको शुभ स्तुतियुक्त गिरायें मेरी,
तुम सब रक्षा करो कल्याण से सदा हमारी (देवो) ॥

उस सर्वव्यापक परमेश्वर के प्रति सबसे बड़ी मधुर आहुति अपने मुख से उच्चारित 'वषट्' अर्थात् समर्पण के शब्द हैं । अनन्यचेता होकर मन में निरन्तर ईश्वर का ध्यान करते हुए जो समर्पण की भावना व्यक्त की जाये, वह सबसे बड़ा हवन है । फिर आहुति के लिये भौतिक द्रव्यों की आवश्यकता नहीं । साधक प्रार्थना करता है कि मेरे स्तुतिपूर्ण वचन ईश्वर को अभिवृद्ध करें अर्थात् उसका वैभव-गान गायें—जिससे प्रतिक्षण मन में उसकी अलौकिक शक्ति का ध्यान रहे । अन्तिम पाद में बहुवचन का प्रयोग करके ऋषि ने यह बात स्पष्ट कर दी है कि चाहे ईश्वर के लिये किसी नाम का प्रयोग किया जाये, आशय एक ही है । इसीलिये सप्तम मण्डल में प्रत्येक देवता के अन्त में सामूहिक रूप से सब देवताओं अर्थात् ईश्वर के सब नामों से कल्याण की प्रार्थना की गई है—दूसरे शब्दों में एक देवता के सूक्त में ही मानो अन्य सब देवता समाहित हो गये हों ।

आसा—मुख में से, आस शब्द से पञ्चमी एक० । स्वा० द० ने ऋ० १।७६।४ में इस शब्द का यह निर्वचन दिया है —अस्यन्ते वर्णा येन तस्मात् (मुख—जिससे वर्ण फेंके जाते हैं अर्थात् जिससे वर्णों का उच्चारण किया जाता है) ।

वर्धन्तु—वाक्य के आदि में होने के कारण यह तिङन्त पद सोदात्त है। √वृध् लोट प्र० पु० बहु० आत्मनेपद के स्थान पर परस्मैपद के व्यत्यय के साथ साथ प्रेरणार्थक रूप के स्थान पर साधारण रूप का भी व्यत्यय है। यदि व्यत्यय न मानें तो भी यह अर्थ सगत ही है—"मेरी शोभन स्तुतियों वाली वाणियाँ तुम्हारे प्रति (त्वा) वृद्धि को प्राप्त हों।"

सुष्टुतयः—शोभनाः स्तुतयः यासु ताः (गिरः)। 'नञ्सुभ्याम्' (पा० ६।२।१७२) के अनुसार सुष्टुति शब्द अन्तोदात्त है। यहाँ समास के उत्तरपद के आदि सकार का मूर्धन्य भाव ध्यान देने योग्य है। कतिपय समासों में यह परिवर्तन होता है। (दे० वै० व्या० भा० १, पृ० १३०)।

स्वस्तिभिः—इस पाद के छन्द में एक अक्षर की पूर्ति के लिये इसका उच्चारण 'सुअस्तिभिः' करना चाहिये। पदपाठ में 'भिः' से पूर्व ह्रस्व स्वर होने के कारण अवग्रह द्वारा उसे पृथक् किया गया है। (वा० प्रा० ५।१३——ह्रस्वव्यञ्जनाभ्यां भकारादौ विभक्तिप्रत्यये।)

सोमः

वेद के प्रमुख देवताओं मे सोम की गणना होती है। ऋग्वेद में इस देवता को १२० के लगभग सूक्त अर्पित हैं जिनमें से एक सम्पूर्ण मण्डल (नवम) में केवल सोम-सम्बन्धी सूक्त ही हैं। कर्मकाण्ड में तो सोम का और भी अधिक महत्त्व है। ब्राह्मणों मे अग्नि के साथ साथ सोम को जगत का प्रमुख अंग बताया गया है—अग्नीषोमात्मकं जगत्। जगत् के आधार के रूप मे विद्वान् सोम को अन्न (दे० ऋ० ७।६८।२—वाजमन्नम्) या उसका कारणभूत जल मानते हैं।[1] स्वयं ऋग्वेद मे सोम का जल से सम्बन्ध वर्णित है। वह जल का नायक है और वृष्टि पर शासन करता है। ईशे यो वृष्टेः .... अपां नेता (ऋ० ६।७४।३)। यह भी कहा गया है कि सोम जल को उत्पन्न करता है और आकाश तथा पृथ्वी से वर्षा करता है—कृणवन्नपो वर्षयन् द्यामुतेताम् (ऋ० ६।६६।३)। सम्भवतया पात्र मे गिरते हुए सोम की गर्जना से भी वृष्टि-जल से युक्त मेघ की गर्जना अभिप्रेत है—दिवो न सानु स्तनयन्नचिक्रदत्...सोमः पुनानः कलशेषु सीदति (ऋ० ६।८६।६)। इसी प्रकार इसे वन में गर्जने वाला वृषभ बताया गया है—वृषाव चक्रदद्वने (ऋ० ६।७।३)। ऋ० ४।२७ की व्याख्या करते हुए ब्लूमफील्ड ने भी इसे मेघ से जल की वर्षा का ही रूपक माना है।[2]

क्षिप्रता और प्रकाश का गुण अन्य देवों के साथ साथ सोम मे भी है जिससे इसमें भी वही उदासता आ गई है। वस्तुतः इसी कारण वैदिक देवताओं की सर्वोच्च विशेषताओं मे स्पष्ट भेद करना असम्भव हो जाता है। क्षिप्रता के आधार पर सोम को अश्व कहा गया है—हरिं नदीषु वाजिनम् (ऋ० ६।६३।१७)। यहाँ स्पष्ट ही सोम नदियों मे बहने वाला अश्व है जिससे केवल जल अभिप्रेत हो सकता है। इसे घोर अन्धकार का नाश करने वाली एक महान् उज्ज्वल ज्योति बताया गया है—बृहच्छुक्र ज्योतिरजीजनत्। कृष्णा तमांसि जङ्घनत् (ऋ० ६।६६।२४)॥ अनेक स्थलों पर इसको विश्वस्य राजा

१ वासुदेवशरण अग्रवाल, वेदविद्या, पृ २८६-६।

२ जर्नल अमेरिकन ओरिएण्टल सोसाइटी, १६, १—२४।

(ऋ ९।७६।४ इत्यादि) **विश्वजित्** (ऋ ८।७९।१) **धर्ता दिव** (ऋ ९।७६।१ इत्यादि), **बिभर्ति भुवनानि** (ऋ. ९।८३।३ इत्यादि) जैसी उपाधियाँ दी गई हैं जिससे इसका अत्युत्कृष्ट रूप सम्मुख आता है। इसी प्रकार इसे अमर उद्दीपक—**ज्येष्ठममर्त्यं मदम्** (ऋ १।८४।४) कहा गया है। यह स्वय अमर है इसीलिए अमरत्व प्रदान करने वाला है क्योंकि देवताओ ने भी अमरत्व के लिये इसका पान किया था—**त्वां देवासो अमृताय कं पपु** (ऋ ९।१०६।८)। ऋ स १९।७२ म उल्लेख है कि राजा सोम को जब दबाया जाता है तो वह अमृत हो जाता है—**सोमो राजामृत सुत ऋजीषेणाजहान्मृत्युम्** । यह मानो मनुष्य की प्राणशक्ति है। मनुष्य के प्रत्येक अंग में इसका वास है—**गात्रे गात्रे निषसत्था नृचक्षा** (८।४८।९)। इसकी भैषज्यमयी सञ्जीवनी शक्ति का बहुधा वर्णन हुआ है। यह अन्धों को दृष्टि और लगडो को चलने की शक्ति प्रदान करता है—**भिषक्ति विश्व यत्तुरम्। प्रेमन्ध ख्यत् नि श्रोणो भूत्** (ऋ ८।७९।२)। यह वाक्शक्ति को स्फूर्तिमय बनाता है—**अय मे पीत उदियर्ति वाचम्** (ऋ ६।४७।३)। इसी कारण इसे 'पति वाच' (ऋ ९।२६।४) कहा गया है। इसकी शक्ति अतुलित है। यह सूर्य स भी बडा है क्योंकि यह उस प्रकाशित करता है—**एष सूर्यमरोचयत्** (ऋ ९।२८।५)। यह दोनो लोको को उत्पन्न करता है **जनिता रोदस्यो** (ऋ ९।९०।१)। यह दुष्टो का वध करने वाला (अघशंसहा—ऋ ९।२८।६) और महान् अजेय योद्धा है—**अषाळ्ह युत्सु पृतनासु पप्रिम्** (ऋ १।९१।१२)। इन्द्र जैसे प्रमुख शक्तिशाली देवता को भी इसकी सहायता की अपेक्षा होती है। यही वृत्र के साथ युद्ध के समय इन्द्र को शक्तिशाली बनाता है—**य इन्द्र वृत्रहन्तम । य ओजोदातमो मद** (ऋ ८।९२।१७)। यहाँ तक कि सोम को इन्द्र की आत्मा कहा गया है—**आत्मेन्द्रस्य भवसि** (ऋ ९।८५।३)। सोम और इन्द्र का रथ एक ही है—**इन्द्रेण सोम सरथ पुनान** (ऋ ९।८७।९)। सोम के इस उत्कृष्ट स्थान के कारण ही सम्भवतया श्री अरविन्द इसे अमरत्व की परमानन्द-रूपी मदिरा का स्वामी मानते हैं। यह दिव्य आनन्द उनके मतानुसार मानसातीत चैतन्य से मन मे ऋत के माध्यम से प्रवाहित होता है। मनुष्य का भौतिक शरीर सोम-मदिरा का कलश है और जिन पवित्रो से इसे सशोधित किया जाता है, वे स्वर्ग स्थान में वितत हैं। यह √सु (उत्पन्न करना, दबा कर निकालना पवित्र करना) से व्युत्पन्न है।[1] इसी व्युत्पत्ति के आधार पर स्वामी दयानन्द एकवचन में इसका अर्थ 'उत्पन्न जगत्' और बहुवचन मे 'उत्पन्ना सर्वे पदार्था, व्यवहारा वा' करते हैं। एक स्थान पर(ऋ १।२२।१

[1] श्री अरविन्द ऑन दि वेद (?), पृ० ४०० १।

में) सोमस्य की व्याख्या 'स्तोतव्यस्य मुखस्य' की है। ऋ. १।३२।३ में सोमम् 'सूयते उत्पद्यते यस्य रसम्' रूप में व्याख्यात है। अनेक स्थलों पर इन्होंने सोम का अर्थ 'ओषधिरस' या 'महौषधिरस' किया है। इनकी व्याख्या के अनुसार 'सोमपा' का अर्थ 'य' सोमान् पदार्थान् किरणैः पाति (ऋ. १।८।७) है।

सोम की उपर्युक्त सब विशेषतायें होते हुए भी अनेक मन्त्रों में पौधे अथवा तज्जन्य पेय के रूप में इसकी प्रतीति से इन्कार नहीं किया जा सकता। इसके लिए बहुत बार 'इन्दु' नाम लाक्षणिक रूप में प्रयुक्त हुआ है। इन्दु का अर्थ 'बिन्दु' प्रतीत होता है क्योंकि इसका निर्वचन √उन्द् (क्लेदने) से किया गया है।[1] इसी अर्थ में सोम के लिए अपेक्षाकृत कम बार द्रप्स शब्द प्रयुक्त हुआ है। बहुधा इसका रस निकालने का उल्लेख √सु (दबाना—ऋ. ९।६२।४—असाव्यशुर्मदाय) से और कभी कभी √दुह् (दोहना—ऋ. ३।३६।३—यहाँ सोम पूर्ति दुग्धो अंशु) से हुआ है। पात्र में एकत्र सोम-रस को सागर बताया गया है—इन्दु श्रोमन्त अर्णवन्तमर्णवम् (ऋ. १०।११५।३)। पौधे का, और तदनुसार देवसोम का भी वर्ण भूरा (बभ्रु), लाल (अरुण) और सबसे अधिक बार हरा (हरि) बताया गया है। किन्तु भारतीय भाष्यकारों द्वारा इनकी व्याख्या क्रमशः 'भरण-पोषण करने वाला', 'दीप्तिमान्' और '(सुख का, रसों का) आहरण करने वाला' की गई है। इसके अतिरिक्त हाथों की दस अंगुलियों द्वारा सोम के परिष्कृत होने का वर्णन है—मृजन्ति त्वा दश क्षिपः (ऋ. ९।८।४)।

सोम का रस निकालने की विधि के संकेत भी ऋग्वेद में प्राप्त होते हैं। सोम के प्राय अंशु (तने) को सामान्यतया पत्थरों से दबाये जाने का वर्णन है—आ सोम सुवानो अद्रिभि (ऋ. ९।१०७।१०)। यह ध्यान देने की बात है कि सवन के लिए सामान्यतया प्रयुक्त अद्रि और ग्रावन् शब्दों का लाक्षणिक अर्थ वेद में 'मेघ' भी है। इस प्रकार पत्थरों को दबाकर निकाले गये सोम बिन्दुओं को किसी पात्र में गिराया जाता था—परीतो वायवे सुतम्. अभ्यो वारेषु सिञ्चत (ऋ. ९।६३।१०)। उस समय इसे भेड़ की ऊन के बने छनने में से निकाला जाता था—सुता पवित्रमति यन्त्यव्यम् (ऋ. ९।६९।९)। इस छनने के लिये प्राय 'पवित्र, त्वक्, वार' आदि नामों का प्रयोग हुआ है। छनने से होकर निकलते हुए सोम को पवमान (स्वच्छ होकर बहने वाला) कहा गया है, सोम को द्रोण-नामक पात्रों में एकत्र किया जाता था। इसी-लिए वर्णन है कि द्रोणों में बैठने के लिए यह देव एक पक्षी की भांति उड़ता है—एष देवो अमर्त्यः पर्णवीरिव दीयति। अभि द्रोणान्यासदम् (ऋ. ९।३।१)

सोम का पान अन्य पदार्थों से मिलाकर भी किया जाता था। इसीलिये सोम को त्र्याशिर् (ऋ. ५।२७।५) कहा गया है, जिसका अर्थ है 'तीन प्रकार के मिश्रण वाला'—(१) दुग्ध-मिश्रित (गवाशिर्), (२) दधिमिश्रित (दध्याशिर्) (३) यवमिश्रित (यवाशिर्)। सम्पूर्ण ऋग्वेद में केवल एक स्थल (१०।३४।१) पर सोम को मौजवत अर्थात् 'मूजवत पर्वत पर उत्पन्न' कहा गया है। मूजवत् पर्वत का उल्लेख वाजसनेयि संहिता (३।६१) मे भी हुआ है जहाँ रुद्र को उससे परे जाने को कहा गया है—परो मूजवतोऽतीहि। सामान्यतया सोम को पर्वतों पर उगने वाला (पर्वतावृध्—ऋ. ६।४६।१) बताया गया है। अथर्व. ३।२१।१० मे पर्वतों को सोमपृष्ठ कहा गया है। इस वर्णन की तुलना अवेस्ता (यस्न १९) से की जा सकती है। क्योंकि वहाँ भी 'हओम' को पर्वतों पर उगने वाला बताया गया है। किन्तु यहाँ फिर अवधेय है कि पर्वत का अर्थ वेद में 'मेघ' है। यह भी उल्लेख है कि सोम स्वर्ग मे परिष्कृत हुआ—दिवि तत दिवस्पदे (ऋ. ९।८३।२)। इसे उत्क्रोश पक्षी स्वर्ग से लाया—श्येनो यदन्धो अभरत् परावतः (ऋ. ९।६८।६)। इसे पौधों का अधिपति (ऋ ९।११४।२) और इसीलिये वनस्पति (ऋ.१।९१।६) भी कहा गया है।

सम्भवतया सोम के चन्द्रमा के साथ साथ घटने बढने के कारण[1] परवर्ती साहित्य मे सोम चन्द्रमा का ही पर्याय हो गया। उदाहरणार्थ छान्दोग्योपनिषद् (५।१०।४) में स्पष्ट ही चन्द्रमा को सोम बताया गया है और उसे देवताओं का अन्न कहा गया है। स्वय संहिताओं मे सोम और चन्द्रमा के एक होने का संकेत है।[2] हिलेब्रांट महोदय के मतानुसार तो वैदिक सोम केवल चन्द्रमा है।[3] इस विषय मे ऋग्वेद (१०।८५।३) की स्पष्टोक्ति ध्यान देने योग्य है जिस के अनुसार लोग सोम को अनुचित ढग से पीने वाली औषधि मानते हैं; जिस सोम को विद्वान जानते हैं, उसे तो कोई नही खाता—

सोमं मन्यते पपिवान् यत् संपिषन्त्योषधिम्।
सोमं य ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन॥

यास्क (नि. ११।२-६) ने भी अभिषवणार्थ √सु से निष्पन्न मानते हुए भी सोम का एक अर्थ चन्द्रमा भी दिया है और उसके समर्थन में उपर्युक्त मन्त्र उद्धृत किया है। इसी प्रसग मे एक अन्य मन्त्र (ऋ. १०।८५।५) भी उद्धृत किया गया है—

---

1. द्र. चरकसंहिता-सोमो नामौषधिराजः पञ्चदशपर्वा, स सोम इव हीयते वर्धते च। चिकित्सास्थान—१।४।६।
2. द्र ऋ. ६।४४।२१; अथर्व॰—७।८१।२-४।
3. वैदिशे माइथोलोजी, पृ॰ ३०६।

यत्त्वा देव प्रपिबन्ति तत आप्यायसे पुनः ।
वायुः सोमस्य रक्षिता समानां मास आकृतिः ॥

यास्क ने इसकी व्याख्या में निम्नलिखित स्पष्टीकरण दिया है—वायुरस्य रक्षितारमाह साहचर्याद्रसहरणाद्वा । समानां संवत्सराणां मास आकृतिः सोमो रूपविशेषैरोषधिश्चन्द्रमा वा ॥

ऋ० ९।८३

ऋषि—पवित्र आङ्गिरस, देवता-पवमान सोम, छन्द—जगती ।

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः ।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत् समाशत ॥१॥

पवित्रम् । ते । विऽततम् । ब्रह्मणः । पते । प्रऽभुः । गात्राणि । परि । एषि । विश्वतः । अतप्तऽतनूः । न । तत् । आमः । अश्नुते । शृतासः । इत् । वहन्तः । तत् । सम् । आशत ॥

शोधक (तत्त्व) तुम्हारा फैला है हे बड़े (ब्रह्म) के स्वामी !
प्रभु (तुम) गात्रों को परिव्याप्त करते हो सभी ओर से (सब के)।
अनतपा शरीर नहीं उस (तत्त्व) को अपक्व प्राप्त करता है,
पके हुए ही वहन कर रहे उसे पा जाते (निज बल से) ॥

यह समस्त सूक्त सोम को सम्बोधित होने पर भी इसके किसी भी मन्त्र में सोम शब्द नहीं आया है। जिस प्रकार अग्नि को पावक (शोधक) कहा जाता है, उसी प्रकार यहाँ सोम में पवित्र (शोधक) तत्त्व का उल्लेख हुआ है। शरीर के अन्दर जो जल है वही सोम है। या फिर जीवन के विविध संघर्षों के फलस्वरूप जो आनन्द की अनुभूति होती है, वही सोम है। प्रत्येक प्राणी के कण कण में ये दोनों तत्त्व परिव्याप्त हैं। किन्तु इनके पूर्ण लाभ के लिये —एक ओर जल को संतुलित रखने के लिये, और दूसरी ओर आनन्द के पूर्ण प्रकटीभाव के लिए शरीर में संघर्षजन्य अग्नि की अत्यन्त आवश्यकता है। दूसरे शब्दों में जब तक प्राणी संघर्ष और परिश्रम की ज्वाला में तप कर पक नहीं जाता तब तक वह अपने भीतर ही भीतर आनन्द की अनुभूति नहीं कर सकता। शरीर अनपका होने पर ही बाह्य आनन्द की अपेक्षा रहती है, किन्तु वह आनन्द क्षणिक होता है। जिन महापुरुषों और कर्मठ व्यक्तियों ने कर्म की अग्नि में अपना तन-मन तपाया है, वे स्वस्थ भी रहते हैं और आन्तरिक आनन्द भी अनुभव करते हैं। इस आनन्द के पश्चात् सभी बाह्य सुख निरर्थक हो जाते हैं।

पवित्रम्—या. (नि. ५।६) ने पवित्र की व्युत्पत्ति √पू (पवित्र करना) से मानकर उसके 'मन्त्र, किरणें, आप', अग्नि, वायु, सोम, सूर्य, इन्द्र' अर्थ दिये हैं। सा.-शोधकमङ्गम्, ग्रास., गेल्ड.—सोम छानने का साधन (छाइहें), मं. पवित्र करने का साधन (मीन्ज ग्राफ प्यूरिफिकेशन), अर.-पवित्र अथवा पवित्र करने का उपकरण ज्ञान के प्रकाश से उद्दीपित मन (चेत) प्रतीत होता है।

ते—सभी विद्वान इसे षष्ठी का रूप मानते हैं, किन्तु अर. ने इसे चतुर्थी का रूप माना है—'आपके लिये'।

विततम्—क्तप्रत्ययान्त 'तत' में समास होने के कारण बिना अन्तर के, एकदम पहले वाली गति 'वि' उदात्त है (दे पा ६।२।४६—गतिरनन्तर)।

ब्रह्मणस्पते—प्राय षष्ठी विभक्ति के द्वारा जिस शब्द का किसी सम्बोधन शब्द से सम्बन्ध होता है, वह स्वर के प्रसङ्ग मे उस सम्बोधन पद का ही अङ्ग बन जाता है, अर्थात् उसका स्वतन्त्र स्वर समाप्त होकर केवल सम्बोधन पद का ही स्वर रहता है—मानो वह सारा एक ही पद हो (सुबामन्त्रिते पराङ्गवत्स्वरे-पा २।१।२)। यहाँ भी पदपाठ मे दो पृथक् शब्द दिखाये जाने पर भी 'पते' के सम्बोधन होने के कारण सर्वानुदात्त होने से 'ब्रह्मण' भी सर्वानुदात्त है। यहाँ सन्धि-विषयक वैशिष्ट्य भी ध्यान देने योग्य है। पति शब्द आगे होने पर वेद मे षष्ठीविभक्तिजनित विसर्ग का सकार हो जाता है (षष्ठ्याः पतिपुत्रपृष्ठपारपदपयस्पोषेषु पा. ८।३।५३)। इस दृष्टि से पाश्चात्य विद्वानों द्वारा इस नाम के रूप मे, अनुवाद किये बिना, ज्यो का त्यो रख देना आश्चर्यकर प्रतीत होता है। वें—ब्राह्मणाना स्वामिन्, सा—मन्त्रस्य स्वामिन् सोम। या. (नि. १०।१२)-ब्रह्मण पाता वा पालयिता वा। और नि मे ब्रह्म की निरुक्ति 'परिवृढ सर्वतः' दी गई है। ग्रास-स्तुतियो का स्वामी। प्रस्तुत प्रसङ्ग में इस शब्द के प्रयोग से यह भी सिद्ध होता है कि ब्रह्मणस्पति को सर्वत्र बृहस्पति का पर्याय नही माना जा सकता। यह शब्द अन्य देवताओ के विशेषण रूप में भी प्रयुक्त हुआ है—जिस प्रकार यहाँ सोम के लिये। अर. के अनुसार इसका अर्थ 'आत्मा का स्वामी' (मास्टर ऑफ द सोल) है। उनके मतानुसार सामान्यतया ब्रह्म का अर्थ आत्मचैतन्य या प्रज्ञा है।

गात्राणि—वें, सा—पातृणामङ्गानि। इन्होंने स्पष्ट ही सोम को पेय पदार्थ माना है।

अतप्ततनूः—तप्ता तनूर्यस्य सः तप्ततनूः न तप्ततनूः (नञ्तत्पुरुष समास)। तदनुसार अव्यये नञ्कुनिपातानाम् (वा. ६।२।२) से आद्युदात्त। वें. विविधैस्तपोविशेषैरतप्ततनूः। सा—पयोव्रतादिना असन्तप्तगात्र। ग्रास., गेल्ड.—जिसका शरीर संदीप्त नहीं है (देसन कोर्प्पर निश्त दुर्शग्लूट इस्त), अर.

जिसका शरीर तप्त नहीं है—आनन्द की तीव्र मदिरा का पान करने वाले व्यक्ति का शरीर सोम की गुप्त और जलती हुई उष्णता के लिये कष्ट और जीवन को पीड़ा देने वाली सभी उष्णताओं पर विजय प्राप्त करके तैयार होना चाहिये। अन्यथा कच्चे, अनसिके मिट्टी के पात्र के समान वह उसे सहन न कर नष्ट हो जायेगा।

वहन्त —वें, सा-अश वहन्त (निर्वहन्त), अर-इस (पवित्र) को वहन करते हैं।

तपोष्पवित्रं विततं दिवस्पदे शोचन्तो अस्य तन्तवो व्यस्थिरन्।
अवन्त्यस्य पवीतारमाशवो दिवस्पृष्ठमधि तिष्ठन्ति चेतसा ॥२॥

तपोः। पवित्रम्। विऽततम्। दिवः। पदे। शोचन्तः। अस्य। तन्तवः। वि। अस्थिरन्। अवन्ति। अस्य। पवीतारम्। आशवः। दिवः। पृष्ठम्। अधि। तिष्ठन्ति। चेतसा॥

महाताप का शोधक (तत्त्व) फैला है नभ के तल पर,
देदीप्यमान इसके तन्तु (कण कण में) बिखरे हैं।
रक्षा करते इसके, (तन्तु) शोधक की, द्रुतगति (घोड़े),
नभ पृष्ठ भाग पर आश्रित होते ज्ञान से (निखरे हैं)॥

सोम शान्ति और सन्ताप हरण का प्रतीक है। सवप जन्य आनन्द समस्त सघर्षरूप ताप का शोधन अर्थात् शमन करता है। नभ का तल इस प्रसङ्ग मे मस्तिष्क होगा। इस अवस्था म वह आनन्द सारे शरीर में व्याप्त होता है—सवत्र ऐसे प्रस्फुटित होता है मानो कोई देदीप्यमान तत्त्व हो। यह एक प्रकार से शरीर का शोधन ही होता है। सवव्यापी आनन्द की तरङ्गो को यहा उसके घोड़े कहा गया है—ये आनन्द की तरङ्गें ही आनन्द को चिरस्थायी बनाकर उसकी रक्षा करती हैं। ये तरङ्गें ज्ञान के आधारभूत नभपृष्ठ अर्थात् मस्तिष्क मे (दे [illegible] ब्रा ६।१।२।३-अथ यत् कपालमासीत् सा द्यौरभवत्) अवस्थित हैं। इस मन्त्र मे सोम को सुविधापूवक चन्द्रमा भी मान सकते हैं। सन्तापहारक चन्द्रमा की शीतल तन्तुरूप किरणें सवत्र व्याप्त हो जाती हैं। इन्हीं अन्धकार विनाशक किरणो को सोम (चन्द्रमा) के घोड़े भी कहा गया है। ऊपर नभ-पृष्ठ पर मानो वे घोड़े अपने चैतन्य से अवस्थित हैं।

तपो —'कस्कादिषु च' (पा० ८।३।४८) के अनुसार 'पवित्रम्' परे रहने पर तपो के विसर्जनीय का षत्व हुआ है।[1] तपु शब्द का निर्वचन √तप

---

[1] कस्कादि आकृतिगण है। दे काशिका—अभिहितलक्षण उपचार कस्कादिषु द्रष्टव्य। तु चोष्पिता (ऋ ७।१।१०)।

(तपाना) से किया गया है (नि० ६।१९—तपुस्तपते, उणादि० १।१८—उ प्रत्यय)। ऋ० ७।१०४।२ में तपु का अर्थ वेलकर ने 'ताप' किया है। उक्त प्रसंग में ग्रासमनप्रभृति विद्वानों के अनुसार इसका अर्थ 'सन्तप्त होने वाला (राक्षस)' है। आधुनिक विद्वानों ने इसका 'ताप' अर्थ देते हुए इसे सकारान्त नपुं० माना है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में सभी विद्वान् इसका अर्थ '(शत्रुओं को) तपाने वाला' करते हैं और इसे उकारान्त मानते हैं। (दे० सा०—शत्रूणां तापकस्य सोमस्य)। गेल्ड० के अनुसार इसका अर्थ 'अत्यधिक सन्तप्त (सूर्य) का' है। अर०—जाज्वल्यमान आनन्दरूप मदिरा का।[1]

दिवः पदे—वें० अन्तरिक्षस्योच्छ्रिते स्थाने, सा०-द्युलोकस्योच्छ्रिते स्थाने—'तृतीयस्यामितो दिवि सोम आसीत्' (तै० ब्रा० ३।२।१।१—यहाँ से तीसरे आकाश में सोम था)। ग्रास०, गेल्ड०-आकाश के स्थान में। अर०-स्वर्ग के आसन पर (—इन द सीट ऑफ हेवन)—द्यौ या स्वर्ग स्नायुओं तथा शरीर की प्रतिक्रियाओं से अप्रभावित शुद्ध मन स्थिति है। स्वर्ग के इसी स्थान में विचार और भावनाएँ सत्य-दर्शन की शुद्ध किरणें बन जाती हैं।[2]

तन्तवः—वें-तन्तवः, सा०—प्रतानः, ग्रास०, गेल्ड०-सूत्र के तन्तु (फेदन)। वस्तुतः इस शब्द के मूल में √तन् (विस्तारे) है। तदनुसार तन्तु कोई भी फैलने वाला या फैलाने वाला तत्व हो सकता है। अर०—इस शोधक तत्त्व के सूत्र या तन्तु पूर्णतया शुद्ध प्रकाश के हैं और किरणों के समान स्थित हैं। इन्हीं सूत्रों के माध्यम से आनन्द की मदिरा प्रवाहित होती हुई आती है।[3]

अस्य—'पवित्रम्' का अन्वादेश होने के कारण 'इदमोऽन्वादेशेऽनुदात्तस्तृतीयादौ' (पा० २।४।३२) सूत्र के अनुसार यहाँ अस्य का 'अ' (इदम् का आदेश) अनुदात्त है। 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' (पा० ३।१।४) से विभक्ति भी अनुदात्त है।[3]

वि अस्थिरन्—√स्था-आत्मने० विकरणलुक्-लुङ् प्र० पु० बहु०-'झ' के स्थान पर 'रन्'। (दे० वै० व्या० भा० २, पृ० २६८) और पृ० ७१४ पर टि० २४०)। 'तिङ्ङतिङः' से सर्वानुदात्त।

पवितारम्—पवितृ शब्द का एक रूप और (पवितारः) ऋ० (९।४।४) में केवल एक स्थान पर और आया है। दोनों स्थानों पर संहितापाठ में छन्द के अनुसार 'वि' में दीर्घ ईकार है। वें०-यज्ञे यः सोमं पुनाति तम्, सा०-पावयितारम्, ग्रास०-जिससे सोम छाना जाता है, वह साधन।

१. ऑन दि वेद, पृ. ३७०—स्ट्रीम एंड फायरी वाइन।
२. दे. वहीं पृ. ३७०।
३. वै. ११. स., पृ. १२६-९०।

मुद्रावः—वें०-रश्मय, सा०-सोमस्य शीघ्रगामिनो रसा, ग्रास०-घोड़े, गेल्ड०—शीघ्रगामी घोड़े (रायॅन्), मर०—तीव्र ग्रानन्दातिरेक (स्विफ्ट एक्स्टे-सीज़)—बलिष्ठ ग्रानन्दरस। मक्स०, ग्रो० ब० प्रभृति विद्वानो ने भी अनेक स्थलो पर इसका 'शीघ्रगामी घोड़े' अर्थ किया है। मद् से निष्पन्न (दे० ग्रास० धो० बु०, पृ० १८७) इस शब्द का मूल अर्थ क्षिप्र या शीघ्र' ही है (दे० नि० ६।१—त्याशु इति च सु इति च क्षिप्रनामनी भवत)। इससे तु० मू० ग्रोकसुस्।

चेतसा—वें०-मनुष्यान् प्रज्ञापयन्त, सा०-बुद्धया देवगमनेच्छावत्या, ग्रास०—तेजसहित (ग्लान्स), गेल्ड०—बुद्धि चैतन्य-सहित (इम गाइस्ते), चेतस् का केवल यही एक रूप ऋ० में केवल छ बार ग्राया है। यह शब्द√चित् (सज्ञाने) से ग्रसुन् प्रत्यय (उणादि० ४।१६१ सर्वधातुभ्योऽसुन्) लग कर निष्पन्न हुआ है।

विशेष—छन्द पूर्ति की दृष्टि से द्वितीय पाद मे 'र्व्यस्थिरन्' के 'वि ग्रस्थि-रन्' ग्रौर तृतीय पाद में 'ग्रवन्त्यस्य' का 'ग्रवन्ति ग्रस्य' उच्चारण किया जाना चाहिये।

अरूरुचदुषसः पृश्निरग्रिय उक्षा बिभर्ति भुवनानि वाजयुः।
मायाविनो ममिरे अस्य मायया नृचक्षसः पितरो गर्भमा दधुः॥३॥

अरूरुचत्। उषसः। पृश्निः। अग्रियः। उक्षा। बिभर्ति। भुवनानि। वाजऽयुः। मायाऽविनः। ममिरे। अस्य। मायया। नृऽचक्षसः। पितरः। गर्भम्। आ। दधुः॥

दीपित किया उषाओं को विविधवर्ण (इस) अग्रिम ने
सेचक धारण करता है लोकों को गति का इच्छुक।
निर्मापकों ने निर्माण किया इसको (ही) माया से
नर द्रष्टा पितरों ने गर्भरूप धारण (इसे) किया॥

सोम (चन्द्रमा अथवा सोमलता) का सूर्य के साथ ग्रात्यन्तिक सम्बन्ध है। ग्राध्यात्मिक दृष्टि से भी ग्रानन्द का प्रज्ञा से घनिष्ठ सम्बन्ध है। सम्भवतया इसी कारण सोम सूक्त मे सूर्य की स्तुति की गई है। वह अग्रिम ग्रर्थात् सब का नेता या प्रधान है। वह उषाग्रो को प्रकाशित करता है, चन्द्रमा को तो करता ही है। यहाँ पितर सूर्य की किरणें हैं। उनमे महती निर्माण-शक्ति है, तथा वे सब को देखती हैं ग्रर्थात् सबका ध्यान रखती हैं। वे ही सूर्यतत्त्व को गर्भरूप मे धारण करके विविध ग्रोषधियो ग्रादि का निर्माण करती रहती हैं। ग्रथवा प्रज्ञा के स्फुरण ही विवेकरूपी उषा को प्रकाशित करके, ग्रानन्द को प्रेरित करके मनुष्य को विभिन्न निर्माण-कार्यों के लिये प्रोत्साहित करते रहते हैं। ये प्रज्ञा के स्फुरण ही मनुष्य की समस्त गतिविधियो

पर दृष्टि रखते हैं। सोम को यदि जल माना जाये तो भी शरीर में विद्यमान तापरूपी सूर्य की किरणें उसे सन्तुलित रखने में सहायक होती हैं।

अरुरुचत्—वाक्य के प्रारम्भ में होने के कारण यह तिङन्त पद सोदात्त है। यह √रुच् से णिजन्त लुङ्लकार प्र० पु० एक० का रूप है, अतः 'लुङ्लङ्-लृङ्क्ष्वडुदात्तः' (पा० ६।४।७१) से इसका अट् उदात्त है। 'दीपित किया' अर्थात् पहले भी दीपित करता रहा है और अब भी कर रहा है क्योंकि अगले ही वाक्य में लट् (बिभर्ति) का प्रयोग है। अथवा 'छन्दसि लुङ्लङ्लिट' (पा० ३।४।६) के अनुसार यहाँ वर्तमानकालिक अर्थ भी हो सकता है। पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार यहाँ आसन्नभूत काल होगा—'प्रकाशित किया हुआ है'।

पृश्निः—वें०-आदित्यरूपः 'पृश्निवर्ण., सा०-उषस. सम्बन्धी आदित्यः—सोऽयं सोमः— स्पष्ट ही यहाँ सायण ने 'उषसः' को षष्ठ्यन्त माना है। इसीलिये उसे अरुरुचत् का अर्थ करते हुए 'सर्वम्' का अध्याहार करना पड़ा (रोचयति सर्वम्), या फिर ण्यन्त न मानकर 'रोचते' व्याख्या करनी पड़ी। सोम के साथ सम्बन्ध बिठाने के लिये उसने कहा है कि ओषधियों में सूर्यरूप आत्मा वाले सोम की स्तुति की गई है क्योंकि चन्द्रमा का प्रकाश सूर्य पर निर्भर है।[1] ग्रास०-चितकबरा (उषा-अग्नि या सोम का विशेषण—गेड्रफ़ेकेल्त उषा-अग्निस् ओदर सोमस्), गेल्ड०-चितकबरा (देअर बून्ते)। अर०-सर्वोच्च चितकबरा (सांड)—सोम ही वह प्रथम वृषभ है, आनन्द ही विविध वर्ण अर्थात् विविध प्रकार के मूल तत्त्वों का जनक है।[2] श० ब्रा० (६।१।२।१४) में भी आदित्य को पृश्नि कहा गया है और बताया गया है कि सूर्यमण्डल विविध रश्मियों के कारण पृश्नि है (असौ वा आदित्योऽस्मा पृश्निः...पृश्निर्भवति रश्मिभिर्हि मण्डल पृश्नि)। आध्यात्मिक दृष्टि से क्या अश्मा को मस्तिष्क नहीं माना जा सकता—वही इस शरीर का सूर्य है। और श० ब्रा० ६।१।२।३ के अनुसार कपाल में लिप्त रस की ही संज्ञा 'रश्मियाँ' है (अथ य कपाले रसो लिप्त आसीत् ते रश्मयोऽभवन्)।[3] पृश्नि पर और अधिक विवेचन पीछे ५।५७।२ (मरुत.) में पृश्निमातरः पर टिप्पणी के अन्तर्गत किया गया है।

उक्षा—वें-सेक्ता, सा. जलस्य सेक्ता, ग्रास., गेल्ड.-वृषभ—लाक्षणिक रूप में सोम, अर.-पुमान् (मेल)—वही चैतन्य शक्ति, प्रकृति या गौ को प्रजनन योग्य बनाता है (इट इज़ ही हू फर्टिलाइज़ेज़ फोर्स ऑफ कॉन्शस्नेस, नेचर, दि

---

१. ओषधीषु चात्र सूर्यात्मा सोमः स्तूयते सूर्यरश्म्यनुग्रहाधीनवर्धनाच्चन्द्रस्य।

२. दे. ऑन द वेद, पृ. ३७१—फ़र्स्ट सुप्रीम कॅलर्ड बुल—सोम—आनन्द, डिलाइट ईज़ द पेअरेंट ऑफ द वेराइटी ऑफ एग्ज़िस्टेंसेज़।

३. दे० वे० वि० नि०, पृ. १८८-६०।

काठ)। सूर्य से जल की वृष्टि होती है—वर्षा के रूप में। दे. मनु —अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यक् आदित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥ आध्यात्मिकतया आनन्दरूप मस्तिष्क ही शरीर में जीवन रस सिक्त करता है।

वाजयु —वें. उदकेन वृष्टेन प्रजानामन्नमिच्छन्, सा. तेषां (भूतानाम्) अन्नमिच्छन्। ग्रास.-अन्नसमृद्ध (नाह्रुङ्ग्याइश—वाज के नामधातु वाजय् से उ प्रत्यय लगकर निष्पन्न), गेल्ड. विजयपुरस्कार का अभीप्सु (सीगर प्राइज फेअरलांगेन्द), अर. सत्ता, शक्ति और चैतन्य की पूर्णता का इच्छुक। यद्यपि वाज का अर्थ [illegible] वाला भी होता है (तु. हिन्दी-बाजी), तथापि प्रस्तुत प्रसङ्ग में वह उचित नहीं प्रतीत होता। वाजी अश्व का नाम है, अतः वाज गति भी हो सकती है। सूर्य या सोम गति का इच्छुक है क्योंकि गति ही जीवन है—वह सबको जीवन प्रदान करने वाला है। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार यह युप्रत्ययान्त निपात है (दे. उणादि १।३७—मृगय्वादयश्च। आकृतिगणोऽयम्)। किन्तु पदपाठ में 'यु' को पृथक् किया गया है। और इस आधार पर आधुनिक विद्वानों द्वारा इच्छार्थक नामधातु 'य' (क्यच्) प्रत्यय से उ प्रत्यय लगाकर निष्पत्ति मानना अधिक सङ्गत प्रतीत होता है क्योंकि अवग्रह के नियम के अनुसार यदि नामधातु के साथ इच्छा के अर्थ में जुड़ने वाले यकारादि प्रत्यय (क्यच्) से पूर्व स्वर हो तो उस पदपाठ में अवग्रह द्वारा पृथक् करके दिखलाया जाता है" (वै. व्या. भा. १, पृ. १६६)।

मायाविन् वें. प्रज्ञावन्त, सा. प्रज्ञावन्तो देवाः, ग्रास. दिव्य प्रज्ञा या अद्भुत शक्ति से समृद्ध (राइख आन गोट्लिखर और वाउबरहाफ्टर वुन्डरक्राफ्ट), गेल्ड. जादू में निपुण (त्सौबरकुन्डिगेन)। मायाविन् के केवल दो रूपान्तर ऋ. में प्रयुक्त हुए हैं। 'एव मायाविनम्' (ऋ. २।११।९) का प्रयोग बुरे अर्थ में या वृत्र के अर्थ में हुआ है।[1] दूसरा 'मायाविना' (ऋ. १०।२४।४) अश्विनौ के विशेषण के रूप में स्वाभाविकतया अच्छे अर्थ (प्रज्ञावन्तौ) में प्रयुक्त हुआ है।[2] परन्तु प्रस्तुत प्रसङ्ग में (जहाँ ममिरे' द्वारा निर्माणक्रिया का उल्लेख किया जा रहा है) अर. का अर्थ 'निर्माणज्ञान से युक्त' (हू हैव दि फॉर्मिंग नॉलिज) अधिक सङ्गत प्रतीत होता है। ऐसा ही अर्थ प्रियरत्न ने किया है—'निर्माण-

---

१ दे. वें., सा.—वृत्रम्, स्क. द.—दुष्टवक्रम्, ग्रास., गेल्ड.—कुटिल, जादू के कृत्यों में निपुण।

२ दे. वें.—प्रज्ञावन्तौ, ग्रास.—दिव्यप्रज्ञा या अद्भुत शक्ति से समृद्ध, सा. ने प्रज्ञावन्तौ के साथ साथ 'बहुरूपधारणकुशलौ' अर्थ भी किया है। तु. गेल्ड. ऊपर।

शक्तिमन्तः' (निर्माणशक्ति से युक्त)।[1] 'मायया' के विवेचन (दे. आगे) से इसके अर्थ पर और प्रकाश पड़ता है। इस शब्द मे 'माया' के साथ जुड़ा हुआ तद्धित प्रत्यय 'विन्' पदपाठ में अवग्रह द्वारा पृथक् किया गया है।

ममिरे—वें निर्मितवन्तः, सा-निर्मान्ति, सोमस्पर्शकाशपानेन जातबला अग्न्यादयः स्वस्वव्यापारेण जगत् सृजन्तीत्यर्थः। ग्रास. गर्भरूप मे बनाया है (बिल्देंन दि लाइबेंफ्र्वें), गेल्ड.-बनाया है (विश्वसमूह को), ग्रिफ.—गर्भ को बनाया है, अर.-उसका रूप बनाया—सर्वोच्च परमदेव से सर्जनशक्ति प्राप्त करके पितरो ने मनुष्य मे उस देव का एक रूप बनाया या मनुष्य मे देव-बीज स्थापित किया।[2] √मा (मानें-मापना) जुहो. आत्मने लिट् प्र. पु. बहु।

मायया—वें.-प्रज्ञानेन, सा.-प्रज्ञया, ग्रास.-देवसम्बन्धी अतिमानुष प्रज्ञा, कपट या जादू की कला (यूबरमेन्शलिशें वाइसहाइत ओदर लिस्त, गोत्लिशें कुन्स्त ओदर त्सौबरकुन्स्त), गेल्ड.-जादू की शक्ति के द्वारा (दुर्श त्सौबरक्राफ्त), अर.-प्रज्ञाशक्ति के द्वारा, ग्रिफ.-निर्माणशक्त्या। वें तथा सा. के साथ साथ स्वा द. ने भी इस शब्द का प्रज्ञा अर्थ निघण्टु (३।९) के आधार पर किया है क्योंकि वहाँ यह प्रज्ञा के नामों मे परिगणित है। इस शब्द के अर्थ प्रायः विद्वानो ने जादू, इन्द्रजाल, छल, कपट, मिथ्या धारणा इत्यादि किये हैं। इन अर्थों का आधार लौकिक संस्कृत, वेदान्त तथा आधुनिक भारतीय भाषाओं मे प्रचलित इसके विविध प्रयोग हैं। स्वयं सायण आदि ने प्रसङ्गानुसार माया के दो अर्थ किये हैं—देवो से सम्बद्ध होने पर इसका अर्थ अच्छा अर्थात् 'शक्ति या प्रज्ञा' है, और दुरात्मो, असुरों आदि से सम्बद्ध होने पर इसका अर्थ बुरा अर्थात् 'कपट, या दुष्प्रज्ञा' है। 'माया' कृण्वानस्तन्वं परि स्वाम्' (ऋ. ३।५३।८) और 'इन्द्रो मायाभि: पुरुरूप ईयते' (ऋ. ६।४७।१८) जैसे स्थलों पर स्पष्ट ही इस शब्द का अर्थ 'रूपसर्जन की विशेष योग्यता' या 'स्वयं रूप-धारण की योग्यता' है। यह कुछ रहस्यमय एवं अवर्णनीय शक्ति है। यहाँ भी मूलरूप मे प्रज्ञा ही काम कर रही है, क्योंकि प्रज्ञा सब कर्मों के मूल मे रहती है। इसी शब्द मे पूर्व प्रस्तुत मन्त्र मे 'ममिरे' से इसके निर्वचन का संकेत प्राप्त होता है। तदनुसार माया वह तत्त्व है जिससे सब कुछ मापा जा सकता है और उसी आधार पर सब का निर्माण किया जा सकता है। इसी आधार पर खोंडा (गोंडा) ने प्रस्तुत प्रसंग मे माया का अर्थ 'सोम की श्रेष्ठ प्रज्ञा' किया है।[3]

---

1. दे. अर्थपितृपरिचय, पृ. २६७।
2. आॅन द वेद, पृ. ३७२।
3. 'माया' के निर्वचन और अर्थ के प्रति विस्तृत विवेचन के लिए दे. जे. गोंडा (गोंडा)—फ़ोर स्टडीज इन द लैंग्वेज आॅफ़ द वेद, पृ. ११९-९४।

इसी प्रज्ञा ने निर्माणकर्ता को संसार का स्थल मापने की प्रेरणा प्रदान की।

नृचक्षसः—वें०-नृणां द्रष्टारः, सा०-(सत्य मायया) नृणां द्रष्टारः, ग्रास०-मनुष्य या प्राणिमात्र के नेता (मैनर लाइटेन्द फोन मेन्शन), गेल्ड० मनुष्य की दृष्टि से युक्त (मिट् दैम हेरेनुग्रोगें)। परन्तु गेल्ड० का यह अर्थ केवल समास को बहुव्रीहि मानकर ही सम्भव होगा। और स्वर की दृष्टि से यह बहुव्रीहि नहीं हो सकता क्योंकि उस स्थिति में इसके पूर्वपद पर प्रकृतिस्वर होगा। यहाँ कारक जन्य षष्ठी तत्पुरुष समास होने के कारण इसके उत्तरपद पर प्रकृतिस्वर है अर्थात् 'चक्षस' आद्युदात्त है (दे० पा० ६।२।१३६—गतिकारकोपपदात् कृत्)। —चष्टे इति √चक्ष् असुन्—प्रत्यय नित् होने से आद्युदात्त—चक्षस नृणां चक्षस (नॄन् चक्षते) कर्म कारक के अर्थ में आई हुई षष्ठी विभक्ति वाले पूर्वपद से समस्त होने के कारण उत्तरपद कृदन्त में प्रकृतिस्वर है। अर०-मनुष्य रूपी बलिष्ठ दृष्टि वाले। यहाँ सम्भवतया 'नृ' को बल का प्रतीक माना गया है। ग्रिफ०-प्राणिमात्रस्य दर्शयितारोऽभिव्यक्तिहेतव। यहाँ भी प्रेरणार्थक अर्थ करने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती है। मनुष्यों के द्रष्टा होने का अभिप्राय है 'मनुष्यों के शुभाशुभ कर्मों और गति विधियों का ध्यान रखने वाले'।

पितरः—वें० पातारो देवा, यद्वा अङ्गिरस पितर, सा०-पालका देवा अङ्गिरस पितरो वा, (सविता के पक्ष में) जगद्रक्षका रश्मय, ग्रास०-देव, या देव और मनुष्यों में सम्बन्ध स्थापित करने वाले, दिव्य कीर्ति के सभागी, गेल्ड० पिता (जगदुत्पादक देव या अङ्गिरसों के पूर्वज अभिप्रेत हैं), अर० पिता व पुरातन ऋषि जिन्होंने वैदिक रहस्य विद्या का मार्ग ढूंढ निकाला और जो अब भी आध्यात्मिक रूप में मनुष्य में विद्यमान हैं तथा देवों के समान उसके मोक्षसाधन हित कार्यरत हैं (दे० ऑन दि वेद, पृ० ३७२), ग्रिफ० सूर्यरश्मय √पा से निष्पन्न पितृ शब्द का मूल अर्थ पाता (रक्षक, पालक) है। श० ब्रा० (२।६।१।३२) में ऋतुओं को भी पितर कहा गया है (ऋतवो वै पितर)।

गर्भमा दधु —वें०-गर्भमाहितवन्त ओषधीष्विति यद्वा अङ्गिरसा प्रणेता पितर जगदुत्पादितवन्त, सा० गर्भं धारयन्ति आपधीषु, (सूर्यपक्षे) रश्मयः गर्भं धारयन्ति वृष्ट्यर्थम्, गेल्ड०-बीज स्थापित किया है (हाबेन देन काइम गेलेग्त), ग्रिफ० पृथिव्यामुत्पत्तुं योग्य गर्भमाधत्तवन्त, अर०-उन्होंने उसे उत्पन्न होने वाले शिशु के रूप में भीतर स्थापित किया (दे सेट हिम विदिन एज ए चाइल्ड टु बी बॉर्न)। आधिभौतिक दृष्टि से पितरों अर्थात् सूर्य की रश्मियों ने सूर्य को गर्भरूप में धारण किया। आशय है कि सूर्य के प्रकट होने से पूर्व उसकी रश्मियाँ प्रकट होती हैं—तब वह गर्भरूप में रहता है।

गन्धर्व इत्था पदमस्य रक्षति पाति देवानां जनिमान्यद्भुतः ।
गृभ्णाति रिपुं निधया निधापतिः सुकृत्तमा मधुनो भक्षमाशत ॥४॥

गन्धर्वः । इत्था । पदम् । अस्य । रक्षति । पाति । देवानाम् । जनिमानि । अद्भुतः ।
गृभ्णाति । रिपुम् । निऽधया । निधाऽपतिः । सुकृत्ऽतमाः । मधुनः । भक्षम् । आशत ॥

गन्धर्व वहाँ पर पद को इस के रक्षा करता है,
रक्षा करता देवों के जीवन को, अद्भुत (हित) ।
लेता है पकड़ शत्रु को पाश से पाशों का स्वामी,
सत्कार्यों में श्रेष्ठ माधुर्य का भक्ष्य खाते हैं (नित) ॥

गन्धर्व अर्थात् सूर्य वहाँ अर्थात् नभोमण्डल में सोम या चन्द्रमा की रक्षा करता है अर्थात् उसे प्रकाशित करता है तथा अपनी धारपेण-शक्ति से थामे रहता है। वह अद्वितीय सूर्य देवों अर्थात् अन्य देदीप्यमान ज्योति पिण्डों की भी उसी प्रकार रक्षा करता है। वह किरणों रूपी पाशों का स्वामी अन्धकार-रूपी शत्रु को पकड़ लेता है। जितनी भी दिव्य शक्तियाँ हैं वे सत्कार्यों में श्रेष्ठता के कारण ही सूर्य के प्रकाश रूपी माधुर्य का भक्षण करती हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से मस्तिष्क ही गन्धर्व होगा। वह आनन्द रूपी सोम की तथा इन्द्रियरूपी देवों की रक्षा करता है और उन्हें जीवन तथा शक्ति प्रदान करता है। कहीं भी आनन्द या इन्द्रियों के कार्यों में व्याघात पहुँचे तो मस्तिष्क उस पहचान कर रोकता है। यदि इन्द्रियाँ सत्कार्य करती हुई श्रेष्ठता प्राप्त कर लें तो निश्चय ही उन्हें मस्तिष्क का मधुर फल प्राप्त होता है। इसी प्रकार यह बात ईश्वर-परक भी है। वही सबका रक्षक है जीवनदाता है, शत्रुविनाशक है और सत्कार्य करने वालों को शुभ फल प्रदान करता है।

गन्धर्व—वें०, सा०-उदकानां स्तुतीनां वा धारक आदित्य, ग्रास०-आकाश के उच्च स्थान पर रहने वाले एक दिव्य प्राणी का नाम, प्रवाहशील दिव्य जल के नीचे उसके रक्षक के रूप में चमकता हुआ यह सम्भवतया सोम है। सूर्य के साथ भी यह सम्बद्ध है। गेल्ड०-गन्धर्व, ग्रर०-गन्धर्व के रूप में, आनन्द-समूह का स्वामी सोम ही गन्धर्व है। वें० तथा सा० ने ऋ० १।२२।१४, ९६।३।२ में भी इसका अर्थ सूर्य ही किया है और निर्वचन किया है—गवां रश्मीनां धर्तारं सूर्यम्। स्वा० द० ने उक्त दोनों स्थलों पर इसका अर्थ 'वायु' किया है और अर्थ की पुष्टि में श०ब्रा० ९।३।३।१० का उद्धरण (वातो गन्धर्वः) देते हुए निर्वचन इस प्रकार किया है—यो गां पृथिवीं धरति स गन्धर्वो वायुः। ऋ० १।२२।१४ के भाष्य में स्क० ने गन्धर्व को चन्द्रमा माना है और यह व्युत्पत्ति दी है—सुषुम्णो नाम सूर्यरश्मि सात्र गौरुच्यते तां धारयतीति

गन्धर्वस्चन्द्रमा । ऋ० के विवाहसूक्त (१०।८५।४०) में गन्धर्व को सूर्या का दूसरा पति बताया गया है और कहा गया है कि उसे सूर्या सोम से पत्नीरूप में प्राप्त हुई—सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः।

इस वर्णन के अनुसार गन्धर्व को चन्द्रमा मानना कठिन हो जाता है क्योंकि सोम तो स्पष्ट ही चन्द्रमा है। ऋ० ८।७७।५ में सा० ने गन्धर्व को मेघ माना है (गामुदकं धारयतीति गन्धर्वो मेघः)। परन्तु प्रस्तुत प्रसङ्ग में गन्धर्व का अर्थ या तो सूर्य और या आध्यात्मिक दृष्टि से मस्तिष्क (गा इन्द्रियाणि धारयतीति) उचित प्रतीत होता है। 'वायु' अर्थ भी सङ्गत हो सकता है क्योंकि ऋ० १०। ८५।५ में वायु को सोम का रक्षक बताया है (वायुः सोमस्य रक्षिता)। इस पर सा० की टिप्पणी है—वायुवशीनत्वाच्चन्द्रगते। श० ब्रा० ६।४।१।४ में गन्धर्व का सम्बन्ध गन्ध से बताया गया है जिससे उसका गन्धवाह होना सिद्ध होता है—(गन्धेन च वै रूपेण च गन्धर्वाप्सरसश्चरन्ति)। इसके विपरीत अथर्व० ७।७३।३ के वर्णन से गन्धर्व का सूर्य होना ही निश्चित होता है क्योंकि वहाँ कहा गया है कि सभी देवता घर्म अर्थात् तेज को इसके मुख से ग्रहण करते हैं—तम् विश्वे अमृतासो जुषाणा गन्धर्वस्य प्रत्यास्ना रिहन्ति। इसी प्रकार वा० सं० १८।३८-४३ और तै० सं० ३।४।७ में राष्ट्रभृत् मन्त्रों के अन्तर्गत सम्भवतया गन्धर्व का वर्णन अग्नि, तथा सूर्य की विभिन्न किरणों के रूप में हुआ है यथा "ऋताषाडृतधामा अग्निः, संहित विश्वसामा सूर्यः, सुषुम्णः सूर्यरश्मिः चन्द्रमा, इषिरः विश्वव्यचा वातः, भुज्युः सुपर्णः यज्ञः, प्रजापतिः विश्वकर्मा मनः"। किन्तु आगे चलकर सूत्रकाल में गन्धर्व अतिमानुष जातिविशेष का नाम हो गया और उसमें भी विश्वावसु के नाम का बार बार उल्लेख हुआ है।[1] विवाह-मन्त्रों में भी पौनः पुन्येन गन्धर्व का नाम आता है।[2] लौकिक साहित्य में इसी रूप का विकास हुआ प्रतीत होता है।[3]

इत्था—वें० अमुत्र सा० सत्यम्, ग्रास०-सत्य, वास्तव में (रेडत, इन वाह्रहाइत), गेल्ड० वहाँ (दोर्न) अर० सत्य (पद का विशेषण टू सीट), या०- अमुत्र, पा० ५।३।२३ 'प्रकारवचने थाल्' तथा पा० ५।३।२६ 'था हेतौ च छन्दसि' के अनुसार प्रकार तथा 'हेतु' के अर्थ में यह शब्द 'इदम्' से था प्रत्यय लगकर बना है। तदनुसार इसका अर्थ इस प्रकार और इस कारण से

१ उदा० जै० गृ० १।१९।१—गन्धर्वोऽसि विश्वावसुः स मा पाहि स मा गोपाय (समावर्तन में दण्डग्रहण के लिए मन्त्र)।

२ उदा० श्रौ० गृ० १।४।१६—गन्धर्वाय वनिविदे स्वाहा।

३ अधिक विवरण के लिए दे० हिन्दी विश्वकोश खं० ३, पृ० ३७०-७१।

होगा (द० वे० व्या० भा० १, पृ० ४५३)।[1]

पृश्नम्—वें० यास०, गेल्ड०-स्थानम्, सा०—स्थान द्युसम्बन्धि, अर०-आनन्द के आधार स्थल की (रक्षा करता है)। यहाँ पद अथवा स्थान का अभिप्राय पदवी या स्थिति या स्थायित्व है।

जनिमानि—वें०,-देवजातानि देवानित्यय, सा० देवानां जन्मानि देवानित्यय, ग्रास०—देववंशों की, गेल्ड०-वंशों अथवा पीढ़ियों की (गेश्लेश्तर), अर०-देवों के जन्म—ब्रह्माण्ड मे दिव्य सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति, मानव के भीतर अनेक रूपों में ईश्वर की रचना। यहाँ जन्म का अभिप्राय जीवन प्रतीत होता है। यह √जन् से इमनिन् प्रत्यय लगकर बना है (दे० उणादि० ४।१४८)। छन्द में एक अक्षर की कमी पूर्ण करने के लिये इसका और अगले पद का उच्चारण सन्धिविच्छेद करके 'जनिमानि अद्भुत' करना चाहिये।

अद्भुत—वें०, सा०—महान्, ग्रास० अतिपार्थिव, आश्चर्यजनक (यूबर-इर्दिश, वुन्दरबार—अति भूत का संक्षिप्त रूप), गेल्ड०-रहस्यमय (हाइमलिशे), अर० विचित्र—सर्वोच्च, अन्य सभी प्राणियों से भिन्न और उन सबसे ऊपर। या०-अद्भुतम् अभूतम् जिसका कभी जन्म नहीं हुआ, अजन्मा (नि० १।६)। इसका अर्थ अद्वितीय भी सम्भव है, जिसके समान और कोई नहीं हुआ।

रिपुम्—वें० रिपुम्, सा०-अस्मद्वैरिणम्, ग्रास०-कपटी (बेत्रूगर—√रिप् से), गेल्ड० धूर्त (शेल्म), अर०—असत्य अस्पष्टता एवं विभाजन की शक्ति के रूप में स्थित शत्रु को। उणादि सूत्र (१।२६) के अनुसार यह √रप् स कु प्रत्यय लगकर निष्पन्न हुआ है और उपधा को इ हो गया है (रपे-रिच्चोपधायाः)। रिपु का अर्थ तदनुसार 'अनिष्ट बात कहने वाला' (अनिष्ट रपतीति) होगा। पा धातुपाठ में √लिप (>रिप्) उपदेह (वृद्धि, अर्थात् फैलना, लेप करना) के अर्थ में है। तदनुसार रिपु का भाव 'फैलने वाला, आक्रमण के द्वारा विरोधी को लिप्त या प्रभावित करने वाला' होगा। इस भाव के होते हुए √रप से निर्वचन करना अनावश्यक प्रतीत होता है।

निपया—वें०-पाशेन, सा०-निधा पाश्या, पाशसमूहेन, ग्रास०, गेल्ड०-फन्दे के द्वारा (मित देअर श्लिंगें), अर० आन्तरिक व्यवस्था अन्तश्चेतना—

[1] परन्तु पाणिनीय व्याकरण के अनुसार 'इत्था' में लित् जनित प्रत्यय-स्वरित के अभाव में यहाँ थाल् नहीं हो सकता और केवल किम से सम्बद्ध होने के कारण था की प्राप्ति भी नहीं होती। सम्भवतया इसी कठिनाई को ध्यान में रखकर सायण ने ऋ १।२४।४ के अन्तर्गत इत्था का एक अन्य समाधान प्रस्तुत किया है। तदनुसार यहाँ थम प्रत्यय (इदमस्थमु—पा ५।३।२४) हो है। उससे 'सुपां सुलुक्' इत्यादि सूत्र के द्वारा विभक्ति का डादेश हुआ। डित्व से टिलोप होकर उदात्तनिवृत्ति स्वर से (पा ६।१।१६१) आकार उदात्त हुआ।

इन्द्रियों और बाह्य मन द्वारा प्राप्त सांसारिक अनुभव से अधिक गम्भीर और सत्य है। इसी अन्तश्चेतना के द्वारा वह (देव) असुरादि की शक्तियों को बाँध कर रखता है। या० (नि० ४।३)—निधा पाश्या भवतीति, यन्निधीयते। पाश्या पाशसमूह। क्योंकि यह पक्षी इत्यादि पकड़ने के लिये नीचे रखा जाता है (निधीयते) इसलिये, इसे निधा-पाशसमूह, जाल कहते हैं। नि √धा से क प्रत्यय (पा० ३।१।१३६) लगकर टाप् (पा० ३।३।१०६) हुआ है।[1] पदपाठ में नि उपसर्ग को अवग्रह के द्वारा पृथक् करके दिखाया गया है।

मधु'न —वें०-मधुन, सा०-मधुररसस्य आस०,-सोम के माधुर्य का, गेल्ड०-सोम का (पान), अर० मधु-तुल्य-माधुर्य का (भोग), अस्तित्व के समस्त माधुर्य, आत्मा के भोजनरूप आनन्द का आस्वादन अपने कर्मों में दक्ष व्यक्ति करते हैं। या० (नि० ४।८)—मधु सोममित्यौपमिकम् माद्यते, इदमपीतरन्मध्वे-तस्मादेव। निघण्टु (१।१२।११) में मधु उदक-नामों में भी परिगणित है। मधु और सोम दोनों में हर्षित करने के गुण की समानता है, अत सोम के लिये मधु शब्द का प्रयोग भी होता है। तु० यू० मेदु (मदिरा) पुरातन उच्च जर्मन—मेतु, पुरातन स्लाव मेदु (शहद) लिथुआनी—मेदु, अ०-मीड।

आशत—वें०, सा०-प्राप्नुवन्ति, ग्राम०, गेल्ड०-प्राप्त किया है। अर०-आस्वादन करते हैं। प्रस्तुत प्रसङ्ग में 'भक्षम्' कर्म की क्रिया के रूप में 'आस्वादन करना' या 'खाना' अर्थ ही सबसे अधिक सङ्गत प्रतीत होते हैं। यह पद √अश् से विकरणलुक् लुङ् का आत्मनेपद का प्र० पु० बहु० का रूप है। (दे० वै० व्या, पृ० ५६८)।

हविर्हविष्मो महि सद्म दैव्यं नभो वसानः परि यास्यध्वरम्।
राजा पवित्ररथो वाजमारुहः सहस्रभृष्टिर्जयसि श्रवो बृहत् ॥५॥

हविः। हविष्मः। महि। सद्म। दैव्यम्। नभः। वसानः। परि। यासि। अध्वरम्। राजा। पवित्रऽरथः। वाजम्। आ। अरुहः। सहस्रऽभृष्टिः। जयसि। श्रवः। बृहत् ॥

हवि हो, हे हवियुक्त (देव), महान् (तुम ही तो) घर दिव्य,
नभ को करते व्याप्त सब ओर घेरते अध्वर को।
राजा पवित्र (तेजरूप) रथ वाले गति पर हो सवार
सहस्रज्योति युक्त जीतते कीर्ति विपुल (अम्बर) हो ॥

---

1. दे० नि० ४।३ पर मुकुन्द झा बख्शी की टि०—यास्क के (निधातव्येति) बाहुलकमेव गतिः। कर्तरि ह्यसौ विधीयते। इह तु कर्मण्यपेक्ष्यते ॥ किन्तु यह कर्तरि भी हो सकता है—निदधाति गृहीत्वा खगान् सा निधा।

हविर्युक्त सोम ही सर्वोत्कृष्ट आहुति-द्रव्य है। इसी प्रकार ओषधिपति चन्द्रमा भी हवि है क्योंकि हविर्द्रव्यों का मूल तो ओषधियाँ ही हैं। आनन्दघन परमेश्वर सब सृष्टि करने वाला होकर स्वयं उस सृष्टि या आहुति से भिन्न नहीं है, उसको क्या वस्तु अर्पित की जा सकती है, वह तो स्वयं ही सब कुछ है। वही परम धाम है। सर्वव्यापी है और भौतिक तथा आध्यात्मिक और सृष्टिरूप यज्ञ का सञ्चालन भी वही करता है। उसकी पवित्र गति सर्वत्र है। उस परमानन्द से ही मनुष्य सहनशक्ति या सहस्रगुणा प्रकाश प्राप्त करता है। सोम भी यज्ञ में आहुतिरूप में अर्पित होकर दिग् दिगन्त में व्याप्त हो अपने तेज से सबकुछ प्रकाशित करता है। चन्द्रमा भी अपने प्रकाश से नभ में व्याप्त होता है, ओषधिपति होने से ओषधिमूलक यज्ञ का आधार है। राजा के समान सुशोभित होता है। गतिशील रहता है, सहनयोग्य प्रकाश से युक्त होने के कारण वह लोक में प्रशसित है।

अन्वय—इस मन्त्र के पूर्वार्ध के अन्वय के विषय में विद्वानों में मतभेद है। वेंकट—उदक हे उदकवन्, महत् सदन देवानाम्। व्याप्त (नभः-नभतिर्व्याप्तिकर्मा) वसानः परि गच्छसि यज्ञम्।

सायण—उदकवन् सोम हविर्भूत नभः वसान. महि दैव्य सद्म परियासि परिगच्छसि। अध्वर निर्वोढुम्। (स्पष्ट ही इस अन्वय में 'निर्वोढुम्' का अध्याहार करना पड़ा है।)

गेल्डनर—हे हविर्युक्त स्वयं को मेघ में आच्छादित किये हुए तू महान् दिव्य स्थान और पवित्र कृत्य (यज्ञ) को हवि के रूप में परिवर्तित कर लेता है।

ऊपर अर्थ में हमने श्री अरविन्द द्वारा गृहीत अन्वय का अनुसरण किया है। (दे० ऑन दि वेद, पृ० ३६५)।

हविः—वें.-उदकम्, सा०-हविर्भूतम्, ग्रास०, गेल्ड०-आहुतिद्रव्य, अर०-दिव्य भोजन, आनन्द और अमृतत्व की मदिरा (द डिवाइन फूड, द वाइन आफ डिलाइट एंड इम्मोर्टेलिटी)।

हविष्मः—वें०-उदकवन्, सा०-हविरित्युदकनाम, उदकवन् सोम हविर्भूत नभः। ग्रास०, गेल्ड०-आहुतिद्रव्य से युक्त, अर०-हे दिव्य भोजन के स्वामी। मतुप्-प्रत्ययान्त होने के कारण सम्बोधन एकवचन में अन्त्य 'न्' का 'रु' हो गया है। (पा० ८।३।१—मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि।)

सद्म—वें०-हविः सद्म इत्युदकनामनी भवतः (निघ० १।१२)—देवाना महत् सद्म, सा०-दैव्यं यागगृहम्, गेल्ड०-निवास स्थान, अर० दिव्य घर अर्थात् अतिचेतन आनन्द और सत्य।

दैव्यम्—जगती छन्द के पाद में एक अक्षर की कमी को पूरा करने के लिये इसका उच्चारण 'दैविअम्' किया जाना चाहिये।

नभः—वें०-नभतिर्व्याप्तिकर्मा, व्याप्तम् (नभ), सा०-उदकनामैतत्, उदकरसमित्यर्थः। ग्रास०-(सोम का) द्रव्य या जल (नास्स, वास्सर, फ्रॉम्स फोम् सोम, व्युत्पत्ति √नभ् फटना, तु० यूनानी नेफोस), गेल्ड०-मेघ, अर०-स्वर्ग, स्वर्गीय आकाश का बादल अर्थात् मनस्तत्त्व। या० (नि० २।१४) ने इसका अर्थ 'आदित्य' या 'आकाश' बताते हुए ये निर्वचन दिये हैं—नभ आदित्यो भवति, नेता रसानाम्, नेता भासाम्, ज्योतिषा प्रणय, अपि वा भन एव स्याद्विपरीत। न न भातीति वा, एतेन द्यौर्व्याख्याता। नभः का अर्थ 'दूर दूर तक फैला हुआ ज्योति पूर्ण खाली स्थान' प्रतीत होता है।

अध्वरम्—छन्द पूर्ति के निमित्त पूर्ववर्ती शब्द का और इसका उच्चारण सन्धिविच्छेद करके 'यासि अध्वरम्' किया जाना चाहिये। इस शब्द पर विस्तृत टिप्पणी के लिये दे० ऋ० १।१।४। सा० ने इसके साथ 'निर्वोढुम्' क्रिया का अध्याहार किया है (यागगृहं परिगच्छसि अध्वरं निर्वोढुम्)। अर०-यज्ञ की गति (द मार्च ऑफ द सैक्रिफाइस)। यज्ञ और अध्वर में यदि भेद करना चाहें तो प्रतीत होता है कि यज्ञ में जहां मनसा पूजा प्रधान है, वहां अध्वर में शारीरिक-क्रिया प्रधान है—यह बात यज्ञ में अध्वर्यु (अध्वर से निष्पन्न) की स्थिति से भी बहुत स्पष्ट होती है।

वाजम्—वें० सङ्ग्रामम्, सा०-सङ्ग्रामम्, यद्वा तत्र तत्र सङ्ग्रामवाचकेन शब्देन यज्ञ व्यवहारदर्शनादत्र वाजो यज्ञाख्यसङ्ग्राम। ग्रास०, गेल्ड० विजय-पुरस्कार (प्रीयूतें, सीगरप्राइज़), अर० अनन्त और अमृत स्थिति का विस्तार, सम्पूर्णता।—वह आनन्दमय देव हमारी सब क्रियाओं का राजा, तथा हमारी दिव्य प्रकृति और उसकी शक्तियों का स्वामी हो जाता है। फिर ज्ञानालोकित चेतन हृदय रूपी अपने रथ पर चढ़कर वह पूर्णता पर आरोहण करता है। स्क, वें. और सा ने इस शब्द के 'अन्न' और 'संग्राम'—प्राय: ये दो अर्थ दिये हैं। ऋ० १।५२।१ में 'अत्य' (गमनशील) के विशेषणभूत इस शब्द का अर्थ सायण ने 'अश्व' किया है और निम्नलिखित निर्वचन से उसे सिद्ध किया है—'वाज्यते गम्यतेऽनेनेति वाज (वज, व्रज गतौ, करणे घञ्)।" स्वा० द० ने इस स्थल पर 'वेगयुक्तम्' अर्थ किया है। अन्यत्र भी (ऋ० १।६४।१३ में) उन्होंने 'वेगादिगुणसमूहम्' अर्थ दिया है। कुछ स्थलों पर (यथा—ऋ० १।५।६, ४८।११, ७३।५) उन्होंने इसका 'ज्ञानम्' या 'विज्ञानम्' अर्थ भी दिया है। सायण की उपर्युक्त निरुक्ति के अनुसार इसका अर्थ 'गति' भी सम्भव है। प्रो० ब० न 'बल', 'पुरस्कार' अर्थों के साथ साथ (ऋ० १।२७।७ आदि में)

इसका अर्थ '(पुरस्कारार्थ अभिप्रेत) दौड़' भी किया है।[1] प्रायः पाश्चात्य विद्वानों ने इसका अर्थ 'पुरस्कार' या 'सम्पत्ति' किया है। इसके अतिरिक्त पीटर्सन ने सेंट पीटर्सबर्ग शब्द कोश में से इसके 'वेग, दौड़, लाभ, खजाना, घुड़दौड़' अर्थ भी उद्धृत किये हैं। उसके मतानुसार इसका मूल अर्थ बल, संघर्ष, दौड़ या दौड़ के फल रूप में प्राप्त 'पुरस्कार, खजाना, सम्पत्ति' रहा होगा।[2]

सु॒हस्र॑भृष्टिः—वें०—बहुभ्रशः अपरिमितगमन इत्यर्थः। अथवा भृष्टिरायुधम्। असंख्यातायुधः सन्। ग्रास०-सहस्र नोकीले आयुधों वाला (ताउजेन्द स्पिट्सिगेन वाफन हाबन्द), गेल्ड०-सहस्र नोकों वाला (ताउजेन्द स्पेसिकिगर), सहस्र प्रज्वलित दीप्तियों वाला (विद थाउजेंड बर्निंग ब्रिल्लिएन्सज)। यह शब्द अधिकतर वज्र का या अन्य किसी आयुध का विशेषण होकर आया है। उन स्थलों पर सभी भारतीय तथा पाश्चात्य भाष्यकरों ने इसका अर्थ 'सहस्र धारों वाला' किया है। स्वा० द० ने 'असंख्या पीडा दाहा वा यस्मात् स' (ऋ० १।८०।१२) अर्थ भी किया है। सहस्र शब्द का अर्थ 'बलशाली, बलिष्ठ' भी हो सकता है (दे० नि० ३।१०—सहस्र सहस्वत्)। तदनुसार अर्थ होगा—'बलिष्ठ आयुधों या गति वाला'। यह ध्यान देने योग्य बात है कि भृष्टि शब्द स्वतन्त्र रूप से समस्त ऋग्वेद में केवल एक बार (१।५६।३ में) आया है। वहाँ इसका सम्बन्ध 'गिरे' से है। वेंकट माधव ने वहाँ इसका अर्थ 'सानु', और सायण ने 'शृङ्गम्' किया है। स्वामी दयानन्द ने गिरि को 'मेघ' मानते हुए भृष्टि का अर्थ 'वर्षा' (भ्रज्जन्ति परिपचन्ति यस्या वृष्टौ सा) किया है। एक स्थल (ऋ० १।५२।१५) पर यह मतुप् प्रत्यय से युक्त है—भृष्टिमता। इसका निर्वचन √भ्रस्ज् (भर्जने भूनना) से सम्भव है। तदनुसार अर्थ होगा 'भूनने, पकाने, सन्तप्त करने की क्रिया अथवा उपकरण'। √भ्राज् (दीप्तौ-चमकना) से भी इसका निर्वचन हो सकता है। तब अर्थ होगा 'दीप्ति', 'चमक'—सहस्रों दीप्तियों वाला या बलिष्ठ दीप्ति वाला। ऋग्वेद में √भृज् के प्रयोगभाव से भी इस (परवर्ती) निर्वचन की पुष्टि होती है। ग्रास० ने भर्ग. शब्द के प्रसङ्ग में √भृज् को √भ्राज के सम माना है (वो बु)।

भर्व—वें०, सा०-(महत्) अन्नम्, ग्रास०, गेल्ड०-यश अर०-(विस्तृत) ज्ञान—सत्य-चैतन्य। विस्तृत विवेचनार्थ दे० ऋ० १।११।५ में चित्रश्रवस्तमः।

---

१. दे. से. बु. ई. ख. ४६।
२. दे. हिम्स फ्रॉम द ऋग्वेद, पृ. १३८ (ऋ. ३।६१।१)।

अक्षसूक्तम्—ऋ. १०।३४

ऋषि—कवष ऐलूष, अक्षो मौजवान् वा, देवता—१, ७, ९, १२—अक्षा, १३—कृषि २-६, ८, १०, ११ १४—कितवनिन्दा अक्षनिन्दा वा। छन्दः—१-६, ८-१४ त्रिष्टुप, ७ जगती।

अक्षसूक्त कितवसूक्त के नाम से भी विख्यात है। यह ऋग्वेद के उन सूक्तों में से है जिन्हें प्रायः लौकिक (सेकुलर) सूक्तों की संज्ञा दी गई है। इनमें उस समय के सामान्य जनजीवन पर प्रभूत प्रकाश पड़ता है। प्रस्तुत सूक्त एक जुआरी का आत्म-प्रलाप है। इसमें बहुत काव्यात्मक रूप में जुए के प्रति जुआरी का अनायास आकर्षण, उसके द्वारा सम्पादित गृह विनाश परिवार और समाज द्वारा उसकी गर्हणा और अन्त में इस सबके फलस्वरूप स्वयं जुआरी के द्वारा हाथ से काम करके कमा कर खाने का उपदेश दिया गया है। सम्पूर्ण वर्णन अत्यन्त मार्मिक है और किसी भी उत्कृष्ट काव्य से प्रतिस्पर्धा कर सकता है। जुआरी की दशा का यह सजीव और यथार्थ चित्रण मन पर एक स्थायी प्रभाव छोड़ जाता है। कहीं महाभारत में युधिष्ठिर की और नल की द्यूतक्रीडा इस सूक्त की विस्तृत व्याख्या ही तो नहीं ?

ग्रोअर के मतानुसार यह सूक्त स्वगत-भाषण के रूप में एक रूपक है। कार्पेंटियर का विचार है कि इसकी रचना उपदेश के उद्देश्य से हुई। ओल्डन-बर्ग का कथन है कि यह उन उपहारों से सम्बद्ध सूक्त है जिनके द्वारा जुआरी अपने आप को द्यूतरूपी राक्षस के बन्धन से मुक्त करना चाहता है। विंतरनित्स का मत है कि यह स्वगत-भाषण उस चारण-गीत का अंग है जिसमें कोई युधिष्ठिर अथवा नल जैसी कथा वर्णित हो। किन्तु यह मनुष्य पर इन्द्रियों के आधिपत्य का लाक्षणिक वर्णन भी हो सकता है क्योंकि तान्त्रिक साहित्य में तो अक्ष को इन्द्रिय ही माना है। उदाहरणार्थ दे विज्ञानभैरव १४९—

> महाशून्यालये वह्नौ भूताक्षविषयादिकम्।
> हूयते मनसा सार्धं स होमश्चेतनास्रुचा॥

इसकी शिवोपाध्यायकृत विवृति इस प्रकार है—

शून्यातिशून्यपदस्य आ समन्तात् लयो यत्र परतत्त्वात्मनि वह्नौ तत्र भूते-न्द्रियविषयभुवनतत्त्वादिरूपं सकलं जगत् तद्विभागकल्पनाहेतुना सह चेतना विश्वानुसन्धात्री शक्तिरेव स्रुक् तया हूयते यत् स होमः अग्नौ हविर्दानमित्यर्थः।

अस्तु, अक्ष अथवा जुएके पासे किसी तीव्र पवन वाले प्रदेश में उगने वाले विभीदक वृक्ष के फल ही होते थे। इन अक्षो की सख्या त्रिपञ्चाश (तरपेन अथवा एक सौ पचास—३ × ५०) बताई गई है। इनमे से उठाकर कुछ अक्ष या पासे जुआरी द्वारा 'इरिण' नामक तख्ते पर फेंके जाते थे। फेंके गये पासो को चार से भाग देकर शेष अको के आधार पर उसे प्राप्त भाग गिना जाता था। एक, दो, तीन तथा शून्य शेष रहने पर जुआरी क्रमश कलि, द्वापर, त्रेता और कृत को प्राप्त करने वाला होता था। इन चारो मे कलि सबसे निकृष्ट और कृत सबसे उत्कृष्ट माना जाता था। पासो को फेंकने की क्रिया को 'ग्रह' या 'ग्राम' कहा जाता था। द्यूतक्रीडा के लिये स्वतन्त्र सभागृह होते थे जहाँ आने वाले जुआरियो के व्यवहार की सावधानी से निगरानी करके द्यूत के निर्धारित नियमों के पालन के लिय अधिकारियों की नियुक्ति तत्कालीन राजा द्वारा ही होती थी।

प्रावेपा मा बृहतो मादयन्ति प्रवातेजा इरिणे वर्वृतानाः।
सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो विभीदको जागृविर्मह्यमच्छान् ॥१॥

प्रावेपा । मा । बृहत । मादयन्ति । प्रवातेऽजा । इरिणे । वर्वृताना । सोमस्यऽइव । मौजऽवतस्य । भक्ष । विऽभीदक । जागृवि । मह्यम् । अच्छान ॥

कम्पनशील (वे फल) मुझको महा (वृक्ष) के हर्षित करते
भझावातों में उत्पन्न द्यूतपटल पर लोट रहे (वे)।
सोम का मानो मूजवान् पर्वत वाले का भक्षण (हो)
विभीदक जागरूक ने मुझे किया आनन्दित (वैसे ही)॥

पासे चञ्चल हैं क्रियाशील हैं, स्थिर नहीं रहते। वे मानो जागते रहते हैं (चाहे भाग्य सोता हो)। वे जुआरी को उसी प्रकार आकृष्ट और आनन्दित करते हैं जैसे किसी को भी प्रेरणाप्रद सोमपान।

सा —बृहतो महतो विभीतकस्य फलत्वेन सम्बन्धिन प्रवातेजा प्रवणे देशे जाता इरिणे आस्फारे वर्वृताना प्रवर्तमाना प्रावेपा प्रवेपिण कम्पनशीला अक्षा मा मा मादयन्ति हर्षयन्ति। किञ्च जागृवि जयपराजययोर्हर्षशोकाभ्या कितवाना जागरणस्य कर्ता विभीदक विभीतकविकारोऽक्षो मह्य माम् अच्छान् अचच्छदत् अत्यर्थं मादयति। तत्र दृष्टान्त। सोमस्येव यथा सोमस्य मौजवतस्य। मुजवति पर्वते जातो मौजवत। तस्य। तत्र ह्युत्तम सोमो जायते। भक्ष पान यजमानान् देवाश्च मादयति तद्वदिरयं। तथा च यास्क —प्रवेपिण मा महतो विभीतकस्य फलानि मादयन्ति। प्रवातेजा प्रवणेजा इरिणे

वर्तमाना इरिणे निर्ऋणम् ऋणातेरपार्णं भवत्यपरता अस्मादोषधय इति वा । सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो मौजवतो मुजवति जातो मुजवान् पर्वतो मुञ्जवान् मुञ्जो विमुच्यत इषीकयेषीका इषतेर्गतिकर्मण इयमपीतरा इषीका एतस्मादेव विभीतको विभेदनाज्जागृविर्जागरणात्, मह्यमचच्छदत् (नि ९।८) इति ॥

अच्छान्— √छन्द (आनन्दित करना) णिच् लुङ (अनिट्) प्र पु एक —अ छन्द् स त्—अच्छान्द् स् त्—अच्छान् ।

न मा मिमेथ न जिहीळ एषा शिवा सखिभ्य उत मह्यमासीत् ।
अक्षस्याहमेकपरस्य हेतोरनुव्रतामप जायामरोधम् ॥२॥

न । मा । मिमेथ । न । जिहीळे । एषा । शिवा । सखिऽभ्यः । उत । मह्यम् । आसीत् । अक्षस्य । अहम् । एकऽपरस्य । हेतोः । अनुऽव्रताम् । अप । जायाम् । अरोधम् ॥

न मुझको पकड़ा न ही अनादृत किया इसने (मित्रों मे)
कल्याणकरी मित्रों के प्रति अरु मेरे प्रति भी रही (सदा)
(परन्तु) पाँसे के मैंने एक परायण के निमित्त (ही)
अनुव्रता को पृथक पत्नी को रोक दिया (निष्ठुर होकर) ॥

हारा हुआ दुःखी जुआरी पश्चात्ताप कर रहा है। उसकी पत्नी कितनी स्नेहार्द्र और सहनशील थी। परन्तु वह उस पाँसे के जाल में फसा रहा जो केवल एक (जीतने वाले) के प्रति आसक्त रहता है। यदि वह निर्दय होकर अपनी पत्नी को नहीं ठुकराता तो आज उसकी यह दुर्दशा न होती।

सा एषास्मदीया जाया मा मां कितवं न मिमेथ न च चुक्रोध, न जिहीळे न च लज्जितवती। सखिभ्योऽस्मदीयेभ्यः कितवेभ्यः शिवा सुखकरी आसीत् अभूत्। उत अपि च मह्यं शिवासीद् इत्यमनुव्रतामनुकूलां जायामेकपरस्य एकः परः प्रधानं यस्य तस्य अक्षस्य हेतोः कारणादहमप अरोधं परित्यक्तवान-स्मीत्यर्थः।

मिमेथ—यास्क मेथतिराक्रोशकर्मा, तुलनात्मक भाषाविज्ञान के निष्कर्षों के आधार पर √मिथ् का अर्थ 'परिवर्तन, विनिमय और साहचर्य प्राप्त करना' है। अवेस्ता मे संस्कृत के समान ही 'मिथो' (मिथ्या) का अर्थ मिथ्या' है। इसी प्रकार संस्कृत 'मिथुन' के समान अवेस्ता 'मिथ्वन' का अर्थ मिथुनरूप मे संयुक्त' है। लातीनी मे परिवर्तन अर्थ वाली धातु मूतरे' है। पाणिनीय धातुपाठ मे √मिथ् मेधाहिंसनयोः है। मिथुन शब्द मे जोड़ा, जोड़ना, पकड़ना का भाव है।

जिहीळे—√हेड् अनादरे—अनादृत किया, निघण्टु मे यह क्रोध अर्थ

वाली धातुओं में पठित है।

एकपरस्य—एक: परो यस्य स: (बहु), उत्तरपद में उदात्त बहुव्रीहि के स्वर के अनुकूल नहीं है। यदि एकेन पर: तृतीया तत्पुरुष माना जाये तो भी 'तत्पुरुषे तुल्यार्थ ..' इत्यादि सूत्र के द्वारा पूर्वपद म प्रकृतिस्वर होना चाहिये। —एक से बढने वाले पाँसे के लिये। यहाँ सम्भवतया गिरे हुए पाँसो को चार से विभाजित करके एक बचने वाले कलि के प्रति संकेत है।

अपारोधम्—मैंने छोड दिया। सम्भवतया यह पत्नी को दाव पर लगाने का संकेत है। अप √रुध विकरण लुक लुङ्, उ पु एक.।

द्वेष्टि॑ श्व॒श्रूरप॑ जा॒या रु॑णद्धि॒ न ना॑थि॒तो वि॑न्दते मर्डि॒तार॑म्।
अश्व॑स्येव॒ जर॑तो॒ वस्न्य॑स्य॒ नाहं वि॑न्दामि कित॒वस्य॒ भोग॑म् ॥३॥

द्वेष्टि। श्वश्रूः। अप। जाया। रुणद्धि। न। नाथितः। विन्दते। मर्डितारम्। अश्वस्यऽइव। जरतः। वस्न्यस्य। न। अहम्। विन्दामि। कितवस्य। भोगम् ॥

घृणा करती है श्वश्रू दूर से पत्नी रोक रही है,
नहीं भिखारी बना (जुआरी) पाता है कोई दयालु।
घोड़े के सम वृद्ध हो रहे बिकने वाले के (समान)
नहीं मैं पाता हूँ (देख) कितव का भोग (सुखद औरों को)॥

हारा हुआ जुआरी भिखारी बन जाता है। वह ऐसा भिखारी है जिससे किसी की सहानुभूति नहीं होती। जामाता का सत्कार करने वाली सास भी उससे घृणा करती है और पत्नी भी (जो स्वयं धन की कठिनाई में पितृगृह में आकर रह रही है) उसे घर में आने से रोकती है। वह उस बूढे घोड़े के समान है जो बिकाऊ है, पर जिसका कोई मूल्य देने को तैयार नहीं। इस प्रकार जुआरी का कोई भोग दिखाई नहीं देता जिससे औरों को सुख हो।

सा —श्वश्रू जायाया माता गृहगतं कितवं द्वेष्टि निन्दतीत्यर्थः। किंच जाया भार्यापि अप रुणद्धि निरुणद्धि। अपि च नाथितः याचमानः कितवो धनं मर्डितारं धनदानेन सुखयितारं न विन्दते न लभते। इत्थं वृद्धया विमृशन्नह जरतः वृद्धस्य वस्न्यस्य। वस्नं मूल्यम्। तदर्हस्याश्वस्येव कितवस्य भोगं न विन्दामि न लभे।

मर्डितारम्—तु अवेस्ता मर्ड्दिक—करुणा।

जरत —तु यूनानी—गेराउन (बूढ़ा), आधुनिक फ़ारसी—ज़र (बूढ़ा या बूढ़ी)।

वस्न्यस्य—तु यूनानी—ओनोस (क्रयमूल्य), लातीनी—वेनुम् (मूल्य)।

अन्ये जायां परि मृशन्त्यस्य यस्यागृधद्वेदने वाज्य१क्षः ।
पिता माता भ्रातर एनमाहुर्न जानीमो नयता बद्धमेतम् ॥४॥

अन्ये । जायाम् । परि । मृशन्ति । अस्य । यस्य । अगृधत् । वेदने । वाजी । अक्षः । पिता । माता । भ्रातरः । एनम् । आहुः । न । जानीमः । नयत । बद्धम् । एतम् ॥

दूसरे (जुआरी) पत्नी को संस्पर्श कर रहे इसकी
जिसके लोभी था धन के प्रति अति महाबली यह पाँसा ।
पिता (भी) माता (और) सहोदर (सब) इसके प्रति कहते,
नहीं जानते हम (इसको), ले जाओ (करके) बद्ध इसे ॥

जिस जुआरी के धन के प्रति यह पाँसा अत्यन्त लोभी था अर्थात् इसने जिसे धन लेकर हराया, उसकी पत्नी निराश्रित हो गई है। सम्भवतया अन्य जुआरी हारे हुए जुआरी से दाँव में हारे धन को प्राप्त करने के लिये उसकी पत्नी को परामृष्ट करते हैं। जब वे जुआरी अथवा राजपुरुष उसे पकड़ने आते हैं तो माता, पिता और भाई भी उसे अपना नहीं मानते।

सा०—यस्य कितवस्य वेदने धने वाजी बलवान् अक्षः देव अगृधत् अभिकाङ्क्षां करोति तस्यास्य कितवस्य जायां भार्यामन्ये प्रतिकितवाः परि मृशन्ति वस्त्रकेशाद्याकर्षणेन संस्पृशन्ति। किंच पिता जननी च भ्रातरः सहोदराश्च एनं कितवमाहुर्वदन्ति। न वयमस्मदीयमेनं जानीमः। रज्ज्वा बद्धमेतं कितवं हे कितवाः यूयं नयत यथेष्टदेशं प्रापयतेति ॥

वाज्य१क्षः—छन्द की दृष्टि से इसका सन्धिविच्छेद करके 'वाजी अक्षः' उच्चारण करना चाहिये।

नयत—संहिता में इसका दीर्घान्त ध्यान देने योग्य है (पा. ६।३।१३३—ऋचि तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम्)। वाक्य के आदि में होने के कारण यह तिङन्त पद सोदात्त है।

यदादीध्ये न दविषाण्येभिः परायद्भ्योऽव हीये सखिभ्यः ।
न्युप्ताश्च बभ्रवो वाचमक्रतँ एमीदेषां निष्कृतं जारिणीव ॥५॥

यत् । आऽदीध्ये । न । दविषाणि । एभिः । पराऽयत्ऽभ्यः । अव । हीये । सखिऽभ्यः । निऽउप्ताः । च । बभ्रवः । वाचम् । अक्रत । एमि । इत् । एषाम् । निःऽकृतम् । जारिणीऽइव ॥

जब मैं सोचा करता हूँ कि नहीं खेलूँ इन पाँसों से,
और लौटने वालों से होता विरक्त मित्रों से ।
(पर जब) डाले गए (इरिण पर) बभ्रु शब्द करते (पासे)
जाता ही हूँ इनके स्थल पर (कहीं) जारिणी जैसे ॥

जुआरी को जुआ खेलने का ऐसा व्यसन हो गया है कि वह अब उससे विमुख होने में विवशता का अनुभव करता है। वह बार बार जुआ छोड़ने का निश्चय करता है। जुआरी मित्र उसे हरा कर उसके घर तक छोड़ने आते हैं और फिर द्यूतस्थल को जाते हैं, तब वह सोचता है कि मैं इनके साथ न जाऊं और यहीं द्यूत-विरक्त हो जाऊं। परन्तु द्यूत-पटल पर पाँसों के पड़ने का शब्द मानो उसे विचलित कर देता है और फिर वह आये बिना नहीं रहता। यहाँ बहुत सुन्दर उपमा से यह भाव स्पष्ट किया गया है। उसका विवशतापूर्वक जाना एक स्वैरिणी अवैध प्रेमिका के अपने जार के पास निश्चित स्थल पर जाने जैसा है। इस मन्त्र में व्यसनी की मन स्थिति का वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

सा.—यद् यदाहमादीध्ये ध्यायामि तदानीमेभिरक्षैर्न दविषाणि न दूयये न परितपामि। यद्वा न दविषाणि न देविष्यामीत्यर्थः। परायद्भ्यः स्वयमेव परागच्छद्भ्यः सखिभ्यः सखिभूतेभ्यः कितवेभ्यः अवहीये अवहितो भवामि। नाहं प्रथममक्षान् विसृजामीति। किंच बभ्रव बभ्रुवर्णा अक्षा न्युप्ताः कितवैरवक्षिप्ताः सन्तः वाचमक्रत शब्दं कुर्वन्ति। तदा संकल्पं परित्यज्य अक्षव्यसनेनाभिभूयमानोऽहमेतेषामक्षाणां निष्कृतं स्थानं जारिणीव यथा कामव्यसनेनाभिभूयमाना स्वैरिणी संकेतस्थानं याति तद्वत् एमीत् गच्छाम्येव॥

अवहीये—मैं छोड़ दिया जाता हूँ (अं. आइ एम लैफ्ट बिहाइंड)। अव √हा (त्यागे) कर्म. उ. पु. एक.।

अक्रत—ईषा अक्षादित्वात् प्रकृतिभावः। अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः (पा. ८।४।५७) इति वैकल्पिकमवसाने विधीयमानमनुनासिकत्वं व्यत्ययेनात्र संहितायामपि सत्यपि अप्रगृह्यत्वे द्रष्टव्यम्। √कृ विकरण लुक्-लुङ्, प्र. पु. बहु।

सभामेति कितवः पृच्छमानो जेष्यामीति तन्वा शूशुजानः।
अक्षासो अस्य वि तिरन्ति कामं प्रतिदीव्ने दधत आ कृतानि ॥६॥

सभाम्। एति। कितवः। पृच्छमानः। जेष्यामि। इति। तन्वा। शूशुजानः। अक्षासः। अस्य। वि। तिरन्ति। कामम्। प्रतिऽदीव्ने। दधतः। आ। कृतानि॥

(द्यूत-) सभा को जाता है (वह) कितव (स्वयं से) पूछ रहा-
'मैं जीतूंगा क्या?' शरीर से चमक रहा (विश्वास सहित)
पाँसे इसको प्रदान करते हैं इच्छा (फिर क्रीड़ा की)
प्रतिपक्षी के प्रति करते को उचित कार्य (चालों के)॥

किन्तु जब जुआरी पुनः जुए के लिये द्यूतगृह में जाता है तो उसे सन्देह

होता है कि मैं जीतूँगा भी या नहीं ? विश्वास का तेज फिर भी उसके मुख से प्रकट होता है। और वस्तुत जाल में फँसाने वाले तो पासे ही हैं। जैसे जैसे वह अपनी ओर से प्रतिपक्षी जुआरी के लिये नई उचित चालें चलता है, उसकी आशा बढ़ती है, मानो पासे उसमें और अधिक खेलने की इच्छा उत्पन्न कर रहे हों।

सा—तन्वा शरीरेण शूशुजानः शोशुचानो दीप्यमानः कितवः कोऽत्रास्ति धनिकस्तं जेष्यामीति पृच्छमानः सभा कितवसम्बन्धिनीमिति गच्छति। तत्र प्रतिदीव्ने प्रतिदेवित्रे कितवाय कृतानि देवनोपयुक्तानि कर्माणि मा दधत. जयार्थंमाभिमुख्येन मर्यादया वा दधत अस्य कितवस्य कामम्, इच्छाम् अक्षास अक्षा वि तिरन्ति वर्धयन्ति ॥

तन्वा—आद्य स्वरित, 'उदात्तस्वरितयोर्यण स्वरितोऽनुदात्तस्य' (पा ८।२।४) के अनुसार उदात्त अथवा स्वरित के स्थान पर जो यण होता है उससे परे वाले अनुदात्त का स्वरित होगा। तदनुसार इसका उच्चारण तनुआं करना चाहिये। उससे स्वरित तो नियमित (उदात्तानुगामी) होगा ही, साथ ही छन्द में भी एक अक्षर की न्यूनता दूर हो जायेगी।

शूशुजान—पै-शरीर से काँपता हुआ (ट्रेम्बलिंग विद् हिज बॉडी)। वेल.—(गर्व से वक्ष स्थल) चौड़ा करके, शरीर से बढ़ते हुए—लक्षणा के सहारे अर्थ होगा—गर्व से फूलकर। √श्वज ('फूलना', मोटा होना')[1] से लिट कानच्। कतिपय विद्वान् यहाँ आद्युदात्त के कारण इसे यङ्लुगन्त का शानजन्त रूप मानते हैं क्योंकि कानच् में प्राय. अन्तोदात्त होता है।[2]

प्रतिदीव्ने—प्रति√दिव् "कनिन् युवृषितक्षिरजिधन्विद्युप्रतिदिवः" इत्युणादिसूत्रेण कनिन्। चतुर्थ्येकवचने 'अल्लोपोऽनः' इति अल्लोपे 'हलि च' इति दीर्घे रूपम्।

कृतानि—कृतयुगसम्बन्धीनि, वेल.—'कृत' संज्ञा का (सर्वश्रेष्ठ) दाम समर्पित करके (वितिरन्ति कामम्) उसकी अभिलाषा को मिट्टी में मिला देते हैं।

अक्षास इदङ्कुशिनो नितोदिनो निकृत्वानुस्तपनास्तापयिष्णवः।
कुमारदेष्णा जयतः पुनर्हणो मध्वा संपृक्ताः कितुवस्य बर्हणा ॥७॥

अक्षासः। इत्। अङ्कुशिनः। निऽतोदिनः। निऽकृत्वानः। तपनाः। तापयिष्णवः। कुमारऽदेष्णाः। जयतः। पुनःऽहनः। मध्वा। सम्ऽपृक्ताः। कितवस्य। बर्हणा ॥

---

१. ऋक्सूक्तवैजयन्ती, पृ १६०।
२. वै. व्या भा. २, पृ ७६०-१।

पाँसे ही अंकुशयुक्त (वही मर्म-) भेद करने वाले,
वे कृन्तक हैं, तपने वाले और तपाने वाले (भी) ।
पुत्रधन देने वाले, विजयी को, फिर फिर आहत करते,
माधुर्य से युक्त, जुआरी को परिवृढ शक्ति (हैं ये तो) ॥

पाँसों की शक्ति बहुत बड़ी है । ये उस अंकुश से युक्त महावत के समान हैं जो हाथी जैसे विशालकाय प्राणी को अपनी इच्छानुसार कहीं भी ले जा सकता है । ये पाँसे भी जिता कर धन के द्वारा पुत्रलाभ-तुल्य आनन्द भी प्रदान करते हैं और हराकर मर्मभेद भी करते हैं—सन्तप्त भी करते हैं ।

सा.-अक्षास इत् अक्षा एव अङ्कुशिनः अङ्कुशवन्तः नितोदिनो नितोदितवन्तश्च निकृत्वानः पराजये निकर्तनशीलाश्छेत्तारो वा तपनाः पराजये कितवस्य सन्तापकाः तापयिष्णवः सर्वस्वहारकत्वेन कुटुम्बस्य सन्तापनशीलाश्च भवन्ति । किं च जयतः कितवस्य कुमारदेष्णाः धनदानेन धान्यतां लम्भयन्तः कुमाराणां दातारो भवन्ति । अपि च मध्वा मधुना सम्पृक्ताः प्रतिकितवेन बर्हणा परिवृढेन सर्वस्वहरणेन कितवस्य पुनर्हणः पुनर्हन्तारो[1] भवन्ति ।

अ॒ङ्कु॒शिनः—पाँसे काँटे के समान टेढ़े मुड़े हुए होते हैं । नि. (५।२८)—अङ्कुशोऽञ्चतेः (√अञ्च् गतौ—क्योंकि यह शरीर में चला जाता है) आकुचितो भवतीति वा (क्योंकि यह मुड़ा हुआ होता है) । इससे तु. यूनानी ओग्कोस, लातीनी—उङ्कुस, अवेस्ता—अकु ।

कु॒मा॒रदे॑ष्णाः—पूर्वपद पर उदात्त होने के कारण बहुव्रीहि—कुमाराणाम् इव देष्णं दानं येषां ते । वेल.—वे (पाँसे) जिनके उपहार कुमारों याने बच्चों की तरह अनिश्चित हैं । उसी प्रकार पाँसे जिता कर हरा भी देते हैं । सायण की व्याख्या का भाव भी सुन्दर है, परन्तु उसमें समासस्वर-सम्बन्धी व्यत्यय मानना पड़ेगा ।

ब॒र्हणा—सायण ने यहाँ 'सुपां सुलुक्' इत्यादि सूत्र से तृतीया विभक्ति का आ माना है । वेल.—शक्ति, √बृह् (बढ़ना, बड़ा होना, मोटा होना) ।

त्रि॒प॒ञ्चा॒शः क्री॑ळति॒ व्रात॑ एषां दे॒व इ॑व सवि॒ता स॒त्यध॑र्मा ।
उ॒ग्रस्य॑ चिन्म॒न्यवे॒ ना न॑मन्ते॒ राजा॑ चिदेभ्यो॒ नम॒ इत्कृ॑णोति ॥८॥

त्रि॒ऽप॒ञ्चा॒शः । क्री॒ळ॒ति॒ । व्रात॑: । ए॒षा॒म् । दे॒वःऽइ॑व । स॒वि॒ता । स॒त्यऽध॑र्मा । उ॒ग्रस्य॑ । चि॒त् । म॒न्यवे॑ । न । न॒म॒न्ते॒ । राजा॑ । चि॒त् । ए॒भ्यः॒ । नम॑: । इत् । कृ॒णो॒ति॒ ॥

1. द्र. नियतिविधाय पुरो प्रथमं सुखमुपरि दारुणं दुःखम् । इत्वासौख्य तरसा वधिरिव मत्तं निपातयति ॥ हर्षचरितम् ६।१।

तीन पचास का खेला करता है दल इनका (उत्तेजक)
देव यथा (हो) सूर्य सत्य धर्म से युक्त (महाबलशाली)।
भीषण के भी क्रोध निमित्त नहीं झुकते हैं (गौरवशाली)
राजा भी इनको नमस्कार ही करता है (क्रीडा में) ॥

जिस प्रकार सूर्य अपने निश्चित मार्ग से विचलित नहीं होता उसी प्रकार इन प्रतापी पाँसों का समूह भी स्वाभीष्ट मार्ग का ही अनुसरण करता है। कोई यह चाहे कि मैं अपने भय से इन्हें झुकाकर अपने पक्ष में कर लूं, तो यह असम्भव है। ये किसी से नहीं झुकते, अपितु तथ्य तो यह है कि जुआ खेलने के समय राजा भी इनका ही प्रभुत्व स्वीकार करके इन्हें प्रणाम करता है।

सा—एषामक्षाणां त्रिपञ्चाशः त्र्यधिकपञ्चाशत्संख्याको व्रातः संघः क्रीळति आस्फारे विहरति। प्रक्षिका प्रायेण तावद्भिरक्षैर्दीव्यन्ति हि। तत्र दृष्टान्तः। सत्यधर्मा सविता सर्वस्य जगतः प्रेरकः सूर्यो देव इव। यथा सविता देवो जगति विहरति तद्वदक्षाणां संघ आस्फारे विहरतीत्यर्थः। किञ्च उग्रस्य चित् क्रूरस्यापि मन्यवे क्रोधाय एते अक्षा न नमन्ते प्रह्वीभवन्ति। न वशे वर्तन्ते न नमयन्तीत्यर्थः। राजा चित् जगत ईश्वरोऽपि एभ्यो नम इत् नमस्कारमेव देवनवेलायां कृणोति। नावज्ञां करोतीत्यर्थः ॥

त्रिपञ्चाशः—अन्तोदात्त स्वर की दृष्टि से बहुव्रीहि, 'बहुव्रीहौ संख्येये डज् बहुगणात्' इति डच् समासान्त, चित्वादन्तोदात्तत्वम्—त्रिरावृत्ता पञ्चाशतो यस्मिन्—एक सौ पचास।

न—समस्त ऋग्वेद में केवल इसी स्थल पर 'न' का संहिता में दीर्घत्व प्राप्त होता है।

नीचा वर्तन्त उपरि स्फुरन्त्यहस्तासो हस्तवन्तं सहन्ते।
दिव्या अङ्गारा इरिणे न्युप्ताः शीताः सन्तो हृदयं निर्दहन्ति ॥९॥

नीचा। वर्तन्ते। उपरि। स्फुरन्ति। अहस्तासः। हस्तऽवन्तम्। सहन्ते। दिव्याः। अङ्गाराः। इरिणे। निऽउप्ताः। शीताः। सन्तः। हृदयम्। निः। दहन्ति ॥

नीचे (भी) रहते हैं ऊपर प्रकटित होते हैं (क्रम से)
हाथरहित ये हस्तवान् को पराभूत करते हैं (सत्वर)।
दिव्य अंगार भूमि पर डाले हुए (अतीव मायावी)
शीतल (भी) होते [illegible] हृदय को निःशेष जला देते हैं ॥

इस मन्त्र में बहुत ही काव्यात्मक आलङ्कारिक ढंग से पाँसों का महत्त्व और उनकी अतुलित शक्ति बताई गई है। विद्वानों द्वारा इसमें एक साथ

विरोधाभास, रूपक, अप्रस्तुतप्रशंसा और विभावना अलङ्कार माने गये हैं ।[1] 'अहस्तासो हस्तवन्तं सहन्ते' की तुलना में सपदि श्वेताश्वतरोपनिषद् (३।१९) का यह मन्त्रांश ध्यान में आता है—अपाणिपादो जवनो ग्रहीता ।

सा—अपि चैतेऽक्षा नीचा नीचीनस्थले वर्तन्ते । तथाप्युपरि पराजयात् भीतानां द्यूतकराणां कितवानां हृदयस्योपरि स्फुरन्ति अहस्तासो हस्तरहिता अप्यमी हस्तवन्तं द्यूतकरं कितवं सहन्ते पराजयकरणेनाभिभवन्ति । दिव्या दिवि भवा अपकृता अङ्गारा अङ्गारसदृशा अक्षा इरिणे इन्धनरहिते आस्फारे न्युप्ताः शीताः शीतस्पर्शाः सन्तः अपि हृदयं कितवानामन्तःकरणं निर्दहन्ति पराजयजनितसन्तापेन भस्मीकुर्वन्ति ॥

नीचा—क्रियाविशेषण अव्यय, न्यञ्च (नि+अञ्च) तृतीया एक ।

उपरि—तु अवे—उपॅरि यूनानी—हु-उपॅर, लातीनी—सु-उपॅर, पुरानी उच्च जमन—उबिर जर्मन उबॅर, अंग्रेजी—ओवर ।

हस्तवन्तम्—तु अवे—जस्तवन्तम् ।

सहन्ते—वेद में इसका अर्थ 'पराभूत करना' ही है—षह मर्षणेऽभिभवे छन्दसि

जाया तप्यते कितवस्य हीना माता पुत्रस्य चरतः क्व स्वित् ।
ऋणावा बिभ्यद्धनमिच्छमानोऽन्येषामस्तमुप नक्तमेति ॥१०॥

जाया । तप्यते । कितवस्य । हीना । माता । पुत्रस्य । । चरतः । क्व । स्वित् । ऋणऽवा । बिभ्यत् । धनम् । इच्छमानः । अन्येषाम् । अस्तम् । उप । नक्तम् । एति ॥

पत्नी सन्तप्त हो रही जुआरी की विहीन हो (उससे),
माता (भी) पुत्र की घूमने वाले की कहीं कहीं पर ।
वह ऋणी हुआ भयभीत (कहीं) धन की अभिलाषा करता
औरों के घर में रात समय जाता है (याचक होकर) ॥

हारा हुआ जुआरी घर आकर क्या मुंह दिखाये इसीलिये वह इधर उधर घूमता रहता है । उसकी पत्नी और माता—दोनों उसके वियोग में सन्तप्त रहती हैं । वह ऋण लेता रहता है, पर उसे उतार नहीं पाता । दिन भर जुआ खेलता है और रात को फिर ऋण मांगने के लिये दूसरे लोगों के घर के चक्कर काटता रहता है । क्योंकि वे लोग तो रात को ही मिलेंगे—दिन में वे अपने अपने कार्य में व्यस्त रहते हैं ।

---

1 विस्तृत विवेचनार्थ दे दिल्ली वि वि. द्वारा स्वीकृत डॉ॰ प्रह्लाद कुमार का

सा —अन्यस्मिन् क्वापि चरतो निर्वेदादगच्छतः कितवस्य जाया भार्या हीना परित्यक्ता सती तप्यते वियोगजनितसन्तापेन सन्तप्ता भवति। माता जननी अपि पुत्रस्य क्वापि चरतः कितवस्य सम्बन्धाद्धीना तप्यते। पुत्रशोकेन सन्तप्ता भवति। ऋणावा अक्षपराजयादृणवान् कितवः भवतो बिभ्यदुत्तमर्णेभ्यो स्तेयजनितमिच्छमानः कामयमानोऽन्येषां ब्राह्मणादीनामस्तं गृहम्। अस्तं पस्त्यम्' इति गृहनामसु पाठात। नक्तं रात्रावुप एति चौर्यायमुपगच्छति॥

स्वर—इसका उच्चारण युक्त करने से नियमित स्वर प्राप्त होता है और छन्द में एक अक्षर की न्यूनता दूर हो जाती है।

ऋणावा— छन्दसीवनिपौ च वक्तव्यौ"[1] से वनिप्। अन्येषामपि दृश्यते (पा० ६।३।१३७) इति संहितायां दीर्घत्वम्।

नक्तमुप एति—वेल —रात के अन्धेरे में धन चुराने के लिये अथवा अपने पास जो कुछ हो उसे गिरवी रखकर धन लाने के लिये (दूसरों के घर) चला जाता है।[2]

स्त्रियं दृष्ट्वाय कितवं ततापान्येषां जायां सुकृतं च योनिम्।
पूर्वाह्णे अश्वान्युयुजे हि बभ्रून्त्सो अग्नेरन्ते वृषलः पपाद ॥११॥

स्त्रियम्। दृष्ट्वाय। कितवम्। तताप। अन्येषाम्। जायाम्। सुकृतम्। च। योनिम्।
पूर्वाह्णे। अश्वान्। युयुजे। हि। बभ्रून्। सः। अग्नेः। अन्ते। वृषलः। पपाद॥

नारी को देख जुआरी को सन्तप्त किया (उसकी स्थिति ने)
　　अन्यों की पत्नी को और सुसंस्कृत घर को (भी उनके)।
प्रातः (अक्षरूप) घोड़ों को जोता है उसने भूरों को
　　वही अग्नि के निकट (रात्रि में) नीच पड़ा है गिरा हुआ॥

हारे हुए जुआरी की जो यह दशा हुई है कि उसकी पत्नी दूसरों की पत्नी बन कर उनके घर में रह रही है और उनके घर सुन्दर सुशोभित सुख पूर्ण हैं उस स्थिति ने उसे अत्यधिक सन्तप्त किया है। फिर भी वह जीतने की आशा में प्रातः से पासों रूपी घोड़ों को द्यूतपटल रूपी मैदान पर दौड़ाता है। किन्तु निराशा उसके हाथ लगती है और रात को फिर वह घर आने का साहस न करके नीचे भूमि पर शीत से बचने के लिये कहीं लोगों द्वारा जलाई गई आग के निकट पड़ा रहता है।

सा —कितव कितवं। विभक्तिव्यत्ययः। अन्येषां स्वव्यतिरिक्तानां पुरुषाणां

1 दे० पा० ३।२।१०९ पर वार्तिक।
2 ऋक्सूक्तवैजयन्ती, पृ० १८२।

जाया जायाभूता स्त्रियं नारीं सुखेन वर्तमानां सुकृतं सुष्ठु कृतं योनिं गृहं च दृष्ट्वाय मज्जाया दुःखिता गृहं चासत्कृतमिति ज्ञात्वा तताप तप्यते । पुनः पूर्वाह्णे प्रातःकाले बभ्रून् बभ्रुवर्णान् अश्वान् व्यापकानक्षान् युयुजे युनक्ति । पुनश्च वृषलः वृषलकर्मा सः कितवो रात्रौ अग्नेरन्ते समीपे पपाद शीतार्तः सन् शेते ॥

कितवम्—सायण के अनुसार विभक्तिव्यत्यय मानने की आवश्यकता नहीं क्योंकि यह तताप का कर्म है । √तप् ऋग्वेद में सकर्मक धातु है ।

युयुजे—वाक्य के मध्य में होते हुए भी यह तिङन्त पद 'हि' के कारण सोदात्त है ।

यो वः सेनानीर्महतो गुणस्य राजा व्रातस्य प्रथमो बभूव ।
तस्मै कृणोमि न धना रुणध्मि दशाहं प्राचीस्तदृतं वदामि ॥१२॥

यः । वः । सेनानीः । महतः । गणस्य । राजा । व्रातस्य । प्रथमः । बभूव । तस्मै । कृणोमि । न । धना । रुणध्मि । दश । अहम् । प्राचीः । तत् । ऋतम् । वदामि ॥

जो तुम्हारे सेनापति इस विशाल समूह का (पासो !)
राजा इस महासंघ का प्रमुख हुआ है (प्रति वसिष्ठ को)।
उसको करता हूँ (नमस्कार) नहीं धन को हूँ रोक रहा
दस (अंगुलियों) को मैं पीछे (करता) यह सत्य कहता हूँ ॥

यह एक निराश जुआरी की उक्ति है । अब वह पासों रूपी देवों के प्रमुख के सम्मुख अपनी स्थिति स्पष्ट करता है । उसी को वह नमस्कार करता है । यह बताता है कि मैंने कभी धन को रोका नहीं जिससे पासे रुष्ट न हो जायें, और अब मैं सत्य कहता हूँ कि प्रतिज्ञापूर्वक इन दस अंगुलियों अर्थात् दोनों हाथों को जुए से हटा रहा हूँ । पूर्वोक्त मन्त्रों में वर्णित महती कष्टानुभूति के पश्चात् जुआरी यह दृढ़ प्रतिज्ञा करता है ।

सा.—हे अक्षाः ! वः युष्माकं महतो गणस्य संघस्य य अक्षः सेनानी नेता बभूव भवति व्रातस्य च । गणव्रातयोरल्पो भेदः । राजा ईश्वरः प्रथमो मुख्यो बभूव तस्मै अक्षाय कृणोमि अहमञ्जलिं करोमि । अतः परं धना धनानि अक्षार्थमहं न रुणध्मि न सम्पादयामीत्यर्थः । एतदेव दर्शयति । अहं दशसंख्याकाः अङ्गुलीः प्राचीः प्राङ्मुखीः करोमि । तद् एतदहमृतं सत्यमेव वदामि, नानृतं वदामीत्यर्थः ॥

प्राचीः कृणोमि—वेल.—फैलाकर दिखाता हूँ, दसों अंगुलियाँ आगे बढ़ाकर दिखाता हूँ, याने कुछ भी छिपाकर नहीं रखता ।[1]

1. ऋक्सूक्तवैजयन्ती, पृ. १४२-३ ।

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः ।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः ॥१३॥

अक्षैः । मा । दीव्यः । कृषिम् । इत् । कृषस्व । वित्ते । रमस्व । बहु । मन्यमानः । तत्र ।
गावः । कितव । तत्र । जाया । तत् । मे । [illegible] । चष्टे । सविता । अयम् । अर्यः ॥

पासों से मत खेलो (कदापि) खेती ही बस करो (सदा)[1]
(कृषि के) धन में रमण करो (उसे ही) बहुत मानते हुए ।
वहीं पर गायें अरे जुआरी ! वहीं (तुम्हारी पत्नी)
यह मुझे विविध रूप में कहा सविता ने इस गतिमय ने ॥

कटु अनुभव प्राप्त करके शिक्षा ग्रहण करने वाले जुआरी का यह आत्म-निवेदन है । अब वह जान गया है कि अपने हाथ से काम करके आजीविका प्राप्त करने से अच्छा और कुछ भी नहीं है । यह शिक्षा उसने अपने आस पास महाश्रमियों का निरीक्षण करके प्राप्त की है । सविता अर्थात् सूर्य सदा गतिशील रहता है (पश्य सूर्यस्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन्) । इसी कारण यहाँ सविता का अर्य (√ऋ गतौ से निष्पन्न) विशेषण साभिप्राय है । अन्यथा अर्य का अर्थ स्वामी है किन्तु उसमें भी सम्भवतया मूलभावना यही है कि जो कार्य-निरत रहता है, वही सबका स्वामी हो सकता है ।

सा—हे कितव ! बहु मन्यमान मद्वचने विश्वास कुर्वंस्त्वम् अक्षैर्मा दीव्य द्यूतं मा कुरु । कृषिमित् कृषिमेव कृषस्व कुरु । वित्ते कृष्या सम्पादिते धने रमस्व रतिं कुरु । तत्र कृषौ गावो भवन्ति । तत्र जाया भवति । तदेव धर्मरहस्यं श्रुति-स्मृतिकर्ता सविता सर्वस्य प्रेरकः अयं दृष्टिगोचरः अर्यः ईश्वरः वि चष्टे विवि-धमाख्यातवान् ॥

वि चष्टे—मुझे बताता है—मेरे लिये प्रकट करता है । पदपाठ में उपसर्ग और क्रिया को पृथक् पद माना जाता है, किन्तु क्रिया सोदात्त होने पर नहीं, क्योंकि उस स्थिति में उपसर्ग सर्वानुदात्त हो जाता है—उपसर्गपूर्वमाख्यात-मनुदात्तं विगृह्यते । उदात्तं यत् समस्यते उपसर्गो निहन्यते ॥[2]

मित्रं कृणुध्वं खलु मृळता नो मा नो घोरेण चरताभि धृष्णु ।
नि वो नु मन्युर्विशतामरातिरन्यो बभ्रूणां प्रसितौ न्वस्तु ॥१४॥

---

१ अक्षैर्मेति ननु श्रुति श्रुतिपथं प्राप्ता प्रविष्टा न किं
सौख्यं वा हलजीविनामनुपमं भातं किं पश्यसि ?
किं वक्ष्ये तदपि क्षितीश्वरबहिर्द्वारप्रकोष्ठस्थली-
दीर्घावस्थितिरौरवाय कुरुते हा हन्त दीव्यत्स्पृहाम् ॥ (बालकविकृत महिषशतक)

२ दे वै व्या भा १, पृ १२४५ ।

मित्रम् । कृणुध्वम् । खलु । मृळत । नः । मा । नः । घोरेण । चरत । अभि । धृष्णु । नि
वः । नु । मन्युः । विशताम् । अरातिः । अन्यः । बभ्रूणाम् । प्रऽसितौ । नु । अस्तु ॥

मित्र बनाओ निश्चय ही (हे अक्षो !) सुखी करो हमको,
नहीं हमारे प्रति भीषण (कर्मों) से आओ धृष्ट बने।
तुम्हारा सत्वर ही क्रोध बैठ जाए अब दानहीनता,
दूसरा कोई भूरों के बन्धन में सत्वर हो जाये ॥

मन्त्र मे जुआरी पासों से प्रार्थना करता है कि वे उसके मित्र हो जायें औ
उसे अपने जाल में फसा कर कष्ट न दें। अब वह अपना पूरा जीवन सुधा
रना चाहता है, इसलिये वह द्यूतक्रीडा से पृथक् होना चाहता है। स्वाभावि
है कि इस प्रकार से अक्षदेवताओं का उसके प्रति क्रोध और दानहीनता क
भावना शान्त हो जायेंगे। अब तो कोई दूसरा ही उसके समान दु खी होक
शिक्षा ग्रहण करने के लिये बभ्रुवर्ण पासों के बन्धन मे फसेगा।[1]

सा — हे अक्षा ! यूय मित्र कृणुध्वमस्मासु मैत्री कुरुत। खलु इति पूरण
म अस्मान् मृळत सुखयत च। न अस्मान धृष्णु धृष्णुना, तृतीयार्थे प्रथमा
घोरेण असह्येन मा अभि चरत मा गच्छत किंच व युष्माक मन्यु क्रोध अराति
अस्माक शत्रु नि विशताम् अस्मच्छत्रुषु तिष्ठतु। अन्योऽस्माक शत्रु कश्चि
बभ्रूणा बभ्रुवर्णानां युष्माक प्रसितौ प्रबन्धने नु क्षिप्रमस्तु भवतु ॥

खलु—यह शब्द समस्त ऋग्वेद में केवल यहीं प्रयुक्त हुआ है।

मृळत—संहिता मे इसका दीर्घान्त रूप ध्यान देने योग्य है (पा ६।३
१३३—ऋचि तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम्)। वाक्य के प्रारम्भ मे होने
कारण यह तिङन्त पद भी सोदात्त है।

धृष्णु—क्रियाविशेषण अव्यय, धृष्टतापूर्वक।

मा अभिचरत—ऋग्वेद मे केवल इसी स्थल पर 'मा' के साथ लोट् लका
का प्रयोग हुआ है।

नु, अस्तु—संहिता में प्रतीयमान जात्य स्वरित का परिहार व्यूह कर
'नु अस्तु' उच्चारण करने से हो जाता है और छन्द मे एक अक्षर की न्यूनत
भी पूर्ण हो जाती है।

---

[1] वेलणकर के मतानुसार पिछले मन्त्र में अक्षों के राजा ने उपदेश दिया था जिस
कितव को प्रतीत हुआ कि अक्षों का समूह और उनके राजा भी उसके प्र
सहानुभूति रखते हैं, और इसी से प्रेरित होकर वह इस ऋचा में उनसे मित्र
प्रार्थना कर रहा है—ऋक्सूक्तवैजयन्ती, पृ १४१।

हिरण्यगर्भः

पाश्चात्य विद्वानो के मतानुसार ऋग्वेद की सामान्य विचारधारा से हटकर यह सूक्त महत्त्वपूर्ण एकेश्वरवादी सूक्त है। उनका विचार है कि प्रसिद्ध इन्द्र-सूक्त (सजनीय ऋ० २।१२) के अनुकरण पर रचित यह सूक्त ऋग्वेद का परवर्ती सूक्त है। किन्तु उक्त दोनो सूक्तो में जो साम्य इन विद्वानों द्वारा दिखाया गया है वह सर्वथा आकस्मिक और ऊपरी है। वस्तुत तो यह कहना अधिक उचित होगा कि सम्पूर्ण ऋग्वेद मे भिन्न भिन्न देवताओं के नामों के अन्तर्गत जो एकात्मवाद की भावना व्याप्त है, यह सूक्त उसी भावना को सृष्टि-उत्पत्ति के प्रसङ्ग में विशुद्ध दार्शनिक शब्दावली मे प्रस्तुत करता है।

जैसा कि इसी सूक्त मे प्रजापति के एक नाम 'क' के स्पष्ट अंतिम मन्त्र मे स्वय प्रजापति के उल्लेख से और अन्य सन्दर्भों से[1] प्रकट है, हिरण्यगर्भ और प्रजापति एक ही तत्त्व हैं। हिरण्यगर्भ अर्थात् सुवर्णमय गर्भ या सुवर्णमय अण्डा सृष्टि के आदि जल, 'आप' या अप्रकेत सलिल' मे स्वय प्रकट होने वाला बृहद् अण्डाकार तत्त्व है। इसके विषय में इसी सूक्त के सप्तम मन्त्र मे सकेत है। श बा (११।१।६।१) मे यह तथ्य और अधिक स्पष्टतया वर्णित है—आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास। ता अकामयन्त कथ नु प्रजायेमहीति ता अश्राम्यस्तास्तपोऽतप्यन्त, तासु तपस्तप्यमानासु हिरण्यमाण्ड सम्बभूवाजातो ह तर्हि सवत्सर आस, तदिद हिरण्यमाण्ड यावत्सवत्सरस्य वेला तावत्पर्यप्लवत ॥ श बा (२।२।३।२८) में हिरण्य को अग्नि का रेत कहा गया है (अग्ने रेतो हिरण्यम्)। इसीलिये हिरण्यगर्भ को सृष्टि का आदि अग्नितत्त्व भी माना जाता है। यही आद्य प्राण है क्योकि प्राण को वसिष्ठ बताया गया है (प्राणो वै वसिष्ठ ऋषि)[2] और अग्नि को भी वसिष्ठ कहा गया है (अग्निर्वै देवानां वसिष्ठ)[3]। इसी आदि प्राण को सूर्य भी कहा गया है—सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च (ऋ० १।११५।१) तथा प्राण प्रजानामुदयत्येष सूर्य (प्रश्नोपनिषद् १।८)। इसी तत्त्व को 'अपां नपात्' या अपां गर्भ' कहा जाता है और

---

१ श बा ११।१।६।१, २—तासु (अप्सु) हिरण्यमाण्ड सम्बभूव। तत सवत्सरे पुरुष समभवत्। स प्रजापति ॥

२ श बा ८।१।१।६, वा स १३।५४, ३ ऐ बा १।२८, ऋ २।९।१।

इसी के विषय में 'अग्निर्हि नः प्रथमजा ऋतस्य (ऋ. १०।५।७)वचन है। जिस जल में यह प्रकट होता है उसे पुराणों में युगान्ततोय, नीहारिका (वैदिक नभस्वान् समुद्र—वा. सं. १३।३१) अभिहित किया गया है। यही सूर्य से पूर्व की अवस्था है। इसे ही आधुनिक खगोल विज्ञान की भाषा में 'नेबुला' कहते हैं। इसी समुद्र से सूर्य का जन्म होने का उल्लेख है—अत्रा समुद्रमागूळ्हमा सूर्यमजभर्तन (ऋ. १०।७२।६)। सम्भवतया सूर्यजन्म से पूर्व की स्थिति को पुराणों में शेषशायी विष्णु (नारायण) के रूप में वर्णित किया गया है—

एकार्णवे तु त्रैलोक्ये ब्रह्मा नारायणात्मकः।

भोगिशय्यागतः शेते त्रैलोक्यग्रासबृंहितः॥ (विष्णु पु. १।३।२३)

इस महासलिल में प्रकट हुए हिरण्यगर्भ की तीन गतियां बताई गई हैं। सर्वप्रथम तो आपः में ऊर्मियों के उत्पन्न होने से समेवण हुआ—त ऊर्मयः समास्यन्त फाश्ल् फाश्लिति। तद्धिरण्यमाण्डं समभवत् (जैमिनि ब्राह्मण ३।३६०)। तदनन्तर प्रसर्पण अर्थात् आगे बढ़ने की क्रिया हुई-सोऽस्मिन्नण्डे समसि प्रासर्पत् (ताण्ड्य ब्रा. १६।११)। अन्त में उसने परिप्लवन अर्थात् तैरते हुए चारों ओर परिभ्रमण करने की क्रिया की (दे. ऊपर श. ब्रा. ११।१।६।१)। परिप्लवन की क्रिया एक संवत्सर तक हुई। प्रजापति हिरण्यगर्भ का एक संवत्सर मनुष्य के सहस्र वर्षों के तुल्य है। (स सहस्रायुर्जज्ञे)। उसके पश्चात् वह अण्डा दो भागों में विभाजित हो गया—संवत्सरे हि प्रजापतिरजायत। स इदं हिरण्यमाण्डं व्यरुजत् (श. ब्रा. ११।१।६।२)।[1]

जब वह अंडा दो भागों में विभाजित हुआ तो उसके एक भाग (रजतमय) से पृथ्वी बनी और दूसरे भाग (सुवर्णमय) से द्युलोक बना—ते आण्डकपाले रजतं च सुवर्णं चाभवताम्। तद्यद्रजतं सेयं पृथिवी। यत् सुवर्णं सा द्यौः (छान्दोग्योपनिषद् ३।१९।१-२)। इस प्रकार यह हिरण्यगर्भ आपः के बाद समस्त सृष्टि का मूलकारण है। पुराणों में अनन्त ग्रह और तारागणों के आधारभूत करोड़ों ऐसे अण्डों का उल्लेख है—

अण्डानामीदृशानां तु कोट्यो ज्ञेयाः सहस्रशः।

तिर्यगूर्ध्वमधस्ताच्च कारणस्याव्ययात्मनः॥ (वायु पु. ४९।१५१)

लिङ्ग पुराण (१।३।२९, ३०) में बताया गया है कि अण्डे में ये सभी लोक और उनके भीतर की समस्त सृष्टि समाहित होती है—तस्मिन्नण्डे त्विमे

1. तु. अन्ते वर्षसहस्रस्य वायुना तद्द्विधा कृतम्।—वायु. पु. २४।७४।
तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम्।
स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद् द्विधा॥ मनु. १।१२।
हिरण्मयः स पुरुषः सहस्रपरिवत्सरान्।
अण्डकोश उवासाप्सु सर्वसत्त्वोपबृंहितः॥ भागवत पु. ३।६।६।

लोका अन्तर्विश्वमिदं जगत्। अण्ड की इसी धारणा के आधार पर आधुनिक जीवविज्ञान के अनुसार अनेक कोषों द्वारा शरीर रचना की व्याख्या की जा सकती है। इस अण्डे के समान ही इन कोषों में शरीर के सम्पूर्ण तत्त्व विद्यमान रहते हैं। "कोष के भीतर जो प्राणरस या कलल (प्रोटोप्लाज्म) रहता है वही आप या नारा के तुल्य है। माता का भ्रूण पिता के शुक्र से गर्भित होता है। इन दोनों के सम्मिलन से जो एक कोष अस्तित्व में आता है वह संवर्धन की प्रक्रिया द्वारा एक से दो, दो से चार, चार से आठ, आठ से सोलह—इस अनुपात से बढ़ता हुआ पूरे शरीर यन्त्र का निर्माण कर लेता है।"[1]

ऋ० १०।१२१

ऋषि—प्रजापतिपुत्रो हिरण्यगर्भः, देवता—कःशब्दाभिधेयः प्रजापतिः। छन्द—त्रिष्टुप्।

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥१॥

हिरण्यऽगर्भः। सम्। अवर्तत। अग्रे। भूतस्य। जातः। पतिः। एकः। आसीत्। सः। दाधार। पृथिवीम्। द्याम्। उत। इमाम्। कस्मै। देवाय। हविषा। विधेम॥

हिरण्यगर्भ प्रजापति जन्मा सबसे ही पहले (था),
प्राणिमात्र का, उत्पन्न हुआ पालक एक (वही) था।
उसने धारण किया धरा को, (अरु) नभ को भी इसको,
किस (अन्य) देव की हवि को द्वारा करें समर्पित पूजा?

सकल सृष्टि का आदिस्रोत ज्योतिर्मय गर्भभूत तत्त्व ही परमेश्वर द्वारा सर्वप्रथम उत्पन्न किया गया। उस समय कोई और तत्त्व नहीं था। वही आगे होने वाले प्राणिमात्र का पालनकर्ता था। उसने ही विशाल पृथ्वी अर्थात् भौतिक जगत् और आकाश अर्थात् तेजोमय जगत् को धारण किया अर्थात् अपने नियन्त्रण में रखा हुआ था। यही तत्त्व इतना महत्त्वपूर्ण है कि इसके अतिरिक्त कोई अन्य पूजनीय नहीं रह जाता। इसीलिये प्रश्न किया गया है कि इस तत्त्व को छोड़ और किस दिव्य तत्त्व की पूजा करें? वास्तविक तत्त्व तो यही है।

समवर्तत—हुआ या उत्पन्न हुआ। जैसे कि मन्त्र के पूर्वार्ध की इस और 'आसीत्' इन दो क्रियाओं से प्रकट है, प्रायः सभी भाष्यकारों ने इसमें दो वाक्य

---

[1] वा० श० अग्रवाल, वेदरश्मि, पृ० १२।

माने हैं। स्वा. द. ने (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में) पूर्वार्ध में एक ही वाक्य माना है—सृष्टेः प्राक् परमेश्वरो जातस्योत्पन्नस्य जगत एकोऽद्वितीयः पतिरेव समवर्तत। इस व्याख्या से उन्हें जात का विभक्ति-व्यत्यय करके जातस्य मानना पड़ा है और आसीत् क्रिया का समवर्तत से ही विलय हो गया है।

भूतस्य—या., वें.—भूतस्य, उवट, महीधर-उत्पन्नस्य प्राणिजातस्य, सा-विकारजातस्य ब्रह्माण्डादेः सर्वस्य जगतः, स्वा. द.—उत्पन्नस्य कार्यरूपस्य जगतः, मक्स., मुइर—जो कुछ भी है उसका, पीटर्सन—प्रत्येक प्राणी का (आफ़ एवरी क्रीचर), गेल्ड.—देयर खोप्फुंग (सृष्टि का) ह. श.[1]—दैवी तत्त्वों या पूर्वाधीय २४ तत्त्वों का, ये तत्त्व प्रत्येक ब्रह्माण्ड की आत्मायें हैं, अत: भूत माने लोक में प्राय प्राणी होता है।

पतिः—सभी विद्वान्—स्वामी या ईश्वर। परन्तु स्वामित्व या ईश्वरत्व के मूल में शासन की भावना नहीं, पालनकर्ता की भावना है। वे० ह० श०—इस ऋचा में पति का अर्थ पालक या संरक्षक है।

दाधार—'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य' (पा० ६।१।७) के आधार पर अभ्यास का दीर्घत्व। अन्यथा दधार रूप बनता। या०, वें०, सा०, गेल्ड०, पी०—धारयति, धारण करता है स्वा० द० धारितवानस्ति, मक्स., मुइर.—थामा (एस्टेब्लिश्ड), ह. श० धारण किया।

पृथिवीम्, द्याम्—सभी भाष्यकारों ने इसका अर्थ 'भूमि और आकाश' किया है। उवट, महीधर ने 'तीनों लोक' अर्थ किया है—अन्तरिक्ष द्युलोक देमां भूमि लोकत्रय धारयति (सा०-यद्वा पृथिवीत्यन्तरिक्षनाम अन्तरिक्ष दिव भूमिं च धारयति)। किन्तु ह० श० का वक्तव्य द्रष्टव्य है—"क्या वैदिक ऋषि की दृष्टि इतनी संकुचित थी जो केवल दृश्यमान अन्तरिक्ष और पृथिवी को लेकर ऐसी उधेड़बुन करती? ..ये पूर्वार्ध और उत्तरार्ध हैं। पूर्वार्ध में आध्यात्मिक सृष्टि का विकास एकरूपता और अखण्डरूपता में होता है तो उत्तरार्ध में भौतिक सृष्टि का खण्ड खण्डश:, व्यक्ति-व्यक्तिश:।"

कस्मै—या० (नि० १०।२२)—कः कमनो वा क्रमणो वा, सुखो वा (कामियों की कामनाओं का साधन या स्वयं बहुत्व की कामना करने वाला—एकोऽहं बहु स्याम्—सबकी गति का साधन, सुखमय अथवा सुख प्रदान करने वाला—प्रजापति), मै० सं० (३।१०।१०), का० सं० (३६।५), श० ब्रा० (७।४।१।१९)—प्रजापतिर्वै कः, सुद्धिवन—क देव को—इन सभी व्याख्याओं में संज्ञा शब्द 'क' के साथ सर्वनाम-प्रत्यय 'स्मै' के संयोग की समस्या है। इसके समाधान के लिये अन्य इसी प्रकार के वैदिक प्रयोग दिये गये हैं यथा

1. हरिशंकर जोशी, वैदिक विश्व दर्शन, भाग २, पृ. ७६२ से।

'परस्याम्, मध्यमस्याम्, अवमस्याम्' । इसके अतिरिक्त पाणिनि (४।२।२५) के सूत्र 'कस्येत्' के भाष्य में पतञ्जलि ने उपर्युक्त समस्या का यह समाधान प्रस्तुत किया है कि 'सर्व' की सर्वनाम संज्ञा की जाती है। और 'सर्व' (सब कुछ) प्रजापति है, प्रजापति 'क' है। अतः 'क' के साथ सर्वनाम प्रत्यय का संयोग सर्वथा व्याकरण-सम्मत है। (सर्वस्य हि सर्वनामसंज्ञा क्रियते। सर्वश्च प्रजापतिः प्रजापतिश्च कः)। उव्वट०—काय इति प्राप्ते स्मै आदेशश्छान्दसः। प्रजापतये देवाय, महो०—काय प्रजापतये देवाय। सा०—अत्र किंशब्दोऽनिर्ज्ञातस्वरूपत्वात् प्रजापतौ वर्तते (क्योंकि प्रजापति का स्वरूप विदित नहीं, अतः प्रश्नवाचक किम् शब्द यहाँ प्रजापति के अर्थ में है)। स्मै प्रत्यय के विषय में सायण ने दो विकल्प रखे हैं—यदासौ किं शब्दस्तदा सर्वनामत्वात् स्मैभावः सिद्धः। यदातु यौगिकस्तदा व्यत्ययेनेति द्रष्टव्यम्। इसके अतिरिक्त यास्क के निर्वचनों के आधार पर सायण ने ये अर्थ भी दिये हैं—सृष्टिपर्यं कामयत इति कः। कमेड प्रत्ययः (√कम् इच्छा करना से ड प्रत्यय लगाकर 'सृष्टि के लिये कामना करता है' अर्थ में क शब्द है), अथवा क सुखं तद्रूपत्वात् क इत्युच्यते (क का अर्थ सुख है, सुखस्वरूप होने के कारण प्रजापति को क कहा जाता है। फिर सायण ने 'क' का अर्थ स्पष्ट करने के लिये तै० ब्रा० (२।२।१०।१२) की आख्यिक कथा दी है—इन्द्रेण पृष्टः प्रजापतिर्मदीयं महत्त्वं तुभ्यं प्रदायाहं कः कीदृशः स्यामित्युक्तवान्। स इन्द्रः प्रत्यूचे यदीदं ब्रवीष्यहं कः स्यामिति तदेव त्वं भवेति। अतः कारणात् क इति प्रजापतिराख्यायते। यहाँ की पूर्ण कथा का भाव इस प्रकार है—'प्रजापति ने देवों के पीछे इन्द्र को बनाया और कहा जाओ तुम इन देवों के अधिपति बनो।' देवों ने कहा—तुम हो कौन? हम तुमसे बड़े हैं। इन्द्र प्रजापति के पास आया और बोला— देव कहते हैं—तुम हो कौन? हम तुमसे बड़े हैं। प्रजापति के पास वह तेज था जो आदित्य में है। इन्द्र ने कहा अपना यह तेज मुझे दे दो तो मैं देवों का अधिपति बन सकूँगा। प्रजापति ने कहा—इसे दे दूँ तो फिर मैं क्या रहूँगा? इन्द्र ने कहा—तुम 'क्या' (क) रहोगे। अतएव प्रजापति की संज्ञा क है। इस ज्ञान से इन्द्र देवों का अधिपति बन गया।'[1] वें०—तस्मै, स्वा० द०—तस्मै सुखस्वरूपाय। सभी पाश्चात्य विद्वानों ने इसे प्रश्नवाचक सर्वनाम मानकर इसका अर्थ 'किसको' किया है। परन्तु वस्तुतः बहुत ही काव्यात्मक ढंग से काकु द्वारा यहाँ बताया गया है कि 'उपर्युक्त महत्त्व तथा विशेषताओं वाले हिरण्यगर्भ के अतिरिक्त किस अन्य देव की हम उपासना करें?' अर्थात् किसी की भी नहीं, वही एक उपासनायोग्य है। जैमिनीसूत्र १०।३।१५ पर

---

[1] दे० आ० व० प०, वैदर्शन, पृ० २।

शबरस्वामी के भाष्य में 'कस्मै' के प्रारम्भ मे 'एकार लोप की कल्पना करके 'एकस्मै'—'एकमात्र परमेश्वर को' अर्थ किया गया है (कस्मै देवाय हविषा विधेमेति । एकस्मै देवायेत्यर्थः । एकारलोपेनैतच्छब्दविज्ञानादर्थप्रत्ययो भवति)।

हविर्षा, विधेम—या०-विधतिर्दानकर्मा, वें०-हविषा परिचरण कुर्मः (इन्होंने विधिलिङ् न मानकर लट् लकार माना है), सायण ने √विध् का अर्थ परिचर्या करना (निघ० ३।५) मानकर यज्ञ-परक व्याख्या की है। तदर्थ उसे 'कस्मै' में भी कर्म के अर्थ मे सम्प्रदानत्व मानकर चतुर्थी माननी पड़ी है। —क्रियाग्रहणं कर्तव्यम् इति कर्मणः सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । क प्रजापति देवाय देव दानादिगुणयुक्त हविषा प्राजापत्यस्य पशोर्वपारूपेणैककपालात्मकेन पुरोडाशेन वा विधेम वयमृत्विजः परिचरेम। मक्स०, मुइर, लुड्विग—हम आहुति या होम अर्पित करें ? पी.—हम आहुति लायें ? गेल्ड०-हम आहुति से सेवा करें ? (मित् ओप्फर दीनन वॉल्लन ?)। आहुति यहाँ समस्त पूजाभाव का प्रतीक है। 'आहुतिद्वारा अर्पित करें' का भाव है कि 'पूजा समर्पित करें ?' उव्वट, मही०-हविर्देयं. इति विभक्तिव्यत्ययः। स्वा० द०-आत्मादिसर्वस्वदानेन परिचरेम सेवेमहि।

य आ॑त्मदा ब॑ल॒दा यस्य॒ विश्वं॑ उ॒पास॑ते प्र॒शिषं॒ यस्यं॑ दे॒वाः ।
यस्यं॑ छा॒याऽमृतं॒ यस्यं॑ मृ॒त्युः कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥२॥

यः । आ॒त्म॒ऽदाः । ब॒ल॒ऽदाः । यस्यं॑ । विश्वे॑ । उ॒प॒ऽआस॑ते । प्र॒ऽशिषं॑म् । यस्यं॑ । दे॒वाः । यस्यं॑ । छा॒या । अ॒मृतं॑म् । यस्यं॑ । मृ॒त्युः । कस्मै॑ । दे॒वाय॑ । ह॒विषा॑ । वि॒धे॒म॒ ॥

जो आत्मा का दाता बल का दाता जिसके सभी
करते उपासना आदेश की जिसके देव (त्वरा से)।
जिसकी छाया है अमरत्व जिसकी है मृत्यु (भी तो)
किस (अन्य) देव को हवि के द्वारा करें समर्पित पूजा ? ॥

वह प्रजापति ही सबका आत्मदाता अर्थात् उनके उनके स्वरूपों को प्रदान करने वाला या उनका स्रष्टा है, वही सबको बल प्रदान करता है। इसीलिये सब प्राणी—देव तक उसके शासन में रहते हैं। निस्सन्देह उसकी शरण मे अमरत्व ही है, इसलिये मृत्यु को भी उससे पृथक् नहीं किया जा सकता क्योंकि विलय के बिना सृष्टि की कल्पना नहीं हो सकती। या मरणधर्मा प्राणियों और अमर देवों दोनों पर उसका समान नियन्त्रण है। इतना महान् है वह स्रष्टा।

आत्मऽदा—वें०—शरीरबलयोः दाता, उ०, मही०, स्वा० द०-आत्मानं ददाति, उपासकानां सायुज्यप्रदः। सा०-आत्मनां दाता, आत्मानो हि सर्वे तस्मात् परमात्मन उत्पद्यन्ते, यथाग्नेः सकाशाद्विस्फुलिङ्गा जायन्ते तद्वत्, यद्वा

धात्मनां शोधयिता(√दैप् शोधने से) दूसरे शब्दों में 'सभी प्राणियों में आत्म-तत्त्व के रूप में विद्यमान।' सभी पाश्चात्य विद्वान् इसका अर्थ 'प्राणदाता' (गिवर ऑफ ब्रेथ) करते हैं। तु० ऋ० १०।१६८।४—आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भो यथावशं चरति देव एषः ॥

विश्वे'—वें०, उ०, मही०-सर्वे मनुष्याः, सा०, मही०, पी-सर्वे प्राणिनः, स्वा० द०, मक्स०, लुड्विग विश्वे देवाः, ऑल दि ब्राइट गॉड्स (सभी देवता) —परन्तु इस व्याख्या में दूसरा 'यस्य' अव्याख्यात रह जाता है। सभी स्वा० द० को दूसरे 'यस्य' की भावपूर्ति इस प्रकार करनी पड़ी—यस्य सकाशात् सर्वे व्यवहारा जायन्ते। मुइर-ग्रॉल, (ईवन) दि गॉड्स, गेल्ड०-सभी—इसके अनुसार दूसरे 'यस्य' के द्वारा इस बात पर बल दिया गया है कि सर्वज्ञ देव भी उसके अधीन हैं। परन्तु टिप्पणी में इन्होंने इसका 'सभी देवता' अर्थ भी स्वीकार किया है।

छाया, अमृतम्—तृतीय पाद में छन्दःपूर्ति के लिये इन दो शब्दों का उच्चारण सन्धि-विच्छेद करके किया जाना चाहिये। अथवा इसे निचृत्-त्रिष्टुप् छन्द भी मानते हैं। वें०-यस्य च छाया मृत्युः अमृतं च भवति। येनाच्छादितो जीवति म्रियते च सा छाया इति। उ०, मही०-माश्रयो ज्ञानपूर्वमुपासनम् अमृत मुक्तिहेतु, यस्य अज्ञानमिति शेषः मृत्युः संसारहेतुः। सा०—अमृतम् अमृतत्वम्, यद्वा अमृतम्, मरणं नास्त्यस्मिन्निरयमृतं सुधा, तदपि यस्य प्रजापतेः छायेव भवति, मृत्युः यमश्च प्राणापहारी छायेव भवति (सायण ने छाया का सम्बन्ध दूसरे 'यस्य' से भी माना है)। स्वा० द० ने भी उ० और मही० के समान छाया का अर्थ 'आश्रय' किया है और उन्हें भी दूसरे 'यस्य' के आगे भावपूर्ति के लिये 'आज्ञाभङ्गः' का अध्याहार करना पड़ा है अर्थात् 'जिसका आज्ञाभंग मृत्यु है।' मक्स०, मुइर, गेल्ड०-जिसकी छाया अमरत्व है और जिसकी छाया मृत्यु है। इन विद्वानों ने भी सायण के समान छाया का सम्बन्ध दूसरे 'यस्य' से भी माना है। लुड्विग, पी. प्रभृति विद्वानों ने दूसरे 'यस्य' का छाया से कोई सम्बन्ध नहीं माना। तदनुसार—जिसकी छाया अमरत्व है और जिसकी मृत्यु है (हिज़ शेडो इज़ इम्मॉर्टेलिटी, एण्ड हिज़ इज़ डेथ)। गेल्डनर ने टिप्पणी में इस उक्ति का भाव स्पष्ट करते हुए कहा है—वह स्वयं मृत्यु और अमरत्व से ऊपर रहता है। ह० श०—अमृत या देवता उसकी छाया हैं, "जितनी समानता छाया की उसके वास्तविक तत्त्व से होती है उतनी ही समानता इनमें है। ....मृत्यु नाम भौतिकताप्रधान आसुरी सृष्टि का है ..मृत्यु नाम संवत्सर रूप काल प्रजापति का भी है, कः ही काल प्रजापति भी है। यह मृत्यु उसके वश में है, वह भौतिक शरीरहीन होने से मृत्यु रूप का भी है।"[1]

[1] वैदिक दर्शन, भाग २, पृ ७६४।

य: प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव ।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥३॥

य: । प्राणतः । निऽमिषतः । महिऽत्वा । एकः । इत् । राजा । जगतः । बभूव । यः । ईशे । अस्य । द्विऽपदः । चतुःऽपदः । कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम ।

जो प्राण लेते पलक झपकते (जन्तु) का महत्त्व से
एक ही शासक (तेज पूर्ण) जगत् का बना हुआ है।
जो शासन करता इन (सभी) द्विपाद चतुष्पादों पर,
किस (अन्य) देव को हवि के द्वारा करें समर्पित पूजा ? १।

उस स्रष्टा प्रजापति का महत्त्व इतना है कि जितना भी विशाल गतिशील संसार है, उस सबका वह अकेला ही राजा है—अपने प्रकाश से सबको दीप्त करता है। इसके सभी प्राणी, मनुष्य और पशु पक्षी सभी उसके नियन्त्रण में ही प्राण लेते हैं। उनकी पलक झपकने तक की सहज क्रिया भी उस प्रजापति के महत्त्व तथा नियन्त्रण में ही होती है।

प्राणतः, निमिषतः—उ०-प्राणन कुर्वतः भूतग्रामस्य, निमेषणं कुर्वतः क्रियावत इत्यर्थान्तरम्, मही०-प्राणन जीवन कुर्वतो, नमेषणं कुर्वतः, उपलक्षणमेतत्, रूपादीन्द्रियव्यापार कुर्वत सचेतनस्य जगत. (जीवित रहते हुए तथा नेत्रादि इन्द्रियों की क्रियाएँ करते हुए सचेतन जगत् का), सा०-प्रश्वसतः, अक्षिपक्ष्मचलनं कुर्वतः, स्वा० द०-प्र शिन, नेत्रादिना चेष्टां कुर्वत, मक्स०-ऑफ दि ब्रीदिंग, एण्ड् टिवंकलिंग् वर्ल्ड (प्राण लेते तथा झिलमिलाते हुए संसार का), मुइर, ग्रुड्विग—ऑफ दि ब्रीदिंग एण्ड व्रिंकिंग वर्ल्ड (प्राण लेते तथा पलक झपकते संसार का), पीटर्सन, गेल्ड०—ऑफ ब्रेथ एंड स्लीप, वास आत्मत उन्त् श्लूमर्त (प्राण लेने वाले और सोने वाले का)। पीटर्सन ने यह टिप्पणी दी है—सोने वाला संसार अर्थात् उस स्वर्ग से विभिन्न पृथ्वी जिसके निवासी न तो सुस्ताते हैं और न सोते हैं।[1] साधारणतया शतृप्रत्ययान्त शब्द का प्रत्यय उदात्त होता है, किन्तु उपर्युक्त दोनों पदों में उक्त प्रत्यय होने पर भी आगे नुम्-आगम न होने पर तथा सर्वनामस्थान से भिन्न अजादि विभक्ति होने पर विभक्ति उदात्त है (पा० ६।१।१७३—शतुरनुमो नद्यजादी)।

1. प्रजापति अपनी सर्वशक्तिमत्ता द्वारा (पूर्वार्ध में) प्राणरूप सृष्टि का विकास करते हुए (उत्तरार्ध में चक्षु नामक) सूर्य तत्त्व का निमिषोन्मीलन करके, इस अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड का केवल एक राजा 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' स्वरूपी तत्त्व बनता है, वह पहले उस द्विपदीय (जीवात्मा, और उसके साथ त्रिपदीय तैजसात्मा) का विकास करता है, फिर उसी से चतुष्पाद ब्रह्म का विकास करने में समर्थ हुआ। ह. श., वैदिक विश्व दर्शन, भाग २, पृ. ७६१।

द्विपद —दो पाँव वाले का । द्वौ पादौ यस्य स द्विपात् । 'संख्यासुपूर्वस्य' (पा० ५।४।१४०) से पाद के अन्त्य अकार का लोप । सर्वनामस्थानभिन्न प्रत्यय के कारण भसंज्ञा होने पर 'पाद पत्' (पा० ६।४।१३०) से पात् का पत् होकर द्विपद रूप बना । अब बहुव्रीहि समास होने के कारण इसके पूर्वपद में प्रकृति स्वर प्राप्त होता है, परन्तु 'द्वित्रिभ्यां पाद्दन्मूर्धसु बहुव्रीहौ' (पा० ६।२।१९७) के अनुसार द्वि के आगे उत्तरपद में पात् शब्द आने पर अन्तोदात्तत्व प्राप्त हुआ । 'अधीगर्थदयेशां कर्मणि' (पा० २।३।५२) के अनुसार √ईश के कर्म में षष्ठी विभक्ति है। यहाँ जाति का द्योतक एकवचन है अभिप्राय बहुवचन का ही है ।

अस्य—इसका अर्थात् इन (दो पाँव चार पाँव वालों) पर (शासन करता है) । इदम् शब्द के तृतीयादि विभक्ति वाले रूप जहाँ अन्वादेश (कही हुई बात के पुनर्वचन) के रूप में आते हैं वहाँ वे सर्वानुदात्त होते हैं (नि० ४।२५—अस्या इति चास्यति चोदात्त प्रथमादेशे । अनुदात्तमन्वादेशे, पा २।४।३२—इदमोऽन्वादेशेऽशनुदात्तस्तृतीयादौ) । परन्तु यहाँ 'अस्य' अन्वादेश न होने के कारण 'ऊडिदम्पदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः' (पा० ६।१।१७१) से इसकी विभक्ति उदात्त है ।

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः ।
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥४॥

यस्य । इमे । हिमऽवन्तः । महिऽत्वा । यस्य । समुद्रम् । रसया । सह । आहुः । यस्य । इमाः । प्रऽदिशः । यस्य । बाहू इति । कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम ॥

जिसके (हैं) ये महा हिमाद्रि (निज अतुलित) महिमा से,
जिसका समुद्र नदियों सहित बतलाते हैं (ज्ञानी) ।
जिसकी (हैं) ये सभी दिशायें जिसकी दोनों बाहें,
किस (अन्य) देव की हवि के द्वारा करें समर्पित पूजा ? ॥

विशाल हिमालय जैसे पर्वत उस प्रजापति की महिमा के कारण उसके ही हैं । यहाँ तक कि सभी ओर से आने वाली नदियों से आपूर्यमाण विस्तीर्ण पारावार भी उसके अधीन है । इससे भी अधिक ये दिखाई देने वाली और उससे भी परे की दिशायें उसके नियन्त्रण में ही नहीं हैं, अपितु ये उसके लिये इतनी सीमित हैं मानो उसके दो हाथ ही हों । अथवा मनुष्य की दो भुजायें वस्तुतः उसकी ही हैं । उसी की प्रेरणा से मनुष्य सब प्रकार के कार्य करता है ।

हिमवन्त —भारतीय विद्वान्[1]—हिमालय आदि पर्वत, पाश्चात्य विद्वान्-

[1] वें —पर्वता, पर्वतग् हिम भूयिष्ठ भवति ।

बर्फीले पर्वत। पदपाठ मे 'वतुप्' प्रत्यय को समास के उत्तरपद के समान पृथक् किया गया है (वै० वै० व्या० भा० १, पृ० २००)। प्रत्यय का प् इत् होने के कारण प्रत्यय अनुदात्त है और 'हिम' पर स्वाभाविक स्वर है। सा०-हिमवदुपलक्षिता इमे दृश्यमाना सर्वे पर्वता।

महि त्वा—सज्ञापदो के साथ लगने वाला 'त्व' प्रत्यय पदपाठ मे अवग्रह द्वारा पृथक् करके दिखाया जाता है।[1] पा० ७।१।३९ (सुपा सुलुक् इत्यादि) के अनुसार यहाँ 'आ' आदेश होकर तृतीया एकवचन का यह रूप बना है। वें-महत्त्वेन तिष्ठन्ति, महीधर और सायण के मतानुसार यह प्रथमान्त है—सर्वे पर्वता यस्य प्रजापते महत्त्व माहात्म्यमैश्वर्यमित्याहु। तेन सृष्टत्वात्तद्रूपेणावस्थानाद्वा। मुइर ने इसे द्वितीयान्त पद मानकर इसे 'आहु' का कर्म माना है और पर्वत तथा समुद्र को उसका कर्ता—ये बर्फीले पर्वत और नदी सहित समुद्र जिसके महत्त्व की घोषणा करते हैं। गेल्डनर और मक्स ने इस तृतीयान्त ही माना है। गेल्डनर ने इसका सम्बन्ध तीनो पादो से जोड़ा है—'जिसकी शक्ति से ये पर्वत हैं, जिसकी शक्ति से समुद्र' आदि। तृतीयान्त मानते हुए भी पीटर्सन ने इसे 'रसया' का विशेषण माना है—हिज दे से, द ओशन विद द ग्रेट रिवर।

रसया—वें०-यस्य अवयवभूतमुदधिमनया पृथिव्या सह वदन्ति। सा० रसो जलम्। तद्वती रसा नदी। जातावेकवचनम्। रसाभिर्नदीभि सह समुद्रम्। पूर्ववदेकवचनम्। सर्वान् समुद्रान् यस्य महाभाग्यमित्याहु। ग्रॉफेस्त के अनुसार इसका अर्थ 'आकाशगगा' है। मक्स ने रसा को 'एक दूरवर्तिनी नदी' कहा है।

प्रदिश, बाहू—वें० इमा प्रकृष्टा दिश अतस्स बाहू भवत, पुन यस्य इति पूरणम्। सायण ने प्रदिश के आगे 'ईशितव्या' क्रिया का अध्याहार किया है और 'यस्य बाहू' को पृथक् वाक्य माना है—यस्य च इमा प्राच्यारम्भा आग्नेय्याद्या कोणदिश ईशितव्या, तथा बाहू वचनव्यत्यय, बाहवो भुजा। भुजवत्प्राधान्ययुक्ता प्रदिशश्च यस्य स्वभूता। मुइर पी—जिसकी ये दिशायें हैं, जिसकी वे भुजायें हैं (ग्रॉफ हूम् दीज रिजन्स, ग्रॉफ हूम् दे ग्रार द आर्म्ज)। मक्स० ने बाहू के पूर्ववर्ती 'यस्य' की उपेक्षा करके इसे एक वाक्य मानते हुए अर्थ किया है—'ये दिशायें निश्चय ही जिसकी दोनों भुजायें हैं।' पी ने सायण द्वारा प्रदिश का 'कोणदिश' अर्थ किये जाने की आलोचना की है और कहा है कि यहाँ केवल 'दिश' ही ठीक प्रतीत होता है।[2]

---

1 वै व्या भा १, पृ ६० १।
2 हिम्ज फ्रॉम दि ऋग्वेद, पृ २८६ पर टि २।

परन्तु सायण की भावना उपर्युक्त भाष्य में सभी दिशाओं और उपदिशाओं का उल्लेख करने की है (प्राच्यारम्भा + आग्नेय्याद्या)। गेल्डनर ने प्रथम यस्य के साथ 'महित्वा' का अध्याहार करके इस प्रकार एक वाक्य बनाया है—'जिसकी शक्ति से ये दिशायें जिसकी दोनों भुजायें हैं'—(दुर्श) देस्सन (मारूत) दीजें हिम्मेल्स गेगेन्दन, देस्सन वाइदें आर्म जी जिन्द। टिप्पणी में बाहू के द्विवचन और प्रदिश के बहुवचन की सङ्गति बिठाते हुए इस विद्वान् ने कहा है कि अन्य देवताओं की जो दो भुजायें हैं, वे इसके लिए सारी दिशायें हैं। अथर्व० (४।२।५) में प्राप्त होने वाला इसका रूपान्तर एक प्रकार से इसकी स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत करता है—इमाश्च प्रदिशो यस्य बाहू।

विशेष—त्रिष्टुप् छन्द की पूर्ति की दृष्टि से मन्त्र के प्रथम और तृतीय पाद के प्रारम्भ में 'यस्य इमे' और 'यस्य इमाः' सन्धि विच्छेद करके उच्चारण किया जाना चाहिये। अथवा इसे निचृत् त्रिष्टुप् कहा जा सकता है।

येन॒ द्यौरु॒ग्रा पृ॑थि॒वी च॑ दृ॒ळ्हा येन॒ स्वः॑ स्तभि॒तं येन॒ नाकः॑।
यो अ॒न्तरि॑क्षे॒ रज॑सो वि॒मानः॒ कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥५॥

येन॑। द्यौः। उ॒ग्रा। पृ॒थि॒वी। च। दृ॒ळ्हा। येन॑। स्व१॒रिति॑ स्वः॑। स्त॒भि॒तम्। येन॑। नाकः॑। यः। अ॒न्तरि॑क्षे। रज॑सः। वि॒ऽमानः॑। कस्मै॑। दे॒वाय॑। ह॒विषा॑। वि॒धे॒म॒॥

जिसके द्वारा गगन समुन्नत, धरा गई है थामी,
जिसके द्वारा स्वर्ग स्तब्ध है, जिसके द्वारा सूरज।
जो अन्तरिक्ष में (उस महा) ज्योति का निर्माता है,
किस (अन्य) देव की हवि के द्वारा करें समर्पित पूजा।।

सृष्टि के प्रारम्भ में प्रजापति ने अति उन्नत आकाश और सभी भूमण्डलों की पृथ्वी को उनके-उनके स्थान पर स्थिर कर दिया था, जिससे प्राणी जीवित रह सकें। स्व और नाक एक ही तत्त्व के दो नाम हैं। दोनों का मूल तत्त्व सुखमयत्व है। सूर्य से दोनों का सम्बन्ध होना स्वाभाविक है क्योंकि सूर्य मण्डल पार करके ही मुमुक्षु परम सुख का अनुभव करता है और कहता है 'योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि' (ईशोपनिषद्—१६)। सृष्टि के साथ ही प्रजापति ने उस सुखमय स्थिति की स्थापना की, परन्तु कोई साधक ही उसे प्राप्त कर सकता है। अन्तरिक्ष की महान् ज्योति विद्युत् का निर्माण भी उसने किया है। विद्युत् वृष्टि की वाहक होने के कारण सबकी जीवनदात्री है।

उग्रा—वें० येन द्यौः उद्‌गूर्णा पृथिवी च दृढा भवति। सा०-(अन्तरिक्षम्)

उद्‌गूर्णं विशेषाग्रहनरूप वा ।[1] (जिसके द्वारा आकाश उन्नत किया गया है और पृथ्वी स्थिर की गई है) । ग्रासमान और लुडविग ने इसी अन्वय का अनुसरण किया है, परन्तु उग्रा का अर्थ ग्रासमान के अनुसार 'जाज्वल्यमान' (फायरी) और लुड्विग के अनुसार 'शक्तिशाली' (गेवाल्तिग) है । मक्स०, गेल्ड० और पी. के अनुसार 'उग्रा' द्यौ का विशेषण है और इसकी तथा पृथ्वी की संयुक्त क्रिया 'दृळ्हा' है । इस अन्वय की पुष्टि मक्स० के मतानुसार अथर्व० (४।२।४) के मन्त्रांश 'येन द्यौरुग्रा पृथ्वी च दृळ्हे' से होती है ।[2] मक्स०-वैभवशाली (ग्रॉ फुल), पी.-महान् (ग्रेट), गेल्ड०-शक्तिशाली (गेवाल्तिगे) ।

स्वं , नार्क.—'स्व ' पर जात्यस्वरित स्वर है, इसीलिये पदपाठ में इसके आगे ३ लिखा गया है । इस जात्य या तथाकथित स्वतन्त्र स्वरित को नियमानुकूल (उदात्तानुवर्ती) बनाने के लिये इसका पाठ 'सुअं ' अथवा 'सुव ' करना चाहिये । इस प्रकार इस पाद के त्रिष्टुप् छन्द में एक अक्षर की कमी भी पूरी हो जाती है ।[3] प्रायः जात्य स्वरित वाले प्रयोगों में छन्द में एक अक्षर की न्यूनता देखने में आती है । इस शब्द के अन्त में आने वाला विसर्जनीय रिफित है, अतः इस विशेषता को प्रकट करने के लिये पद पाठ में इसके आगे 'इति' जोड़ा गया है और इसकी चर्चा अर्थात् एक बार आवृत्ति की गई है ।[4] या० (नि० २।२४) ने स्व के आदित्य और आकाश दोनों ही अर्थ दिये हैं । सा०-स्वर्गः स्तब्धः कृतः, यथाधो न पतति तथोपरि स्थापितम् (स्व) इत्यर्थः । नाकः आदित्य । ग्रासमान—अन्तरिक्ष और स्वर्ग (फर्मामेंट, हेवन), लुड्विग-स्वर्, आवरण (?) (स्वर, गेवोल्बें), मक्स०-आकाश, अन्तरिक्ष (ईथर, फर्मामेंट), पी. -स्वर्ग का अन्तरिक्ष (फर्मामेंट ऑफ हेवन)-इस व्याख्या में स्व और नाकम् में सम्बन्ध-षष्ठी का कोई आधार दिखाई नहीं देता । गेल्ड०-सूर्य, अन्तरिक्ष (दी सॉन्नें, फ़र्मामेंट) । स्व. का अर्थ 'प्रकाश' भी है (दे० स्वा० द० भाष्य) ।

रजंस—वें०-तेजसः, सा०-उदकस्य, ग्रासमान—वायव्य अवकाश का (ऑफ एरियल स्पेस), मक्स०-वायु (एयर इन द स्काई—अन्तरिक्ष)—आकाश की दीप्त वायु, आकाश-अन्तरिक्ष-पृथ्वी और स्वर्ग के मध्य है ।[5] गेल्ड०-(वायु में) अवकाश को (इन देयर लुफ्त देन राउम) । यास्क (नि० ४।१६) ने इस शब्द

---

१. पीटर्सन के संग्रह में पाठ 'उद्‌गूर्णविशेषा महनरूपा वा' है, तदनुसार उग्रा पृथ्वी का विशेषण है, और दोनों (द्यौ, पृथ्वी) की संयुक्त क्रिया दृळ्हा है ।

२. सातवलेकर के संस्करण में यह पाठ है—यस्य द्यौरुर्वी पृथिवी च मही ।

३. वै. व्या. भा. २, पृ. ८६८ ६ ।

४. वही, भा. १, पृ १६३-४ ।

५. से. बु. ई., खं. १२, पृ. ६, टि. २ ।

के ज्योति, उदक, लोक, रक्त, दिन—ये अर्थ दिये हैं। इनके मूल में √रञ्ज् (रागे) धातु मानी है।[१]

विमानः—वें०, सा०-निर्माता, मुइर, लुडविग मापने वाला (मेजरर), मक्स०-(जिसने) मापा (टु मेजर्ड), गेल्ड०-(जो) बींध देता है। (दुर्शड्रिन्त)। वि √माङ् से 'कृत्यल्युटो बहुलम्' (पा० ३।३।११३) के अनुसार कर्तरि ल्युट्। ल् इत् होने से प्रत्यय से पूर्व धातु को उदात्त (लिति—पा० ६।१।१९३)।

यं क्रन्द॑सी॒ अव॑सा तस्तभा॒ने अ॒भ्यैक्षे॑तां॒ मन॑सा॒ रेज॑माने।
यत्राधि॒ सूर॒ उदि॑तो वि॒भाति॒ कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥६॥

यम्। क्रन्द॑सी॒ इति॑। अव॑सा। त॒स्त॒भा॒ने इति॑। अ॒भि। ऐक्षे॑ताम्। मन॑सा। रेज॑माने॒ इति॑। यत्र॑। अधि॑। सूरः॑। उत्ऽइ॑तः। वि॒ऽभाति॑। कस्मै॑। दे॒वाय॑। ह॒विषा॑। वि॒धे॒म॒॥

> जिसको क्रन्दनशील उभय ने, रक्षणहेतु, स्तब्धों ने
> देखा (आदरपूर्वक) मन से कम्पमान (दोनों) ने।
> जिसके ऊपर सूर्य उदित हो भासित हो जाता है,
> किस (अन्य) देव को हवि के द्वारा करें समर्पित पूजा ? ॥

हिरण्यगर्भ अण्ड जब दो खण्डों में विभाजित हुआ तो द्यौ और पृथिवी का निर्माण उन दो खण्डों से हुआ। प्रजापति ने उन्हें अपने अपने स्थान पर अवस्थित कर दिया। परन्तु अण्ड के विभाजित होने के समय उन दोनों खण्डों में कुछ चरमराहट हुई होगी, उसी कारण द्यौ और पृथिवी को क्रन्दसी कहा गया है। उस समय अतुलित प्रकाश में दीप्त उन दोनों ने प्रजापति को पूर्ण एकाग्रता से देखा अर्थात् उसके प्रति आदर भाव प्रकट किया। उसी प्रजापति के आधार पर सूर्य उदित होता है, सूर्यरूप महा तेजःपुञ्ज का भी शासक वही है। उसी ने सूर्य की सृष्टि की और उसी ने उसे तेज प्रदान किया तथा सौर मण्डल का केन्द्र बिन्दु होने का गौरव प्रदान किया।

क्रन्दसी—वें०-द्यावापृथिव्यौ, सा०-क्रन्दितवान् रोदितवानयोः प्रजापतिरिति क्रन्दसी द्यावापृथिव्यौ। श्रूयते हि—'यदरोदीत्तदनयो रोदस्त्वम्' (तै० ब्रा० २।२।९।४) इति। स्वा० द० (वा० स० ३२।७)—स्वगुणैः श्लाघनीये सूर्य पृथिव्यौ, मुइर, लुडविग—(शोर मचाती हुई) दो सेनायें, गेल्ड०-दोनों सेना-समूह (बाइदन हीअर हाउफन), मक्स० पृथ्वी और आकाश—'क्रन्दसी' के स्थान पर 'रोदसी' पाठ अच्छा है, अथर्व० ४।२।३ का पाठ (य क्रन्द॑सी॒ अव॑तश्चस्कभा॒ने

---

२ रजो रजतेर्ज्योती रज उच्यते। उदकं रज उच्यते। लोका रजांस्युच्यन्ते। असृगहनी रजसी उच्येते।

भियसाने रोदसी अह्वयेथाम्) भी इसकी पुष्टि करता है। यह शब्द (क्रन्दसी) ऋ० में केवल दो और स्थलों पर आया है। ऋ० २।१२।८ में इन्द्र-सूक्त मे (यं क्रन्दसी संयती विह्वयेते) अधिकांश विद्वानों ने इसका अर्थ 'शोर करती हुई दो सेनायें' किया है, यद्यपि वहाँ भी 'पृथ्वी और आकाश' पूर्णतया सगत है। ऋ० ६।२५।४ में भी यह शब्द इन्द्र सूक्त मे आया है। वहाँ क्रन्दसी के 'बोलने' का उल्लेख है (वि क्रन्दसी उर्वरासु ब्रवेते)। यहाँ यदि अभिधार्थ लिया जाये तो (मा.) 'परस्पर चिल्लाते हुए दो व्यक्ति विवाद करें' या (स्वा. द.) 'मन्त्रणा करते हुए राजा और मन्त्री विशेष उपदेश करें' अर्थ होगा, अन्यथा लाक्षणिक दृष्टि से 'पृथ्वी और आकाश अनुकूल न हों' अर्थ भी सम्भव है। सम्भवतया 'क्रन्दसी' के द्वारा वह स्थिति प्रकट की गई है जब आदिम अण्ड के दो भागों मे विभक्त होने के समय चिल्लाहट जैसी चरमराहट हुई होगी।[1]

अवसा तस्तभाने—वे०-तस्य रक्षणेन विष्टभ्यमाने त्राणार्थमभिपश्यतः, सा०-रक्षणेन हेतुना लोकस्य रक्षणार्थम्, प्रजापतिना सृष्टे सद्यस्थैर्ये सत्यौ, मुइर, लुड्विग, अवस०-उसकी इच्छा से स्थिरीकृत (स्टैंडिंग फर्म बाइ हिज विल्), गेल्ड०-जो उसकी सहायता से आधार प्राप्त किये हुए हैं (दी दुर्श जाइनन बाईस्टांड आइनें स्ट्युत्से विकामन), स्वा० द०- (सबको) धारण करने वाले (सूर्य और पृथ्वी लोक) रक्षा आदि से (सबको) धारण करते हैं। राम गोपाल-अनुग्रह[2]। अवस् शब्द √अव्+असुन् से निष्पन्न हुआ है, अतः 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (पा० ६।१।१९७) से न् इत् होने से यह आद्युदात्त है। तस्तभाने शब्द √स्तम्+कानच् से बना है। यहाँ प्रत्यय का च् इत् होने के कारण 'चितः' (पा० ६।१।१६३) से अन्तोदात्त है।

रेजमाने—वें०-कम्पमाने, सा०-राजमाने दीप्यमाने, आकारस्य व्यत्ययेनैत्वम्। अदुपदेशाल्लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः। यद्वा लिटः कानच्। 'फणां च सप्तानाम्' (पा० ३।४।१२५) इत्येत्वाभ्यासलोपौ। 'छन्दस्युभयथा' इति सार्वधातुकत्वाच्छप्। अत एव'अभ्यस्तानामादिः' इत्याद्युदात्तत्वम्। सायण ने 'दीप्यमान' अर्थ करते हुए दो प्रकार से इस शब्द की रचना मानी है—एक तो √राज् दीप्तौ से सीधा शानच् प्रत्यय और तदनुसार व्यत्यय से धातु के आ का ए, दूसरे √राज् के लिट् रूप से कानच् और फिर उसमें आकार का एकार और लिट् के अभ्यास का लोप, फिर कानच् का च् इत् होने के कारण जो अन्तोदात्त प्राप्त था, उसकी बाधा के लिये पहले इसे सार्वधातुक

1. वायु पु. २४।७४—अन्ते वर्षसहस्रस्य वायुना तद्द्विधा कृतम्।
2. वै. व्या. भा. २—पृ. ८००, ३५८ (क)।

सिद्ध किया और फिर आद्युदात्तत्व । स्वा० द० चलायमान, पाश्चात्य विद्वान्-काँपते हुए । वस्तुत या (नि० ३।२१) के वचन 'भ्यसते रेजत इति भयवेपनयो' और उसके द्वारा उद्धृत ऋ० (६।६६।६) के रेजते अग्ने पृथिवी मुखेभ्यः' प्रयोग से √ रेज् के 'काँपना' अर्थ मे सन्देह नहीं रह जाता । उक्त स्थल पर स्वय सायण ने 'कम्पते' अर्थ किया है । उसमें स्वर सम्बन्धी कठिनाई भी नही रहती ।[1] मेक्डॉनल ने अपनी धातु सूची में √ रेज् के अन्य भी अनेक रूप उद्धृत किये हैं ।[2]

आपो ह यद् बृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम् ।
ततो देवाना समवर्त्ततासुरेक कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥७॥

आप । ह । यत् । बृहती । विश्वम् । आयन् । गर्भम् । दधाना । जनयन्ती । अग्निम् ।
तत । देवानाम् । सम् । अवर्तत । असु । एक । कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम ॥

सृष्टिजल पहले जब बहुत सभी (ब्रह्माण्ड) में आया,
गर्भ को धारण किये उपजाता हुआ (प्रथम) अग्नि को ।
तब देवों का हुआ प्राण (जीवन धारक) एक (ही),
किस (अन्य) देव को हवि के द्वारा करें समर्पित पूजा ॥

इस मन्त्र में उस दिव्य सृष्टिजल के महासमुद्र का वर्णन है, जिसमें कुछ भी तत्त्व पृथक् नही था और जिसमें सृष्टि का मूल कारण हिरण्यगर्भ अण्ड प्रकट हुआ । (तु० ऋ० १०।१२६।३—तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेत सलिल सर्वमा इदम ।) इस अण्ड को ही यहाँ गर्भ कहा गया है । अन्यत्र भी ऋग्वेद मे ऐसे प्रथम गर्भ धारण करने वाले जल का वर्णन है जिसमे सभी देवता मिले हुए थे ।[3] उसी जल ने इस गर्भ के रूप मे अग्नि को उत्पन्न किया था । वाजसनेयि सहिता मे भी प्रजापति द्वारा अग्नि का आहरण करते हुए जल के समुद्र सम्बन्धी गर्भ की बात कही गई है ।[4] उस हिरण्यगर्भ को ही यहाँ देवो का एक प्राण कहा गया है । ऊपर के मन्त्रो मे हम सब महान् शक्तियो के आधार भूत तत्त्व के रूप में हिरण्यगर्भ का वर्णन देख आये हैं ।

---

१ वै व्या भा २—पृ ८८०, ४१२ (क) ३—चिर् से आने वाला अन्तोदात्त गण-विकरण के कारण होने वाले स्वर-स्थान को नहीं बदलता ।

२ वै ग्रा रू —पृ ४१४—रेज् ।

३ ऋ १०।८२।६—तमिद् गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवा समगच्छन्त विश्वे ।

४ वा स ११।४६—वृषाग्नि वृषण भरन्नपा गर्भं समुद्रियम ।
विस्तृत विवरणार्थ दे भगवद्दत्तकृत वेदविद्यानिदर्शन, सप्तम अध्याय ।

बृहतीः—बड़े, महान्, लौकिक संस्कृत में प्रथमा बहु० में बृहत्य रूप बनता, परन्तु वेद में 'वा छन्दसि' (पा० ६।१।१०६) से पूर्वसवर्णदीर्घ हो गया है। बृहन्महतोरुपसंख्यानम्' (पा० ६।१।१७३ पर वार्तिक) से यह स्त्रीप्रत्ययान्त शब्द अन्तोदात्त है।

विश्वम् आयन्—वें० सर्वलोकमगच्छन्, व्याप्ता अभवन्, सा०-सर्वं जगद् व्याप्नुवन्, स्वा० द०-यद् विश्व मर्वप्रविष्ट गर्भं धारयन्त्य आप आयन् प्राप्नुवन्तु, मुइर, पीटर्सन विश्व को व्याप्त किया (पर्वेड दि युनिवर्स), लुड्विग-समस्त गर्भ को धारण किये हुए (जल) आते हैं (दी वास्मर कामन, दी आल्लन काइम इन 'जिश फास्सेन), गेल्ड०-विश्व अर्थात् संसार को गर्भ के रूप में धारण किये हुए (जल) आते हैं (..दी गेवेस्सर कामन, दास ऑल आल्स काइम एम्प्फागेंड)। निरुक्त में सर्वत्र 'विश्व' का अर्थ सर्व किया गया है। मैक्डॉनल, रामगोपाल प्रभृति वैदिक वैयाकरणों ने भी वेद में इस शब्द को केवल 'सब'—अर्थ वाला सर्वनाम माना है। अतः इसका अर्थ 'जगद्' या 'विश्व' करना उचित नहीं प्रतीत होता।

यत्, ततः—वें०-यदा तदा, सा०-यस्मात्, तस्माद्धेतो, स्वा० द०-दोनों शब्द गर्भ से सम्बद्ध—जिस गर्भ को ..उससे, सायण ने भी यही वैकल्पिक अर्थ दिया है—यद्वा, यद् य गर्भं दधाना आपो विश्वःरमनाऽवस्थिताः, ततो गर्भभूतात् प्रजापते ..। अथवा यत् लिङ्गवचनयोर्व्यत्ययः। उक्तलक्षणा या आपो विश्वमावृत्य स्थिताः ततस्ताभ्योऽद्भ्य सकाशात्। पाश्चात्य विद्वान्—जब तब।

अग्निम्—वें०-विद्युद्रूपमग्निम् सा०-मन्युपलक्षित सर्वं वियदादिभूतजातम्, मक्स०-प्रकाश (लाइट), स्वा० द०-सूर्यादिरूपमग्निम्। वस्तुतः यहाँ उस अग्नि तत्त्व के प्रति संकेत है जो विभिन्न पदार्थों में विद्यमान है।

विशेष—इस मन्त्र के तृतीय पाद में त्रिष्टुप् छन्द के अक्षरों से दो अधिक, १३ अक्षर होने के कारण इस स्वराट् त्रिष्टुप् संज्ञा दी गई है।

यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद्दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम्।
यो देवेष्वधि देव एक आसीत् कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥८॥

यः। चित्। आपः। महिना। परिऽअपश्यत्। दक्षम्। दधानाः। जनयन्तीः। यज्ञम्। यः। देवेषु। अधि। देवः। एकः। आसीत्। कस्मै। देवाय। हविषा। विधेम॥

और जिसने जल को महिमा से देखा सभी ओर से,
दक्ष को धारण करते को उत्पन्न करते यज्ञ को।
जो देवों में सबसे ऊपर देव एक था (अद्भुत),
किस (अन्य) देव को हवि के द्वारा करें समर्पित पूजा॥

प्रजाऽपते । न । त्वत् । एतानि । अन्यः । विश्वा । जातानि । परि । ता । बभूव । यत्ऽकामाः । ते । जुहुमः । तत् । नः । अस्तु । वयम् । स्याम । पतयः । रयीणाम् ॥[1]

हे प्रजापति, (सबके पालक) न तुम से इनको अन्य
सभी उत्पन्न हुए उन प्राणियों को करता व्याप्त ।
जो इच्छा से तुझे आहुति हम देते वह हमरो हो,
हम हो जावें पालक (दाननिमित्त) धनों के (तेरे) ॥

इस अन्तिम मन्त्र से स्पष्ट हो जाता है कि पूर्व के नौ मन्त्रों में जिस अनन्य देव के विषय में जिज्ञासा प्रकट की गई है, वह सब जनों का पालनकर्ता प्रजापति ही है, और कोई नहीं। वही उत्पन्न मात्र सभी प्राणियों में व्याप्त है। उससे अन्य कोई भी उनमें व्याप्त नहीं। केवल उसी से अपनी सब इच्छाओं की पूर्ति की प्रार्थना करना उपयुक्त है। 'कस्य स्विद् धनम्' इस वेद-भावना के अनुकूल ही यहाँ पति का अर्थ 'स्वामी' न करके 'पालक' करना अधिक उचित प्रतीत होता है।

मक्स म्युलर ने इस मन्त्र को अन्य मन्त्रों की जिज्ञासामय दार्शनिक भावना के आगे हल्का बताया है। उसके अनुसार इस मन्त्र के द्वारा समस्त सूक्त की उदात्तता विकृत हो गई है।[2]

प्रजापते—यद्यपि साधारणरूप से प्रजापति शब्द का पूर्वपद अपना प्रकृतिस्वर ग्रहण करता है,[3] तथापि वाक्य के आदि में 'आमन्त्रितस्य च' (पा० ६।१।१९८) सूत्र से यहाँ यह आद्युदात्त है।

विशेष—वा० सं० १०।२० और २३।६५ में इस मन्त्र में जातानि के स्थान पर रूपाणि पाठ है।

छन्द—प्रथम और चतुर्थ पाद में त्रिष्टुप् छन्द में एक एक अक्षर की कमी है। उसकी पूर्ति के लिये प्रथम पाद में सन्धिविच्छेद करके 'एतानि अन्यः', तथा चतुर्थ पाद में व्यूह करके 'रयिआम्' उच्चारण करना चाहिये। अन्यथा इसके छन्द को निचृत्-त्रिष्टुप् भी कह सकते हैं।

---

1 यह पदपाठ विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर, के स्कन्दादिभाष्य-सहित् ऋग्वेद के संस्करण में से उद्धृत है। अन्यत्र इसका पदपाठ अनुपलब्ध है।

२. से. बु. ई. खं. ३२, पृ. १२।

३ पा ६।२।१८—पत्यावैश्वर्ये।

संज्ञानम्—ऋ० १०।१९१

चार मन्त्रों वाला यह सूक्त ऋग्वेद संहिता का अंतिम सूक्त है। पहले मन्त्र का देवता अग्नि है। शेष तीनों का संज्ञान देवता है। संज्ञान का अभिप्राय समानता, मानसिक और बौद्धिक एकता है। प्रथम मन्त्र में भी अग्नि को सम्मिश्रण करने वाला या संयोजक बताया गया है। इस सूक्त के ऋषि 'संवनन आङ्गिरस' का नाम भी इसी भाव की ओर सङ्केत करता है क्योंकि संवनन का अर्थ भी संयोग है। इस सूक्त का प्रथम मन्त्र अथर्व० ६।६३।४ है और शेष तीन मन्त्र स्वल्प परिवर्तनसहित अथर्व० का ६।६४ सूक्त होते हैं। उस सूक्त का देवता या विषय 'सामनस्य' बताया गया है।

सम-भावना की प्रेरणा देने वाला यह सूक्त वेद के समतापूर्ण दृष्टिकोण का ज्वलन्त उदाहरण है। इसमें सब जनों की क्रियाओं, गति, विचारों और मन-बुद्धि के पूर्ण सामञ्जस्य की प्रेरणा दी गई है। हम यह कल्पना कर सकते हैं कि इस सूक्त में प्रार्थित समान विचारों वाली विवादरहित सभा समाज का कितना उत्कृष्ट स्वरूप प्रस्तुत करती है। सभी सभासदों का एक सा जनकल्याण का दृष्टिकोण असन्दिग्ध रूप में राष्ट्र को उन्नति की ओर ले जाता है। आज हमारे देश में, समस्त विश्व में इस भावना की और अधिक आवश्यकता है।

संसमिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ।
इळस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर ॥१॥

सम्ऽसम्। इत्। युवसे। वृषन्। अग्ने। विश्वानि। अर्यः। आ। इळः। पदे। सम्। इध्यसे। सः। नः। वसूनि। आ। भर॥

भली प्रकार निश्चय ही मिला रहे हो बलिष्ठ,
हे अग्नि, सभी को स्वामी (तुम) सभी ओर से।
(स्तुत्य) इडा की पदवी में होते हो प्रज्वलित,
वह (तुम) हमें धन लाकर दे दो (सभी ओर से) ॥

अग्नि का उल्लेख यहाँ उष्ण तत्त्व के रूप में हुआ प्रतीत होता है क्योंकि उष्णता ही विभिन्न पदार्थों और प्राणियों को भी संयोजक है। जैसे वियोग इस जीवन का अनिवार्य तत्त्व है, उसी प्रकार उससे पूर्व संयोग अवश्यम्भावी है। इस कारण अग्नि सब का स्वामी है—सबका संयोग उसके हाथ में है।

ऐसा यह स्तुत्य अग्नि प्रकाशस्वरूप है और स्तुतियोग्य परमेश्वर के स्थान पर दीप्त होता है। उसकी दीप्ति का अनुभव करके ही मनुष्य अपने आपको धन-सम्पन्न समझता है। वह निवासयोग्य धन की पूर्णता अनुभव करता है—स्वयं को पूर्ण सुरक्षित मानता है। इसीलिये उस दीप्तिमय अग्नि-तत्त्व से वह अनुभूति प्रदान करने की प्रार्थना की गई है।

अर्यः, विश्वानि—वें०-स्वामी, सा०-ईश्वरः 'अर्यः स्वाम्याख्यायाम्' (फिट्० १।१८) इत्यन्तोदात्तत्वम्। गेल्ड० ने इसे षष्ठ्यन्त मानकर अर्थ किया है—'स्वामी के भी सभी (खजानों) को पूर्णतया अधिगृहीत कर लेते हो' (आलें, (शेत्सें), आउख देस होइन हैरेंन, निम्स्त दू मान्स्म इन बेस्लाग)। 'खजाना' अर्थ सम्भवतया वें० के 'धनानि' का अनुकरण है। सा०-सर्वाणि भूतजातानि। 'अर्य' पर विस्तृत टिप्पणी के लिये दे पृ ४६।

आ सम् युवसे—वें०-सम्मिश्रयसि, सा०-आ समन्तात् सम्मिश्रयसि, देवेषु मध्ये त्वमेव सर्वाणि भूतजातानि वैश्वानरात्मना व्याप्नोषि, नान्य।

इळ पदे—वें इडाया पदे, सा०-इडायाः पृथिव्या पदे स्थाने उत्तरवेदिलक्षणे (ऐ० ब्रा० १।२।८—एतद्वा इडायास्पद यदुत्तरवेदीनाभि)। गेल्ड०-इड् के स्थान पर अर्थात् वेदी पर (औन् देअर श्टेट्टे देअर ऑप्फर-स्पेंडे)। सा ने सर्वत्र इन पदो का अर्थ 'वेदी अथवा उत्तरवेदी-रूप भूमि के स्थान पर' किया है। इस अर्थ के प्रमाण मे ऋ० १।१२८।१ के अन्तर्गत उसने तै० ब्रा० १।१।४।४ का यह उद्धरण भी दिया है—"इडा वै मानवी यज्ञानुकाशिन्यासीत्"। स्वा० द० ने इसी मन्त्र के भाष्य मे इन पदों का अर्थ 'स्तोतुमर्हस्य जगदीश्वरस्य प्राप्तव्ये विज्ञाने' दिया है। ऋ० २।१०।१ में उन्होने 'पृथिव्या स्थाने' और ऋ० ६।१।२ मे 'पृथिव्या वाचो वा पदे' अर्थ दिया है। ऋ० ५।४२।१४ के इळस्पतिम् पद प्रसङ्गानुसार स्पष्ट ही मेघ के वाचक हैं—वहाँ सा० ने 'अन्नस्य उदकस्य वा पतिम्' और स्वा० द० ने 'पृथिव्याः पालकं मेघम्' अर्थ दिया है। इड् के इन सभी अर्थों में √ईड् का मूलभाव विद्यमान है (दे० नि० ८।७ ईळ ईट्टे स्तुतिकर्मण)। वहीं इसका निर्वचन √इन्ध से भी दिया गया है (इन्धतेर्वा)। तदनुसार इड् का अर्थ 'वह पृथ्वी जो यज्ञाग्नि से प्रदीप्त होती है' या 'वह परमेश्वर जो सर्वत्र प्रदीप्त-प्रकाशित होता है' होगा।

सं ग॑च्छध्वं॒ सं व॑दध्वं॒ सं वो॒ मनां॑सि जानताम्।
दे॒वा भा॒गं यथा॒ पूर्वे॑ संजाना॒ना उ॒पास॑ते ॥२॥

सम्। गच्छध्वम्। सम्। वदध्वम्। सम्। वः। मनांसि। जानताम्। देवाः। भागम्। यथा। पूर्वे। सम्ऽजानानाः। उपऽआसते॥

साथ साथ मिलो साथ हो बोलो (हे लोगो),
साथ तुम्हारे मन (मिलकर सब बातें) जानें।
देव भाग को जैसे पहले (निर्विरोध हो)
साथ जानते हुए बरतते (सबका मानें) ॥

देवता बहुत पहले से इस बात को जानते हैं कि अग्नि मे अर्पित आहुतियाँ सबके लिये हैं। अत उनमे सघर्ष नही होता। अथवा दिव्य शक्तियो या इन्द्रियो का अधिकारभाग निश्चित है, उनमे भी सघर्ष नही होता। इसी प्रकार मनुष्यो को प्रेरणा दी गई है कि सब ससार ईश्वर द्वारा निर्मित है, उसमें सबका समान भाग है, सबका कर्तव्यभाग भी समान है, अत सबको मिलकर रहना चाहिये।

सगंच्छध्वम्—वें०, सा०-हे स्तोतार' यूयम्, सगता सम्भूता भवत। 'समो गम्यृच्छि'-(पा० १।३।२९) इत्यादिना गमेरात्मनेपदम्। स्वा० द०[1]-ईश्वरोऽभिवदति-हे मनुष्या मयोक्त न्याय्य पक्षपातरहित सत्यलक्षणोज्ज्वल धर्मं यूय सम्यक् प्राप्नुत अर्थात् तत्प्राप्त्यर्थं सर्वं विरोध विहाय परस्पर सगता भवत।

देवा भागम्—सा०-यथा पूर्वे पुरातना देवा सञ्जानाना ऐकमत्य प्राप्ता हविर्भागमुपासते यथास्व स्वीकुर्वन्ति तथा यूयमपि वैमत्य परित्यज्य धन स्वीकुरुतेति शेष। स्वा० द०[1]-यथा ये सम्यग् ज्ञानवन्तो विद्वास आप्ता' पक्षपातरहिता ईश्वरधर्मोपदेशप्रियाश्चासन् युष्मत्पूर्वं विद्यामधीत्य वर्तन्ते किं वा ये मृतास्ते यथा भाग भजनीय सर्वशक्तिमदादिलक्षणमीश्वर मदुक्त धर्मं चोपासते, तथैव युष्माभिरपि स एव धर्म उपासनीयो यतो वेदप्रतिपाद्यो धर्मो निश्शङ्कतया विदितश्च भवेत्।

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥३॥

समानः। मन्त्रः। सम्ऽइतिः। समानी। समानम्। मनः। सह। चित्तम्। एषाम्। समानम्। मन्त्रम्। अभि। मन्त्रये। वः। समानेन। वः। हविषा। जुहोमि ॥

समान हो मनन सगठन समान (हो सबका),
समान हो मन (और) साथ (हो) चिन्तन इनका।
समान मन्त्र उच्चारित करता हूँ मैं तुमको,
समान तुम्हें हवि से करता हूँ अर्पण (मन का) ॥

पिछले मन्त्र के अनुसार आचरण करने वालो के लिये अभिलाषा प्रकट की गई है कि उनका मनन, चिन्तन, मन, और तदनुरूप सगठन भी एक-समान

---

1. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, अजमेर, सं० १९९०, पृ २३।

हो। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि किसी भी सगठन या सभा में विचारों की समानता के बिना एकता स्थापित नहीं हो सकती। मैं (राजा, नेता या उपदेशक) आप सब प्रजाजनों को एक समान सम्मति देता हूँ और एक समान आहुति अर्थात् भोज्य-पदार्थ से आपका आह्वान करता हूँ।

सा०—पूर्वोऽर्धर्चं परोक्षकृत उत्तर प्रत्यक्षकृत। एषामेकस्मिन् कर्मणि सह प्रवृत्तानामृत्विजा स्तोतृणां वा मन्त्र स्तुति शस्त्रात्मको गुप्तभाषण वा समान एकविधोऽस्तु। तथा समिति प्राप्तिरप्येकरूपास्तु। 'केवलमामक' (पा० ४।१।३०) इत्यादिना समानशब्दात् ङीप्। उदात्तनिवृत्तिस्वरेण ङीप उदात्तत्वम्। तथा मन मननसाधनमन्त करण चैषां समानमेकविधमप्यस्तु। चित्त विचारज ज्ञान तथा सह सहित परस्परस्यैकार्यैनैकीभूतमस्तु। अह च व युष्माक समान॰ मेकविध मन्त्रमभि मन्त्रये। ऐकविध्याय सस्करोमि। तथा व युष्माक स्वभूतेन समानेन साधारणेन हविषा चरुपुरोडाशादिना सह जुहोमि॥ 'तृतीया च होश्छन्दसि' (पा० २।३।३) इति कर्मणि कारके तृतीया। वषट्कारेण हवि प्रक्षेपयामीत्यर्थ.॥

स्वा० द०[१]-ह मानवा यो युष्माक मन्त्रोऽर्थान्मामीश्वरमारभ्य पृथिवी-पर्यन्तानां गुप्तप्रसिद्धानामप्यगुणाना पदार्थाना भाषणोपदेशेन ज्ञान वा भवति यस्मिन् येन वा स मन्त्रो विचारो भवितुमर्हति ।...यदा बहुभिर्मनुष्यैर्मिलित्वा सदिग्धपदार्थाना विचार कर्तव्यो भवेत्तदा प्रथमत पृथक् पृथगपि सभासदा मतानि भवेयुस्तत्रापि सर्वेभ्य सार गृहीत्वा यद्यत्सर्वमनुष्यहितकारक सद्गुण लक्षणान्वितं मत स्यात्तत्तत्सर्वं ऐकमत्येन कृत्वा नित्य समाचरत। यत प्रतिदिन सर्वेषा मनुष्याणामुत्तरोत्तरमुत्तम सुख वर्धेत। तथा समिति सामाजिकनियम-व्यवस्था...समानी सर्वमनुष्यस्वतन्त्रदानसुखवर्धनायैकरसैव कार्येति। मन सकल्पविकल्पात्मक ..युष्माक मन समानमन्योन्यमविरुद्धस्वभावमेवास्तु। यच्चित्त पूर्वापरानुभूत स्मरणात्मक धर्मेश्वरचिन्तन तदपि समानमर्थात् सर्व-प्राणिना दु खनाशाय सुखवर्धनाय च स्वात्मवत् सम्यक् पुरुषार्थेनैव कार्यम् सह युष्माभि परस्परस्य सुखोपकारायैव सर्वं सामर्थ्यं योजनीयम्। ये ह्येषा सर्व-जीवाना मङ्गं स्वात्मवद्वर्तन्ते तादृशाना परोपकारिणा परसुखदातॄणामुपर्यह कृपालुर्भूत्वा अभिमन्त्रये व युष्मान् पूर्वपरोक्त धर्ममाज्ञापयामि। हविर्दान ग्रहण च तदपि सत्येन धर्मेण युक्तमेव कार्यम्। तेन समानेनैव हविषा वो युष्मान् जुहोमि सत्यधर्मेण सहैवाह सदा नियोजयामि। अतो मदुक्त एव धर्मो मन्तव्यो नान्य इति।

---

१ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, अजमेर, स १६६०, पृ ३४।

र्थे —समान. मन्त्र समिति समानी युष्माक, समान मन. चित्त च अनु-
ध्यानसाधन सह भवतु एषा युष्माकमिति । समान मन्त्रमभ्युच्चारयामि युष्माक.
न सङ्गता स्यात । तथानेन हविषा युष्माक जुहोमीति ।

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥४॥

मानी । व । आऽकूति । समाना । हृदयानि । व । समानम् । अस्तु । व । मन । यथा ।
वः । सुऽसह । असति ॥

समान तुम्हारा सङ्कल्प (सबका हितकर हो),
समान (हों) हृदय तुम्हारे (पीडा को समझें) ।
समान हो तुम्हारा मन (समभाव रहो तुम),
जिससे तुम्हारी शोभन सङ्गति हो (जनहित मे) ॥

एक जैसा सङ्कल्प मन मे लेकर जब सब मनुष्य कार्य करेंगे और उनके मन और हृदय समान होंगे तो कल्पना की जा सकती है कि कितना सुन्दर सामञ्जस्य समाज मे होगा और वह समाज कितनी प्रगति करेगा । ऋग्वेद के अन्तिम सूक्त की यह पुनीत भावना युग युगो तक सामाजिक मानव-मन को अनुप्राणित करती रहेगी।

आकूति —सा०-सङ्कल्पोऽध्यवसाय, स्वा० द०-अध्यवसाय, उत्साह, आप्तरीतिर्वा—शुभगुणानामिच्छा काम, तत्प्राप्त्यनुष्ठानेच्छा सकल्पः । ऋ० १०।१२८।४ पर सा०-सङ्कल्पनमभीष्टस्य प्रार्थनम्, गेल्ड०—सङ्कल्प (फोरहाबन)।

सुसहासति—सा०-यथा युष्माक शोभन साहित्यम् असति भवति, तथा समानमस्त्वित्यन्वय, असति √अस् से लट् लकार मे 'बहुल छन्दसि' से शप् के लुक् का अभाव, स्वा० द०-हे मनुष्याः, युष्माक यथा परस्पर सुसहायेन स्वस्ति सम्यक् सुखोन्नति स्यात्तथा सर्वे प्रयत्नो विधेय. । सम्भवतया स्वा० द० ने असति को √अस् से लेट् लकार का रूप माना है, ति से पूर्व अकार अट् का है (लेटोऽडाटौ—पा० ३।४।९४)।

शिवसङ्कल्पसूक्तम्—वा० सं० ३४।१-६

(महीधर—षड्चस्त्रिष्टुभो मनोदेवत्याः शिवसङ्कल्पदृष्टाः)।

जहाँ ऋग्वेद का सम्बन्ध ज्ञान से माना जाता है, वहाँ यजुर्वेद का सम्बन्ध कर्म से बताया जाता है। वैदिक श्रौत यज्ञों में ऋग्वेद के पुरोहित 'होता' का कार्य केवल मन्त्रो का ज्ञानपूर्वक उच्चारण है, और यजुर्वेद के पुरोहित 'अध्वर्यु' का कार्य समस्त यज्ञ की व्यवस्था करना है। अध्वर्यु के इस कार्य मे गति और क्रिया अधिक अपेक्षित है। इसीलिये श० ब्रा० १०।३।५।१-२ में यजु का निर्वचन यत् (√इ+शतृ) और √जू (वेग होना) से किया गया है। निरुक्त (७।१२) में इसे √यज् से निष्पन्न माना है। इस धातु का मुख्य अर्थ 'यज्ञ, पूजा करना' है।

यजुर्वेद की दो प्रमुख शाखायें है—शुक्ल यजुर्वेद और कृष्ण यजुर्वेद। कृष्ण यजुर्वेद को कृष्ण (काला) कहने का प्रमुख कारण यह है कि उसमे मन्त्रों के साथ साथ उनकी व्याख्या तथा विधिवाक्यों और अर्थवाद के रूप मे ब्राह्मण अंश भी दिया गया है। शुक्ल यजुर्वेद की संहिता को वाजसनेयि संहिता (वा० सं०) भी कहते हैं। परम्परागत आख्यान के अनुसार महर्षि याज्ञवल्क्य ने वाजी (सूर्य) की उपासना करके इस वेद का शुद्ध ज्ञान प्राप्त किया, अतः इसका नाम वाजसनेयि-संहिता है।[1]

इसकी माध्यन्दिन और काण्व, दो शाखायें उपलब्ध हैं। इनमें से माध्यन्दिन शाखा का प्रचलन अधिक है। अधिकांश विद्वानो के अनुसार यह समस्त संहिता यज्ञ-परक है, क्योंकि इसमे मन्त्रो का क्रम दर्श-पौर्णमास प्रभृति यागो मे विनिर्दिष्ट क्रम ही है। किन्तु अनेक स्थलो पर उव्वट महीधर के भाष्यो से ज्ञात होता है कि यज्ञपरक अर्थ करने के लिये शब्दो के साथ खींचतान करनी पड़ी है।[2] इसके अतिरिक्त इस संहिता का चालीसवां अध्याय (ईशोपनिषद्) और मन सम्बन्धी प्रस्तुत मन्त्र (वा० सं० ३४ १-६) इस संहिता की आध्यात्मिकता के अत्यन्त स्फुट निदर्शन है। ये मन्त्र मनो-विज्ञान का सार

---

१. एवं स्तुत. स भगवान् वाजिरूपधरो हरि॰ ।
यजूंष्ययातयामानि मुनयेऽदात् प्रसादित॰ ॥ भागवतपुराण १२।६।७३

२. वा सं. १।१ में 'वायव स्थ' पर महीधर—वा गतिगन्धनयोः, वान्ति गच्छन्ति इति वायवो गन्तारः। हे वत्सा., यूयं वायव. स्थ मातृभ्य' सकाशादन्यत्र गन्तारो भवत।

प्रस्तुत करते हैं। प्रत्येक मन्त्र मे मन के शिवसङ्कल्प होने की प्रार्थना के आधार पर इस मन्त्रसमूह को 'शिवसङ्कल्प-सूक्त' नाम से भी अभिहित किया जाता है। मनो विज्ञान के मूलभूत गूढ तत्त्व इस सूक्त मे अत्यन्त काव्यमयी भाषा मे रखे गये हैं। इन मन्त्रो का सार यह है कि मन इस विश्व मे बहुत बडी शक्ति है। ये मन्त्र ऋ० १०।१६६ के पश्चात् पठित खिल सूक्त ४।११ में भी आये हैं। वहाँ इनका क्रम भिन्न है तथा इनके अतिरिक्त और भी बहुत से मन्त्र हैं।

यज्जाग्र॑तो दू॒रमु॒देति॒ दैव॒ तदु॑ सु॒प्तस्य॒ तथै॒वैति॑।
दू॒र॒ङ्ग॒मं ज्योति॑षां॒ ज्योति॒रेकं॒ तन्मे॒ मनः॑ शि॒वस॑ङ्कल्पमस्तु ॥१॥

जो जागते हुए का दूर चला जाता है दिव्य,
वही सोते हुए का उसी प्रकार चला जाता है।
दूरगामी ज्योतियों में ज्योति एक (है अपरिमित)
वह मेरा मन कल्याणकर निश्चय वाला होवे ॥

मनुष्य का मन सबसे अधिक प्रभावशाली है। इसकी शक्ति अपरिमित है, अत. यह दिव्य है। मनुष्य के सोते होने पर भी मन का गतिशील होना अवचेतन मन की ओर सकेत करता है। जिस प्रकार बडी ज्योतियो (ग्रहनक्षत्रो) से मनुष्य का जीवन प्रभावित होता है, उसी प्रकार मन से भी होता है। साररूप मे कह सकते हैं कि मनुष्य वह है जो उसका मन है। यदि प्रत्येक व्यक्ति के मन में कल्याण की भावना आ जाये, तो सारे ससार का चित्र परिवर्तित हो जाये।

उ॒देति॑—महो.-उद्गच्छति, चक्षुराद्यपेक्षया मनो दूरगामीत्यर्थ।

दैव॑म्—उ.-देवो विज्ञानात्मा, सोऽनेन गृह्यत इति दैवम्। महो.-दीव्यति प्रकाशते देवो विज्ञानात्मा तत्र भव दैवमात्मग्राहकमित्यर्थ.—'मनसैवानुद्रष्टव्य-मेतदप्रमय ध्रुवम्' इति श्रुते।

तदु॑—उ.-तत् स्थाने यदो वृत्ति, उकार समुच्चयार्थीय (और जो)।

दू॒र॒ङ्ग॒मम्—महो०—दूरात् गच्छतीति दूरङ्गमम् खच्प्रत्यय। अतीतानागत-वर्तमानविप्रकृष्टव्यवहितपदार्थानां ग्राहकमित्यर्थ।

ज्योति॑षां॒ ज्योति॒रेक॑म्—महो० ज्योतिषां प्रकाशकाना श्रोत्रादीन्द्रियाणा-मेकमेव ज्योति प्रकाशक प्रवर्तकमित्यर्थ। प्रवर्तितान्येव श्रोत्रादीन्द्रियाणि स्व-विषये प्रवर्तन्ते। आत्मा मनसा सयुज्यते मन इन्द्रियेणेन्द्रियमर्थेनेति न्यायोक्ते-र्मन सम्बन्धमन्तरा तेषामप्रवृत्ते.।

शि॒वस॑ङ्कल्पम्—उ०-सकल्प काममूलपदार्थस्य ध्यादे गुरूपनाशानवत कामप्रभृति शान्तसकल्पम्। महो०-शान्तसकल्पम्—शिव कल्याणकारी धर्म-

विषय सकल्पो यस्य तत् तादृश भवतु—मन्मनसि सदा धर्म एव भवतु न कदाचित् पापमित्यर्थ ।

येन् कर्मा॑ण्यपसो॑ मनी॒षिणो॑ य॒ज्ञे कृ॒ण्वन्ति॑ वि॒दथे॑षु॒ धीरा॑. ।

यद॑पू॒र्वं य॒क्षम॒न्त॰ प्र॒जानां॒ तन्मे॒ मन॑: शि॒वस॑ङ्कल्पमस्तु ॥२॥

जिसके द्वारा (सभी) कर्म कर्मशील मनीषी
यज्ञ मे करते हैं ज्ञानप्रसङ्गों मे (भी) बुद्धिमान् ।
जो अपूर्व पूज्य भीतर सब प्रजाजनों के (है)
वह मेरा मन कल्याणकर निश्चय वाला होवे ॥

जितने भी कर्म साधारण जनो स लेकर अत्यन्त मेधावी जन करते हैं वे सब मन के द्वारा, उसकी सहायता से ही करते हैं। चित्त की एकाग्रता के बिना अभीष्ट कार्य की सिद्धि नही हो सकती । सभी प्राणियो के भीतर विद्यमान यह महाशक्ति, अग्रिम स्थान को प्राप्त है । सभी इन्द्रियों आदि से पूर्व मन विद्यमान था । यह भी कह सकते हैं कि किसी इन्द्रिय की सूक्ष्मातिसूक्ष्म क्रिया के सञ्चालनार्थ चेतन अथवा अवचेतन मन से सङ्केत प्राप्त होना अनिवार्य है, उसके बिना पलक झपकने जैसी क्रिया भी असम्भव है ।

अपस.—कर्मशील, अपस् शब्द अन्तोदात्त होने पर विशेषण (कर्मशील) होता है। आद्युदात्त होने पर यह सज्ञा-पद (कर्म) होता है। महीं०-अप इति कर्मनाम । अपो विद्यते येषा ते अपस्विन कर्मवन्त , 'अस्मायामेधास्रजो विनि (पा० ५।२।१२१) इति विन्प्रत्ययः 'विन्मनोर्लुक्' इतीष्ठाभावेऽपि छान्दसो विनो लुक् (पा० ५।३।६५), सदा कर्मनिष्ठा इत्यर्थ ।

कृ॒ण्वन्ति॑—√कृ स्वादि० परस्मै० लट्० प्र० पु० बहु०, वाक्य मे 'यत्' (येन) का प्रयोग होने के कारण 'आद्युदात्तश्च' (पा० ३।१।३) से प्रत्यय 'अन्ति' का आदि उदात्त है ।

वि॒दथे॑षु—उ०-वेदनेषु यज्ञविधिविधानेषु, महीं० ज्ञानेषु सत्सु विद्यन्ते तानि विदथानि तेषु । वेत्तेरौणादिकोऽथप्रत्यय, प्रत्ययोदात्तत्वेन मध्योदात्त पदम् 'आद्युदात्तश्च' (पा० ३।१।३) इति पाणिन्युक्तेः यज्ञसम्बन्धिना हविरादिपदार्थाना ज्ञानेषु सत्स्वित्यर्थ । यास्क (नि० १।७) ने ऋ. २।११।२१ के अन्तर्गत 'विदथे' का अर्थ 'स्वे वेदने' किया है। 'वेदने' का अर्थ अधिकाश भाष्यकारो ने 'गृहे' या 'यज्ञे' दिया है। परन्तु यास्क ने स्वय अन्य स्थलो (यथा नि० ३।१२ मे विदथा-वेदनेन, नि० ६।७ मे विदथानि वेदनानि) पर जो 'वेदन' अर्थ दिया है उससे भाष्यकारो ने 'ज्ञान' ही समझा है। अत अधिकतर इस शब्द का 'ज्ञान' अर्थ ही यास्क को अभिप्रेत प्रतीत होता है। सायण ने (१) ऋ० १।३१।६ के

अन्तर्गत 'विदथे' का अर्थ 'कर्मणि' दिया है और (२) ऋ० १।४०।६ के अन्तर्गत 'विदथेषु' का अर्थ 'यज्ञेषु' देते हुए उसका निर्वचन इस प्रकार किया है—विद ज्ञाने, विद्यते फलसाधनत्वेन ज्ञायते इति विदथो यज्ञः, 'रुविदिभ्यां कित्' (उणादि० ३।३९५) इति अथप्रत्ययः। (३) ऋ० १।१४३।७ के अन्तर्गत सा. ने 'विदथेषु' की व्याख्या 'यज्ञेषु वेदयत्सु स्तोत्रेषु निमित्तभूतेषु' की है। स्वा. द. ने उपर्युक्त प्रथम स्थल पर 'धर्म्ये युद्धे-यज्ञे' अर्थ किया है क्योंकि निघ० ३।१७ में विदथ शब्द संग्राम के नामों में आया है। द्वितीय स्थल पर उन्होंने नि० ६।७ के भाष्य पर 'विज्ञानेषु पठनपाठनव्यवहारेषु कर्तव्येषु सत्सु' अर्थ किया है। तृतीय प्रसंग में फिर 'संग्रामेषु' अर्थ दिया गया है। अर. के अनुसार इसका अर्थ 'ज्ञान' अथवा 'ज्ञान का अन्वेषण' (नॉलिज, डिस्कवरी ऑफ नॉलिज) है।[1] पी. ने इस शब्द पर टिप्पणी देते हुए[2] इसका निर्वचन वि √धा (बाँटना, व्यवस्थित करना, विधान करना) से माना है। इस मूल धात्वर्थ के अनुसार वैदिक ऋषियों के विचार में सर्वाधिक कृत्रिम रूप से 'विहित' वस्तु का प्रमुख उदाहरण 'यज्ञ' था। अत 'यज्ञ' और 'विधान' लगभग पर्याय हो गये। अन्तत. 'विदथ' का अर्थ 'किसी काय को निबटाना' जैसा प्रतीत होता है। अत 'विदथ' और 'सभा' शब्दों के अर्थ एक दूसरे के निकट आते प्रतीत होते हैं। इसी आधार पर सम्भवतया पी तथा अन्य पाश्चात्य विद्वानों ने इस शब्द का अर्थ 'सभा' (असेम्बली) किया है। किन्तु स्पष्ट ही √विद् (जानना) से व्युत्पन्न दिखाई देने वाले इस शब्द के लिये 'वि √धा' की कल्पना करना अनावश्यक है। इसका अर्थ 'ज्ञान,-ज्ञानसत्र,-ज्ञान-प्रसङ्ग,—ज्ञान या विचारविमर्श का स्थल' अधिक उचित प्रतीत होता है। इस मन्त्र में यज्ञ और विदथ शब्दों के एक साथ आने से उनका भिन्नार्थक होना निश्चित प्रतीत होता है।

अपूर्वम्—महो०-न विद्यते पूर्वमस्मिन् यस्मात्तदपूर्वम् इन्द्रियेभ्यः पूर्वं मनसः सृष्टेः। यद्वा अपूर्वमनपरमबाह्यमित्युक्तेरपूर्वम्। आत्मरूपमित्यर्थः।

यक्षम्—उ०-पूज्यम्, महो० यष्टुं शक्तं यक्षम्, यजतेरौणादिकः सन्प्रत्ययः।

अन्त.—इस पद के अन्त में रिफित विसर्जनीय होने के कारण पदपाठ में 'इति' लगाकर इसकी चर्चा अर्थात् द्विरुक्ति की गई है। महो०-इदं मनः प्राणिमात्रमन्तः शरीरमध्ये आस्ते इतरेन्द्रियाणि बहिःष्ठानि मनस्त्वन्तरिन्द्रियमित्यर्थः।

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः...॥३॥

---

1. श्री भारोविन्दास वैदिक ग्लॉसरी, पृ. ३५०-५१।
2. हिम्स फ्राम दि ऋग्वेद, पृ. १००, द. ग्रो व., वैदिक हिम्स, भाग २, पृ. २६-७, मक्स वैदिक हिम्स, भाग १, पृ. ३८५-५०।

जो प्रज्ञा और (जो) चिन्तन औ' धारणशक्ति (है),
जो ज्योति भीतर अमर (है) सब प्रजाजनों मे ।
जिसके नहीं बिना कुछ भी कर्म किया जाता है,
वह मेरा मन कल्याणकर निश्चय वाला होवे ।।

सर्वोच्च तथा गूढ तत्त्व के रूप मे मन मनुष्य की उच्चतम श्रेष्ठ शक्तियो पर नियन्त्रण करने वाला होता है। और उन शक्तियो को सबसे प्रखर रूप मे वही व्यक्ति प्राप्त कर सकता है जिसका मन पूर्णतया नियन्त्रित है। वह मन ही मानो सब प्राणियो मे सब तत्त्वो को प्रकाशित करने वाली ज्योति है। यदि मन की प्रवृत्ति नहीं हो तो अत्यन्त दक्ष पुरुष भी कुछ कार्य नहीं कर सकता। कुछ भी करने के लिये चित्त की एकाग्रता अनिवार्य है।

प्रज्ञानम् चेत , धृति —उ०-विशेषप्रतिपत्तिप्रज्ञानम्, सामान्यप्रतिपत्तिचेत , धृतिश्च प्रसिद्धा, महो विशेषेण ज्ञानजनकम् प्रकर्षेण ज्ञायते येन तत् प्रज्ञानम्, 'करणाधिकरणयोश्च' (पा० ३।३।११७) इति करणे ल्युट्प्रत्यय चेतयति सम्यक् ज्ञापयति तच्चेत , 'चिती सज्ञाने' अस्मात् धात्वादसुन्प्रत्यय । सामान्य-विशेषज्ञानजनकमित्यर्थ । यच्च मनो धृतिर्धैर्यरूपम् । मनस्येव धैर्योत्पत्तेर्मनसि धैर्यमुपचर्यते कार्यकारणयोरभेदात् । ऋग्वद में(खिल सूक्त ४।११ को छोडकर) 'प्रज्ञानम्' और 'धृति' शब्दो का अभाव है। हाँ, 'प्रज्ञातार' शब्द केवल एक बार (१०।७८।२ मे) आया है। चेतस् शब्द ऋग्वेद मे कुल छ बार आया है और इन सभी स्थलो पर इसका प्रयोग तृतीयान्त रूप 'चेतसा' मे हुआ है। इससे ऐसा सकेत मिलता है कि चेतस् अधिकतर करण के रूप मे माना जाता था। तदनुसार चेतस् (मन) तत्त्वों को जानने, समझने वाला तत्त्व है।[1] शुक्ल यजुर्वेद के प्रस्तुत मन्त्र मे ये तीनो शब्द प्रथम बार एक साथ आये हैं। इससे इनके भावों मे सूक्ष्म भेद ऋषि को अभीष्ट है। प्रज्ञान वस्तुत. मन की सर्वोत्कृष्ट स्थिति है जिसमे आत्मानुभूति के आनन्द मे उसे और कुछ ज्ञातव्य नहीं रहता। 'जो कुछ स्थावर और जगम है प्रज्ञा ही उसकी दृष्टि है प्रज्ञान मे प्रतिष्ठित है, लोक की दृष्टि प्रज्ञा है, प्रज्ञा प्रतिष्ठा है, प्रज्ञान ब्रह्म है।'[2] इस रूप मे मन और बुद्धि का परमोत्कर्ष एक हो गए हैं। चेतस् शब्द का सम्बन्ध 'चिन्तन करना, जानना, समझना' क्रियाओ से है। इसका निर्वचन 'चित्त' के समान ही √चित् (सज्ञाने) से किया जा सकता है—चेतति अनेन

---

१ शु ऋ ५।७३।६—ध्रुवोर्विश्चिकेतति नरा सुम्नेन चेतसा ।
ऋ ६।८६।४२—सा पश्य मह्यं हरिह्रय तो मह प्र चेतसा चेतयते अनुद्युभि ।

२ एतरेय उपनिषद्—३।३, सर्वं तत्प्रज्ञानत्र प्रज्ञाने प्रतिष्ठित प्रज्ञानेत्रो लोक प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञान ब्रह्म ।

मर्यादा। धृति मन की धारणशक्ति है। यह 'धी' भी कही जा सकती है। इसमे √धृ (धारणार्थक) बहुत स्पष्ट है। गीता के प्रयोग मे भी इसके उपर्युक्त अर्थ की पुष्टि होती है।[1] इसी प्रकार अमरकोष मे जहाँ धृति के धारण और धैर्य दोनो पर्याय दिये गये हैं (धृतिर्धारणधैर्ययोः), वहाँ भी धारण मन की धारण शक्ति ही प्रतीत होती है।

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥४॥

जिससे यह (सब) भूत वर्तमान (और) भविष्य (भी)
नियन्त्रित है अमर के द्वारा सब कुछ (कण एक एक)।
जिससे यज्ञ किया जाता है सात पुरोहित वाला
वह मेरा मन कल्याणकर निश्चय वाला होवे ॥

मन का और उससे उत्पन्न कामना का सृष्टि के क्रम मे बहुत महत्व है। प्रजापति में सृष्टि करने मे पूर्व एक से बहुत होने की कामना उत्पन्न होती है।[2] मन के प्रथम वीर्यरूप काम का अस्तित्व सृष्टि के आरम्भ मे बताया गया है।[3] इस प्रकार स्वाभाविक रूप से सृष्टि मे सहायक मन अपने उत्कृष्टतम रूप मे अमर भी है और भूत, वर्तमान, भविष्य का नियामक भी। अन्यथा भी तीनो कालों मे मनुष्य जो कुछ करता है, वह उसके चेतन अथवा अवचेतन मन के चिन्तन का परिणाम है। यह मन ही सात ज्ञानेन्द्रियों, प्राणों रूपी पुरोहितो वाला (श० ब्रा० ६।१।१—प्राणा वा ऋषय) जीवन-यज्ञ करवाता रहता है। मन को इन्द्रियों रूपी घोडो की लगाम बताया ही गया है (कठोपनिषद्-इन्द्रियाणि हयानाहु मन प्रग्रहमेव च)। अथवा अग्निष्टोम (सातपुरोहितो वाला) यज्ञ करना हो तो उसमे भी मन की एकाग्रता आवश्यक है।

परिगृहीतम्—महो०-परित सर्वतो ज्ञातम्, त्रिकालसम्बद्धवस्तुषु मनः प्रवर्तत इत्यर्थ। श्रोत्रादीनि तु प्रत्यक्षमेव गृह्णन्ति।

अमृतेन महो०-शाश्वतेन, मुक्तिपर्यन्त श्रोत्रादीनि नश्यन्ति मनस्त्वनश्वरमित्यर्थ।

सप्तहोता—महो०-सप्त होतारो देवानामाह्वातारो होतृमैत्रावरुणादयो यत्र स सप्तहोता। अग्निष्टोमे सप्त होतारो भवन्ति।

---

1. गीता १८।३३—धृत्या यया धारयते मन प्राणेन्द्रियक्रिया।
   योगेनाव्यभिचारिण्या धृति सा पार्थ सात्त्विकी ॥
2. प्रजापतिरकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति। ताण्ड्यमहाब्राह्मण, २।२।५।
3. कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथम यदासीत्। ऋ० १०।१२९।४

यस्मिन्नृचः साम यजूँषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः ।
यस्मिँश्चित्तँ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥५॥

जिसमें (रहीं) ऋचायें साम, यजुष (भी) हैं जिसमें
सुस्थित रथ (-चक्र) के केन्द्र (-बिन्दु) में यथा अरायें ।
जिस पर (हो) चित्त सभी बुना है प्रजाजनों का
वह मेरा मन कल्याणकर निश्चय वाला होवे ॥

ऋचायें साम और यजुष् तीनों प्रमुख विद्याओं या ज्ञान-मात्र के प्रतीक हैं। समस्त विद्यायें इस मन पर उसी प्रकार आधारित हैं जैसे किसी यान के चक्र के केन्द्र से सब अरायें जुड़ी रहती हैं। जब तक मन एकाग्र न हो, मनुष्य कोई भी विद्या ग्रहण नहीं कर सकता। इसी कारण कहा गया है कि प्राणियों का समस्त चित्त अर्थात् ज्ञान विज्ञान, चिन्तन मन में मानो बुना हुआ है। सब ज्ञान मन में उसी प्रकार गुंथा रहता है जैसे वस्त्र के तन्तु एक दूसरे में गुंथे होते हैं।

प्रतिष्ठिता—मही०-प्रतिष्ठितानि। मनसः स्वास्थ्ये एव वेदत्रयीस्फूर्तेर्मनसि शब्दमात्रस्य प्रतिष्ठितत्वम् 'अन्नमयं हि सोम्य मन' इति छान्दोग्ये मनस एव [illegible] वर्णोच्चारणशक्तिः प्रतिपादिता। तत्र दृष्टान्तः। यथा अरा रथचक्रनाभौ मध्ये प्रतिष्ठिता तद्वच्छब्दजातं मनसि।

चित्तम्—उ०-संज्ञानम्, मही० ज्ञानं सर्वपदार्थविषयि ज्ञानम्।

ओतम्—निक्षिप्तम्, मनःस्वास्थ्ये एव ज्ञानोत्पत्तिर्मनोवैकल्ये ज्ञानाभाव

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव ।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥६॥

अच्छा सारथि घोड़ों को जैसे जो मनुजों को
ले जाता सतत, रास से अभिमुख को मानो ।
हृदयप्रतिष्ठित जो जरारहित वेगवान् सबसे (जो)
वह मेरा मन कल्याणकर निश्चय वाला होवे ॥

मन एक ऐसा कुशल सारथि है, जिसके वश में मनुष्यरूपी घोड़े निरन्तर रहते हैं। जिस प्रकार लगाम के द्वारा सारथि घोड़ों को इच्छानुसार ले जाता है, उसी प्रकार मन भी मनुष्यों से सब कार्य करवाता है। मन बहुत प्रबल है। गीता में इसके लिये 'प्रमाथि, बलवद्, दृढम्' विशेषण आये हैं। और यह मन कहीं बाहर से प्रभाव नहीं डालता। यह तो मनुष्यों के हृदय में प्रतिष्ठित अर्थात् भीतर ही है। शरीर के जराग्रस्त होने पर भी यह जराग्रस्त नहीं

होता। मन का सबसे वेगवान् होना सुविख्यात है। केवल ब्रह्म मन से अधिक वेगवान् है—मनसो जवीय (ईशोपनिषद्-४)।

सुषारथि.—उ०-कल्याणसारथि महो० शोभन सारथिः, यह स्वरविषयक अपवाद का उदाहरण है। पाणिनि (६।२।१९५—सोरवक्षेपणे) के अनुसार सु के साथ तत्पुरुष समास केवल निन्दा के अर्थ में अन्तोदात्त हो सकता है। परन्तु यहाँ अन्तोदात्त होते हुए भी यह प्रशंसा के अर्थ में है। वै. स्व. म., पृ. १५२

मनुष्यान्—वाजसनेयिप्रातिशाख्य १।१११-एकपदे नीचपूर्वं सयवौ जात्य। जब एक ही पद में अनुदात्त स्वर के अनन्तर आने वाले यकारान्त, वकारान्त संयुक्ताक्षर के स्वर पर स्वरित चिह्न हो तो वह 'जात्य स्वरित' होता है।

नेनीयते—निरन्तर ले जाता रहता है, महो.-अत्यर्थम् इतस्ततो नयति। √नी यङ्, लट् प्र० पु० एक०।

हृत्प्रतिष्ठम्—महो० हृदि प्रतिष्ठा स्थितिर्यस्य तत्, हृद्येव मन उपलभ्यते। यहाँ बहुव्रीहि समास होते हुए उत्तरपद का आद्यक्षर उदात्त होना अपवादात्मक है—(पा० ६।२।१९९ पर कारिका—परादिश्च परान्तश्च''')।

अजिरम्—महो०-जरारहित बाल्ययौवनस्थविरेषु मनसस्तदवस्थत्वात्।

जविष्ठम्—उ०-अतिशयेन गन्तृ, महो०-अतिवेगवत्, 'न वै वातात्किञ्चना शीयोऽस्ति न मनसः किञ्चनाशीयोऽस्ति' इति श्रुते।

वा. सं. २२।२२

शुक्लयजुर्वेद में से उद्धृत यह मन्त्र वेद के सर्वोदयात्मक सर्वाङ्गपूर्ण उदार दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है। इसे वेद का 'राष्ट्रीय गीत' भी कहा जाता है। स्वस्थ, सुखी, समृद्ध राष्ट्र के लिये जो कुछ भी मूलतः अपेक्षित है, उस सबकी अभिलाषा इसमें अभिव्यक्त की गई है। शारीरिक बौद्धिक और प्राकृतिक—तीनों रूपों में समस्त राष्ट्र को समृद्ध होना चाहिये।

आ ब्रह्म॑न् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्च॒सी जा॑यतामा रा॒ष्ट्रे रा॑ज॒न्यः॑ शूर॑ इष॒व्यो॒ऽतिव्या॒धी म॑हार॒थो जा॑यतां॒ दोग्ध्री॑ धे॒नुर्वोढा॑न॒ड्वाना॒शुः सप्तिः॒ पुर॑न्धि॒र्योषा॑ जि॒ष्णू र॑थे॒ष्ठाः स॒भेयो॒ युवा॒स्य यज॑मानस्य वी॒रो जा॑यतां निका॒मे नि॑कामे नः प॒र्जन्यो॑ वर्षतु॒ फल॑वत्यो न॒ ओष॑धयः पच्यन्तां योगक्षे॒मो नः॑ कल्पताम्॥

सब ओर हे ब्रह्म ! ब्राह्मण ब्रह्मतेज से युक्त जन्म ले,
सब ओर राष्ट्र में क्षत्रिय, वीर, बाण में कुशल,
(शत्रु को) अत्यधिक विद्ध करने वाला महारथी जन्म ले,
दुधारू गाय सवत्सा, वाहक बैल, द्रुतगामी घोड़ा (हो),
समृद्धियुक्त नारी, विजयी (जन) रथ पर सुस्थित,
सभ्य, युवा इस यजमान का वीर (पुत्र) ले जन्म,
इच्छा के अनुकूल हमारी मेघ वृष्टि (सदा) दे,
फलवती हमारी ओषधियाँ पकें (निरन्तर),
(विविधवस्तु की) प्राप्ति-रक्षा हमारी बनी रहे ॥

पढ़ने पढ़ाने वाले, तेजस्वी विचारक व्यक्ति सुदृढ़ राष्ट्र का आधार हैं, उसकी अमूल्य निधि हैं, अतः सर्वप्रथम उनके लिये प्रार्थना की गई है। किन्तु साथ ही उनकी रक्षा के लिये क्षत्रियों अर्थात् कुशल सैनिकों का होना अत्यन्त आवश्यक है। अरक्षा के वातावरण में चिन्तनसम्बन्धी गतिविधियाँ असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो जाती हैं—'शस्त्रेण रक्षिते राज्ये शास्त्रचर्चा प्रवर्तते'। और सैनिकों के स्वास्थ्य की रक्षा के लिये कृषकों, वैश्यों आदि के द्वारा पुष्टिकारक दूध, अनाज आदि का विपुल उत्पादन आवश्यक है। इस उत्पादन से बैल घोड़े आदि उपयोगी पशुओं को भी लाभ होता है। यदि गृहलक्ष्मी समृद्ध होगी, तभी वह अर्थव्यवस्था के मूलाधार घर को सुचारु रूप से सम्भाल सकेगी। राष्ट्र में यजमान अर्थात् ईश्वर में श्रद्धाभाव रखने वाले एवं दानी व्यक्ति निस्सदेह सभी अभिलषित तत्त्वों की पूर्ति में सहायक होते हैं। प्रकृति का सहयोग अर्थात् समय पर आवश्यक मात्रा में वृष्टि का होना और प्रचुर मात्रा में अनाज का होना भी राष्ट्र के लिये आवश्यक है। और अन्त में आवश्यक है योगक्षेम अर्थात् आवश्यकतानुरूप वस्तुओं की प्राप्ति और प्राप्त वस्तुओं की रक्षा।

ब्रह्मवर्चसी—उ०, मही०-वेदाध्ययनशील।

इषव्यः—उ०, मही०-इषुभिर्विध्यति इति, यद्वा इषौ कुशल इति।

महारथः—बहुव्रीहि समास के अन्तोदात्त स्वर के लिये वा० सं० ३४।६ के अन्तर्गत 'हृत्प्रतिष्ठम्' पर टिप्पणी देखिये।

पुरंधिः—मही०-पुरं शरीरं सर्वगुणसम्पन्नं दधाति—रूपवती। यास्क (नि० ६।१३) ने इस शब्द का अर्थ 'बहुधी' किया है। स्पष्ट ही यहाँ निर्वचन पुरु (बहुत) और धी से किया गया है। यहाँ यह पुल्लिङ्ग है और यास्क ने इससे 'भग' का अभिप्राय लिया है। विकल्प में इसका अभिप्राय 'इन्द्र' भी माना है और निर्वचन 'पुरां दारयितृतम' (नगरों को अत्यधिक तोड़ने वाला) किया

है।[1] नि० १२।३० में 'पुरन्ध्या' का अर्थ 'स्तुत्या' दिया गया है। दुर्गभाष्य म इसका भाव इस प्रकार स्पष्ट किया गया है —पुरुधिया बहुपुम्या माध्यमिकया वाचा (सहिता सरस्वती)।[2] ऋ० १।११६।७ मे 'पुरन्धिम्' का अर्थ 'प्रभूता धिय बुद्धिम्' करते हुए सा ने नि० (६।१३) को उद्धृत किया है और पृषोदरादि से उसकी सिद्धि मानी है। इसके अतिरिक्त एक और व्युत्पत्ति भी दी है—पुर पूरयितव्य सर्वविषयजातमस्या धीयतेऽत्र स्थाप्यते इति पुरन्धि-र्बुद्धि'। परन्तु अन्त में इसे केवल व्युत्पत्ति बताकर पृषोदरादि से ही सिद्ध बताया है—इद तु व्युत्पत्तिमात्र, वस्तुत पृषोदरादिरेव। इसी मन्त्र के भाष्य में स्वा द ने भी इसका अर्थ 'बहुविधा धियम्' देकर इसे पृषोदरादि से ही सिद्ध माना है। सा ने सर्वत्र प्राय यही अर्थ दिया है। परन्तु स्वा द ने अन्य स्थलो पर भिन्न अर्थ भी दिये हैं। ऋ० ७।१।६ मे उनके अनुसार इसका अर्थ 'यो बहून् दधाति तम्' भी है। अर के अनुसार इसका अर्थ या तो 'बहुविचार युक्त देवी' है और या 'नगर को धारण करने वाली' है।[3] ऋ० १।११८।१६ में सायण ने पुरन्धि का 'बहुप्रज्ञ' (पु०) के साथ साथ 'बहूना धारयित्री पृथिवी'(स्त्री० द्वितीयार्थ प्रथमा) अर्थ भी दिया है। सायण के इसी अर्थ के आधार पर पी ने ऋ० ३।६१।१ मे इसका अर्थ सब अच्छी वस्तुओ को तुम लाती हो' किया है। पुर् का अर्थ तदनुसार पूर्णता' है।[4] स्वा द ने उस प्रसङ्ग मे 'य पुर जगद् धरति' अर्थ दिया है। अत इसका बहुत (वस्तुएँ) धारण करने वाली—समृद्ध' अर्थ भी सम्भव है।

रथेष्ठा—रथे तिष्ठतीति क्विप्, सप्तम्या अलुक्, रथे स्थितो युयुत्सुर्नर।

निकामे निकामे—उ० प्रार्थनायाम् अभ्यासो वीप्सार्थ। महो० नितरा कामनाया सत्याम्।

---

1. मुकुन्दझा बख्शी ने इसका निर्वचन 'पुरो ध्यातारम्' किया है।
2. ऋ १०।६५।१३ पर सायण—बहुविधया प्रज्ञया सहिता सरस्वती।
3. मोरोविन्दोज वैदिक ग्लॉसरी, पृ २०२।
4. हिम्ज फ्रॉम दि ऋग्वेद, पृ ११६।

अथर्व-वेदः

काण्ड ३, सूक्त ३० (सांमनस्यम्)

वैदिक वाङ्मय में अथर्ववेद का अपना अद्वितीय महत्त्व है । यद्यपि 'त्रयी' या वेदत्रय में इसकी गणना न होने के कारण बहुत से विद्वान् इसे काल की दृष्टि से अन्तिम वेद मानते हैं, तथापि वे ही विद्वान् इस बात से इन्कार नहीं कर सकते कि इस वेद के बहुत से अंश सम्भवतया ऋग्वेद से भी पूर्व के हैं । इसका आधार उन विद्वानों के मतानुसार इसमें लक्षित मानव की आदिम जादू-टोने आदि की प्रवृत्तियां हैं । इस में कोई सन्देह नहीं कि उस तथाकथित जादू-टोने के मन्त्रों पर प्रमुखरूप से अथर्ववेदीय कौशिकसूत्र का विस्तृत कर्मकाण्ड आधारित है । परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वैज्ञानिक परीक्षणों एवं सूक्ष्म अन्वीक्षण के द्वारा उनमें से अधिकांश मन्त्रों का सम्बन्ध या तो आयुर्वेद प्रभृति विद्याओं से, या अध्यात्म विद्या से स्थापित होगा । और इसी आधार पर इसे आदिमयुगीन या परवर्ती भी सिद्ध करना कठिन होगा । ब्रह्म विद्या के आधार पर ही इसे 'ब्रह्म-वेद' की संज्ञा भी दी जाती है । यज्ञ के प्रसङ्ग में भी इस नाम को यदि देखा जाये तो यह स्पष्ट है कि जिस ब्रह्मा पुरोहित से इसका सम्बन्ध माना जाता है, उसके लिये सब वेदों का ज्ञाता होना आवश्यक है । ए० ब्रा० (५।५।८) में उल्लेख है कि त्रयी विद्या के द्वारा ही ब्रह्मा अपना कार्य करता है (अथ केन ब्रह्मत्वं क्रियत इति ? त्रय्या विद्यया) । इसी के भाष्य में सायण ने इसका भाव इस प्रकार स्पष्ट किया है :—

> अथर्ववेदेऽप्रवान् ब्रह्मा वेदत्रयेषु मागवान् ।
> तस्माद् ब्रह्माणं वलिष्ठमिति ह्याम्नायक थुतम् ॥

सामान्यतया अथर्ववेद को विविध संकलन कहा जा सकता है । अथर्ववेद की दो प्रमुख संहितायें उपलब्ध हैं—शौनक संहिता और पैप्पलाद संहिता । इनमें से सुलभता के कारण शौनक संहिता ही अधिक प्रचलित रही है । पैप्पलाद संहिता की उपलब्धि कुछ समय पूर्व ही हुई है । अथर्ववेद में भी अन्य दो वेदों के समान ऋग्वेद के अनेक मन्त्र समाविष्ट हैं । कुल बीस काण्डों में विभाजित इस वेद के अनेक सूक्त आध्यात्मिक ज्ञान के उत्कृष्ट उदाहरण हैं । कई मन्त्रों में आध्यात्मिक पहेलियां भी हैं । आयुर्वेद के मूल तत्त्व तो इस वेद में मिलते ही हैं, साथ ही सरल काव्यात्मक भाषा में सामान्य शिष्टाचार और जीवन के मूल सिद्धान्त भी निरूपित हैं । ३।३० सूक्त भी इन्हीं भावों से ओतप्रोत काव्य का

उत्कृष्ट उदाहरण है। इसमें सभी जनों में समभाव तथा परस्पर सौहार्द की भावना व्यक्त की गई है। यह अभिलाषा प्रकट की गई है कि परिवार के सभी सम्बन्धी प्रेम-पूर्वक मिलजुल कर रहें क्योंकि समाज का मूल परिवार ही है। सब एक दूसरे से मधुर वाणी में बोलें और सबके मन एक-समान हों। उनमें एक दूसरे के प्रति पूर्ण सहानुभूति हो। यह सौमनस्य प्रत्येक काल में रहे जिससे समाज में कलह न हो और सब कार्य सुचारु रूप से चलते रहें फलतः राष्ट्र उन्नत करे और समृद्धि को प्राप्त हो। स्नेह और सौहार्द का यह सन्देश आज के स्वार्थपरक युग में और भी आवश्यक है। इस सूक्त की तुलना ऋ० १०।१९१ से की जा सकती है।

कौशिकसूत्र (१२।५) में यह सूक्त मानसिक एकता उत्पन्न करने से सम्बद्ध कर्म के लिये निर्दिष्ट सात सूक्तों (३।३०, ५।१।५, ६।६४, ७३, ७४, ६४, ७।५२) में से प्रथम है। अगले सूत्र में बताई गई विधि के अनुसार कलहरत जनसमुदाय के चारों ओर जलपूर्ण घृतानुलिप्त कलश घुमाया जाता है और फिर उसे उनके मध्य उडेल दिया जाता है।

ऋषि — अथर्वा, देवता — चन्द्रमा, सांमनस्यम्।

सहृदयं सांमनुस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वृत्सं जातमिवाघ्न्या ॥१॥

समान हृदय (अरु) सम-मन भाव,
अविद्वेष करता तुम सबका।
एक अन्य की करो कामना
बछड़े जाये की जैसे गौ ॥

हृदय की समानता, मन की समानता और विद्वेषशून्यता की जो उपमा यहाँ दी गई है उससे अधिक उपयुक्त उपमा, इस प्रसङ्ग में, और कोई नहीं हो सकती। नवजात बछड़े के साथ गौ पूर्णतया एकरूप होती है। बछड़े का तनिक सा कष्ट भी मानो उसका अपना कष्ट होता है। यह समानता केवल शारीरिक नहीं है, हार्दिक और मानसिक है।

सहृदयम्—सा०-समानं हृदयं येन (सामनस्यम्) समानचित्तवृत्तियुक्तम् हृदयं। ब्लूम० हृदय-सयाग (यूनिटी ऑफ हार्ट), व्हि० हृदय-समानता (लाइक हार्टेडनेस)।

सांमनस्यम्—सा० का पाठ 'सामनुष्यम्' है। मिथः सप्रीतियुक्ता मनुष्याः समनुष्याः तैर्निर्वर्तितं सामनुष्यम्। ईदृशं समानज्ञानहेतुभूतं सख्यं करोमीत्यर्थः।

ब्लूम०-मन-संयोग (यूनिटी ऑफ माइंड), व्हि०-मन-समानता (लाइक माइंडेडनेस)।

अघ्न्या—सायण का पाठ 'अघ्न्या' (बहु०) है।—जो हिंसा के योग्य नहीं है। गौ के लिये प्रयुक्त यह शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसमें तत्कालीन समाज द्वारा गौ के प्रति प्रदर्शित सम्मान प्रकट होता है।

हर्यत—√हर्य् गतिकान्त्योः।

> अनु॑व्रतः पि॒तुः पु॒त्रो मा॒त्रा भ॑वतु॒ संम॑नाः।
> जा॒या पत्ये॒ मधु॑मतीं॒ वाचं॑ वदतु शन्ति॒वाम् ॥२॥

> अनुव्रती (हो) पिता का पुत्र
> माता से हो समामन वह।
> पत्नी पति को माधुर्ययुक्त
> वाणी बोले शान्त सुखद वह॥

समाज में सम-भावना का आधार परिवार है। अतः सन्तति का माता-पिता के प्रति स्नेह और आज्ञाकारिता उसका प्रथम चरण है। इसी प्रकार जिस घर में पति और पत्नी में मधुर सम्बन्ध नहीं होगा, वहाँ समाज में भी उसका प्रतिफल लक्षित होगा। घरेलू असन्तोष से व्यक्ति बाहर के वातावरण को अनायास ही प्रभावित करता है।

अनु॑व्रतः—अनुकूलकर्मा भवतु, यद् पिता कामयते तत्कर्मकारी भवतु।

मात्रा—सायण ने यहाँ 'माता' पाठ दिया है।

शन्तिवाम्—सा०-सुखयुक्ताम्, ब्लूम०-मधुर (स्वीट), व्हि०-स्वस्थ-समृद्ध (वील्फुल)।

> मा भ्राता॒ भ्रात॑रं द्विक्ष॒न् मा स्वसा॑रमु॒त स्वसा॑।
> स॒म्यञ्चः॒ सव्र॑ता भू॒त्वा वाचं॑ वदत भ॒द्रया॑ ॥३॥

> न भाई भ्रात से करे द्वेष,
> नहीं बहिन से और बहिन (भी)।
> समानगति समव्रत होकर तुम,
> वाणी बोलो भद्र (भाव) से॥

भाई-बहिन का स्नेह परिवार की दृढ़ता के लिये आधार का कार्य करता है। परिणामस्वरूप वे साथ साथ चलते हुए, समान नियमों का पालन करते

हुए, मधुर और सभ्य वाणी बोलते हुए समाज को उन्नति तथा सौमनस्य की ओर ले जाते हैं।

द्विषत्—√द्विष् अप्रीतौ, अनिट् सिच्-लुङ् के अग से लेट् प्र० पु० एक०। भारतीय विद्वानों (परम्परागत) के मतानुसार 'सिप् बहुल लेटि' (पा० ३।१।३४) से यहाँ लेट् प्रत्यय परे रहने पर सिप् (स्) विकरण जोड़ा गया है। सा० ने 'द्विष्यात्' पाठ दिया है। दायभागादिनिमित्तेन भ्रातृविषयमप्रियं मा कुर्यात्। ब्लूम०, व्हि०-घृणा न करे (शैल नॉट हेट)।

सम्यञ्चः—सम्+√अञ्च्+क्विन्, 'सम. समि' (पा० ६।३।९३) से सम् का समि होकर यण् सन्धि से यह रूप प्र० बहु० में बनता है। डॉ० राम गोपाल ने इसका अर्थ 'साथ जाता हुआ' दिया है (वै० व्या० भाग १, पृ० २७६)। ब्लूम०-समरूप (हार्मोनिअस), व्हि०—सुसगत (एकॉर्डेंट)। सा०-समञ्चना, समानगतय।

सव्रता.—समान व्रत नियम येषा ते। सा०-समानकर्माण, ब्लूम०-समान उद्देश्य में लगे हुए (डिवोटेड टु दि सेम् पर्पज), व्हि०-समान मार्गों वाले (ऑफ लाइक कोर्सेज)। यास्क ने (नि० २।१३ में) व्रत के निम्नलिखित तीन निर्वचन देकर तीन अर्थ बताये हैं—१. व्रतमिति कर्म नाम, वृणोतीति सत, (किया हुआ कर्म कर्ता को आवृत करता है)। २. इदमपीतरद्व्रतमेतस्मादेव निवृत्तिकर्म, वारयतीति सत (यमनियमादि कर्ता को दुर्व्यसन से रोकते हैं)। ३. अन्नमपि व्रतमुच्यते, यदावृणोति शरीरम् (अन्न शरीर को आवृत करता है)। अन्यत्र (नि० ११।२३ और १२।३२ में) यास्क ने व्रत का अर्थ 'कर्म' ही किया है। सा. ने प्रायः इसका अर्थ कर्म—'यज्ञादि कर्म' किया है। स्वा. द. के अनुसार इसका अर्थ 'सत्यभाषणादि नियतधर्मयुक्त कर्म' है। वा० स. १।५ में उव्वट ने व्रत का अर्थ 'सत्यादिकम्' किया है। इसी प्रसंग में महीधर ने इसका अर्थ 'अनुष्ठेय कर्म' दिया है। वा० स० के उपर्युक्त प्रकरण में ही असत्य से सत्य की ओर आने का भाव व्यक्त किया गया है (इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि), अत वहाँ विद्वानों ने व्रत से 'सत्य' अर्थ समझा है। सम्भवतया इसी आधार पर ऋ० के अधिकांश स्थलों पर स्वा द. ने व्रत का अर्थ 'कर्म, सत्यभाषणादि कर्म, नियम, सत्यनियम, सत्ययुक्त चरित्र' इत्यादि अर्थ किये हैं। ऋ० १।१२४।२ के अन्तर्गत व्रतानि का 'वर्तमानानि सत्यानि वस्तूनि कर्माणि वा' तथा ऋ० ५।४०।६ के अन्तर्गत 'अपव्रतेन' का 'अन्यथा वर्तमानेन' भाष्य करते हुए उन्होंने इस शब्द के √वृत् (वर्तने) से निर्वचन का संकेत भी दिया है। तदनुसार 'व्रत' सदा रहने वाला, चलता रहने वाला—नियम, सत्य, कर्म है। पीटर्सबर्गकोश में इसका निर्वचन √वृ (भ्वादि., वरण करना) से मानकर

इसके 'इच्छा, आदेश, विधान, नियम, शासन, विहित कर्म, प्रथा, धर्मानुष्ठान, प्रतिज्ञा' आदि अर्थ दिये हैं। मक्म. ने ऋग्वेदानुवाद (पृ० २२५-८) में इसका निर्वचन √वृ (स्वादि, रक्षा करना) से माना है और इसका मूल अर्थ 'कांई घिरी हुई, सुरक्षित, अलग रखी गई वस्तु' बताया है। उसके अनुसार आगे चलकर इसका अर्थ-विस्तार 'सीमा द्वारा पृथक्कृत, निश्चित, नियमित, विधान, आध्यादेश, अधिकार, शक्ति, शासन' आदि अर्थों में हुआ। बर्गेन ने भी मूल अर्थ 'गुप्ति या रक्षा' दिया है। श्रेन्के ने इसका मूल अर्थ 'चुना गया कार्य या चुनी गई कार्य-पद्धति' दिया है, और फिर आगे के अर्थों मे 'चुनाव' का भाव छोड दिया है।[1] स्थूल रूप में मक्स. का अनुसरण करते हुए पी. ने ऋ० १।२५।१, ६।४५।६, ७।७५।३ मे व्रत के क्रमश 'विधान (लॉ), भूमि (लैंड), कर्म (वर्क्स)' अर्थ किये हैं। वैदिक इंडेक्स] खं० २, पृ० ३४१—ऑक्षो

परन्तु पाश्चात्य विद्वानो के इन सब निर्वचनो और अर्थों की असंगति को देखते हुए ह्विट्ने, और उसकी पुष्टि करते हुए विनायक महादेव आप्टे ने स्वा. द. के समान ही इसका निर्वचन √वृत् 'चलना, आगे बढना' (प्रोसीड) से सुझाया है। तदनुसार व्रत का अर्थ 'पद्धति, मार्ग, गति-मार्ग, क्रिया-पद्धति-और फिर, आचरण, व्यवहार' होगा। इन्हीं अर्थों का विस्तार 'अभ्यस्त, प्रतिष्ठित, सामान्य, या सम्मत कार्यपद्धति या आचरण-पद्धति तथा नैतिकता या धर्म द्वारा निर्धारित कोई एक नित्य-कर्म अथवा उनकी शृङ्खला' मे होगा। स्वय वेद में √वृत् से निर्वचन के सकेतो से उक्त निर्वचन की पुष्टि होती है।[2]

वदतु—सा० ने वदतु पाठ मानकर 'अयत्ययेन एकवचनम्' कहा है।

भद्रया—सा०-कल्याण्या वाचा वाग्भिरिन्द्रियेण वाच वदन्तु। ब्लूम०-दया-भावना से (इन् काइंडली स्पिरिट्), ग्रि०-कल्याणरूप मे (ऑस्पीशस्ली)।

येन॑ दे॒वा न वि॒यन्ति॒ नो च॑ विद्वि॒षते॑ मि॒थः।
तत्कृ॑ण्मो॒ ब्रह्म॑ वो गृ॒हे स॒ञ्ज्ञानं॑ पुरु॑षेभ्यः ॥४॥

जिससे देव नहीं बनें विमुख
और न हों निष्प्रेम परस्पर।
वह करते हम भति सब घर में
समान ज्ञान पुरुषों के हित॥

---

१. आप्टे, विनायक महादेव, ऑल एबाउट व्रत इन द ऋग्वेद, पृ. १,२,४।

२. ऋ १।१८३।३—धामनु व्रतानि वर्तते; ऐ. ब्रा, ३।११—आदित्यस्य व्रतमनुपर्यावर्तन्ते। 'व्रत' पर पूर्ण विवेचन के लिये द्र. विनायक महादेव आप्टे की लघुपुस्तिका-'ऑल एबाउट व्रत इन् दि ऋग्वेद', (बुलेटिन ऑफ़ दि डेकन कालेज रिसर्च इस्टी-ट्यूट—खं. ३, पृ. ४०७-८८ से पुनर्मुद्रित)।

मनुष्य यदि परस्पर झगड़ते हैं तो दैवी शक्तियाँ भी मानो कलहरत हो जाती हैं, अर्थात् उन शक्तियों से जो कुछ प्राप्त होता है, मनुष्य शान्तिपूर्वक उसका उपभोग नहीं कर सकता। पुरुषों में समानज्ञान वाली बुद्धि हो तो देवता अर्थात् दैवी शक्तियाँ विमुख नहीं होतीं अर्थात् उनसे प्राप्त द्रव्यों का पुरुष सुख-पूर्वक उपभोग करके समभाव से आनन्द को प्राप्त करते हैं।

न वि॒यन्ति—सा०-विमतिं न प्राप्नुवन्ति, ब्लूम०-विमति को नहीं प्राप्त होने देता (कॉजेज नॉट टु डिस-एग्री); व्हि०-पृथक् नहीं होते (डु नॉट् गो अपार्ट)। वाक्य में 'यत्' का प्रयोग होने के कारण यह तिङन्त पद सोदात्त है। इसका यह भी अर्थ हो सकता है—"जिससे देवता मनुष्यों से दूर नहीं जाते; अर्थात् विमुख नहीं होते।"

ब्रह्म—सा०-ऐकमत्यापादकं ब्रह्म मन्त्रात्मकं सामनस्यम्। ब्लूम० और व्हि० दोनों ने इसका अर्थ 'जादूमन्तर' (चार्म, इन्काटेशन) दिया है। किन्तु इस समस्त सूक्त में कहीं भी जादू का संकेत नहीं है। अतः ब्रह्म शुद्ध भावनाओं वाला सूक्त या उससे प्रेरित बुद्धि, मति हो सकता है।

ज्याय॑स्वन्तश्चि॒त्तिनो॒ मा वि यौ॑ष्ट संरा॒धय॑न्तः॒ सधु॑रा॒श्चर॑न्तः।
अ॒न्यो अ॒न्यस्मै॑ व॒ल्गु वद॑न्त॒ एत॑ सध्री॒चीना॑न् वः॒ संम॑नसस्कृणोमि ॥५॥

ज्येष्ठयुक्त, चित्तयुक्त, नहीं अलग हो,
समोद्देश्य ले, एक धुरा ले चलते।
एक अन्य प्रिय बातें कहते आओ
सहकारी तुमको सममन करता हूँ॥

मिलकर साथ साथ काय करने का सुन्दर उदाहरण इस मन्त्र में प्रस्तुत किया गया है। सबको स्वार्थ छोड़ कर केवल एक उद्देश्य अपने सम्मुख रखकर कार्य करना चाहिये। तभी कठिन से कठिन कार्य भी सरल हो जाता है। राष्ट्र की उन्नति के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है।

ज्याय॑स्वन्तः—बड़ों से युक्त अर्थात् बड़ों की बात मानने वाले, ब्लूम०-अपने नेता का अनुसरण करते हुए (फॉलोइंग योर लीडर), व्हि०-श्रेष्ठों से युक्त (हैविंग सुपीरियर्ज)। सा०-ज्येष्ठकनिष्ठभावेन परस्परमनुसरन्तः।

चि॒त्तिनः—सा०-समानचित्तयुक्ताः, ब्लूम०-(समान) मन वाले (ऑफ (दि सेम) माइंड), व्हि०-इच्छा युक्त (इटेंट्फुल)। किन्तु 'चित्त से युक्त' अर्थात् 'मन लगाकर काम करने वाले' में कोई कठिनाई नहीं है।

सं॒रा॒धय॑न्तः—सा०-समानसंसिद्धिकाः, समानकार्याः, ब्लूम०-सहयोग करते हुए (को-ऑपरेटिंग), व्हि०-साथ साथ सिद्ध करते हुए (एकॉम्प्लिशिंग टुगेदर)।

सध्रीचीनान्—सा०-सहाऽन्चत कार्येषु सह प्रवृत्तान्, ब्लूम०-समान उद्देश्य ले (ग्रॉफ दि सेम् एम्), ह्वि०-संयुक्त (युनाइटेड)। (सह) सध्रि (गाय)+ ञ्च् (जाता हुआ क्विन् अर्थात् साथ साथ कार्य करता हुआ) से ईन (पा०-), 'अच' (पा० ६।४।१३८) से अच् (अञ्च्) के अ का लोप, 'चौ' (पा० ।३।१३८) से पूर्वपद के सध्रि के इ का दीर्घ।

विशेष—प्रथम और द्वितीय पाद में एक एक (कुल दो) अक्षर कम होने के कारण इसका छन्द विराट्-जगती है।

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥६॥

साथ पान, साथ तुम्हारा अन्नभाग,
समबन्धन में साथ तुम्हें हूँ जोड़ता।
साथ मिले तुम अग्नि की करो सपर्या
अरे केन्द्र की जैसे सभी दिशा से ॥

साथ साथ खाना पीना, उठना बैठना हार्दिक सम्बन्ध का भी आधार होता है। प्राय निकटता प्रकट करने के लिये साथ बैठकर खाना-पीना होता है। इसी प्रकार एक प्रकार के विचारो के व्यक्ति, विविध प्रवृत्तियाँ और रुचियाँ होने पर भी अग्नि की सपर्या अर्थात् ईश्वर की पूजा मे एक साथ मिल जाते हैं—ठीक वसे ही जैसे विविध दिशाओ मे निकली हुई पहिये की अराये एक ही केन्द्रबिन्दु मे मिली हुई होती हैं।

प्रपा—सा० पानीयशाला (प्याऊ), परस्परानुरागवशेन एकत्रावस्थित-मन्नपानादिक युष्माभिरुपभुज्यतामित्यय। ब्लूम०-पेय, ह्वि —पीना (ड्रिंकिंग)।

सपर्यत—सपर्या करो, परिचर्या करो, पूजा करो, सत्कार करो, निघ० ३।५ मे सपर्यति धातु परिचरणकर्मा मानी गई है। यास्क (नि० ३।४) ने 'सपर्यन्' का अर्थ 'पूजयन्' दिया है। कण्ड्वादिभ्यो यक् (पा० ३।१।२७) से कण्डू इत्यादि शब्दों के मध्य परिगणित होने के कारण 'सपर' शब्द से यक् प्रत्यय लगकर 'सपर्य' नामधातु बनती है।[1] महाभाष्य, काशिका एवं सिद्धांत कौमुदी में 'कण्डू' आदि धातुओं से स्वार्थ मे यक् प्रत्यय माना गया है।[2] आधुनिक विद्वान् हलन्त सपर से सपर्यति प्रभृति रूपों की व्युत्पत्ति मानते हैं।[3] मोनियर विलियम्स के कोश मे इस धातु का अर्थ 'ध्यानपूर्वक सेवा करना, सत्कार, पूजा करना' बता कर किसी लुप्त नामपद सपर् से इसकी व्युत्पत्ति की सम्भावना व्यक्त की गई है। सा० पूजयत।

१ ऋ० १।१२।८ पर सायणभाष्य।
२ वं व्या मा २, पृ ६७४।
३ वं व्या मा २, पृ ७१२, टि ३८६।

सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान् ।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु ॥७॥

सहकारी तुमको समान-मन करता हूँ,
एकगति तुमको सम्मेलन से सबको ।
देव यथा अमृत की रक्षा करते,
साय-प्रात शुभमनभाव तुम्हारा हो ॥

साथ साथ चलने, कार्य करने वाले, एकसमान गति वाले जनों का मन स्वाभाविक रूप से समान हो जाता है। अमरत्व या दीर्घायुष्य की रक्षा करती हुई दिव्य शक्तियों का मनोभाव जिस प्रकार एक जैसा शुभ होता है, उसी प्रकार समान भावना वाले, देशहित के एक उद्देश्य में निरत जनों का मनोभाव भी शुभ ही हो।

एकश्नुष्टीन्—ब्लूम०-एक व्यक्ति के प्रति आदरभाव दिखाते हुए (पेयिंग् डेफ़रेंस टु वन् पर्सन्), व्हि०-एक समूह वाले (ऑफ़ वन् ग्रुप्)। सायण ने यहाँ 'एकश्नुष्टिम्' पाठ स्वीकार करके व्याख्या की है—एकविध व्यापनम्, एकविधस्यान्नस्य भुक्ति वा। क्योंकि 'श्नुष्टि' शब्द का ऋ० में नितान्त अभाव है, अतः यहाँ 'एकश्रुष्टीन्' पाठ अधिक समीचीन प्रतीत होता है। यास्क (नि० ६।१२) ने 'श्रुष्टी' का अर्थ 'शीघ्र' देकर इसका निर्वचन 'आशु+√अश् क्तिन्+ङीष्' माना है (श्रुष्टीति क्षिप्रनामाशु अष्टीति); अर्थात् जो शीघ्र व्याप्त हो जाये या शीघ्र पहुँच जाये—त्वरितगति—गति। तदनुसार एकश्रुष्टीन् का अर्थ होगा 'एक गति वाले'। ब्लूमफ़ील्ड ने 'एकश्रुष्टीन्' पाठ ही स्वीकार किया है (दे० वैदिक कॉन्कॉर्डेंस)। क्या 'श्रुष्टि' का निर्वचन (शु) श्रुष् (√श्रु सन्) से नहीं हो सकता? फिर अर्थ होगा 'एक सी शुश्रूषा या सेवा है जिनकी'।

संवननेन-सा०-वशीकरणेन अनेन सामनस्यकर्मणा युष्मान् सर्वान् वशीकरोमीत्यर्थः।

अमृतम्—ब्लूम०—अमृत (एम्ब्रोशिया), व्हि० अमरत्व (इम्मॉर्टैलिटी)। सा०—द्युलोकस्थम् अजरामरत्वप्रापक पीयूषम्।

सौमनस-ब्लूम०-(नेता) तुम्हारे प्रति शुभमनस्क हो (मेय् ही (द लीडर) बी वेल् डिस्पोज़्ड टुवर्ड्स यू), व्हि०-शुभमनस्कता तुम्हारी हो (बी वेल्-विलिंग् योर्ज़)। तै० सं० ४।७।३।१ में भी सौमनस (पु०) का प्रयोग भाववाचक (सौमनसम्) के रूप में हुआ है। अतः व्हिट्नि द्वारा किया गया पाठसंशोधन (सौमनसम्) अनावश्यक प्रतीत होता है।[1] सा०-सौमनस्यम्, शोभनमनस्कत्वम्।

---

[1] हिन्द ऑफ अथर्ववेद, पृ. ११४, मन्त्र ७ पर टि.।

भूमिः—अथर्व० १२।१

अथर्ववेद के भूमिसूक्त मे मानवसाहित्य में प्रथम बार पृथ्वी को माता बता कर अपने आपको उसका पुत्र बताया गया है। 'मातृभूमि' की धारणा का यह प्रथम उद्गार है। इस राष्ट्र-प्रेम से ओत-प्रोत सूक्त में विविधरूपा वसुन्धरा की अनेक सुन्दर तथा कृतज्ञतापूर्ण शब्दों मे स्तुति की गई है। वह विविध ओषधि-वनस्पतियों से सब प्राणियों का भरणपोषण उसी प्रकार करती है, जिस प्रकार कोई माता दूध से अपने शिशुओं का। भूमि अटल है, दृढ है, अपने शिशुओं के लिये सब कुछ सहन करती है। सूर्य, चन्द्रमा, पर्जन्य प्रभृति महती दिव्य शक्तियाँ निरन्तर पृथ्वी की रक्षा करती रहती हैं। पृथ्वी रत्नगर्भा है—प्राणि-मात्र के लिए ऊर्जा का महान् स्रोत है। यह ऊर्जा और दृढता मनुष्य को सतत दृढ और स्वतन्त्र रहने की प्रेरणा देती रहती है। इसे विश्वम्भरा और वसुधानी कहा गया है। यह सृष्टि के आधारभूत अग्नि को धारण करती है—वैश्वानरं बिभ्रती भूमिरग्निम् (अथर्व० १२।१।६) सम्भवतया यहाँ पृथ्वी के भीतर विद्यमान ताप अभिप्रेत है। इसी पर शिलायें, पाषाण, धूलि आदि हैं—यही सुवर्णमय वक्ष स्थल वाली (हिरण्यवक्षाः) है। भूमि की उत्पत्ति के विषय में बताया गया है कि उत्पत्ति से पूर्व वह समुद्र मे सलिल के रूप में थी—यार्णवेऽधि सलिलमग्र आसीत् (अथर्व० १२।१।८)। सम्भवतया यहाँ उस सृष्टि-जल के प्रति संकेत है जिस पर हिरण्यगर्भ अण्डा तैरता रहा था और बाद मे फूटने पर उसके एक भाग से पृथ्वी और दूसरे से आकाश बने थे।

भूमि सबके लिये समान है, सबको समता का व्यवहार सिखाती है। इसीलिये पाँचों (प्रकार के या पाँचो दिशाओं में रहने वाले) मनुष्य उसके ही बताये गये हैं—तवेमे पृथिवि पञ्च मानवाः (अथर्व० १२।१।१५)। भूमि को अदिति, कामनाओं का दोहन करने वाली, विस्तृत और प्राणियों का बीज-वपन करने वाली बताया गया है—त्वमस्यावपनी जनानामदितिः कामदुघा पप्रथाना (अथर्व० १२।१।६१)। भूमि की गोद की कल्पना की गई है—उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्माः (६२)। बार बार भूमि से प्रार्थना की गई है कि वह सब प्रकार की सुरक्षा प्रदान करे, आयु दीर्घ बनाये, धन-धान्य से सम्पन्न तथा ओषधिरस, गोरस, जल आदि से समृद्ध होकर सभी प्राणियों को सुखी बनाये। कोई शत्रु इस पर आधिपत्य न कर सके। इसीलिये मातृभूमि का उपासक

प्रण करता है कि 'मैं क्रोध करने वाले अन्य (शत्रुओं) को नीचे गिरा मारूँ'— —अधरायान् हन्मि दोधत (५८)। वह अपने आपको चारों ओर से विजय करने वाला सर्वविजयी और प्रत्येक दिशा या मनोरथ को वश में करने वाला उद्घोषित करता है—अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहि (५४)।

राष्ट्रभक्ति से ओतप्रोत वीरता की भावना वाले तथा मातृभूमि के यशोगान में परिपूर्ण इस भूमि सूक्त में कुल तिरेसठ मन्त्र हैं। यहाँ उसके प्रथम चौदह मन्त्र दिग्दर्शन मात्र उद्धत किये गये हैं। इस सूक्त पर सायण भाष्य नहीं है।

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु ॥१॥

सत्य महान् ऋत उग्र क्रियासंकल्प तपस्या
वेद यज्ञ (का भाव) धरा को धारण करते।
वही हमारी भूत भविष्य (कर्मों) की शासक
विशाल स्थान भूमि हमारे लिये बना दे॥

असम्बाधं मध्यतो मानवानां यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु।
नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः ॥२॥

बिना किसी बाधा के मध्य सब मानव-जन के
जिसके ऊँचे विशाल समतल (भाग) बहुत हैं।
विविध शक्ति की ओषधियाँ जो धारण करती
भूमि हमारे लिये बढ़ी हो, प्राप्त हो हमको॥

यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः।
यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत्सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु ॥३॥

जिस पर सागर और नदी-नद (विविध) सलिल हैं,
जिस पर अन्न खेतियाँ (अनेकों) होतीं पैदा।
जिस पर यह जीता जग प्राणवान् चलता फिरता
वह हमें भूमि प्रथम-पेय हित स्थापित कर दे॥

यस्याश्चतस्रः प्रदिशः पृथिव्या यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः।
या बिभर्ति बहुधा प्राणदेजत्सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु ॥४॥

जिसकी चारों महा दिशायें (हैं) पृथ्वी की,
जिस पर अन्न, खेतियाँ (अनेकों) होती सदा ।
जो धारण करती बहुधा प्राणी चलते को,
वह हमें भूमि गौओं में भी अन्न में रख दे ॥

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन् ।
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु ॥५॥

जिस पर पहले के पूर्व जनों ने किये पराक्रम,[1]
जिस पर देवों ने असुरों को कर दिया पराजित ।
गौओं, घोड़ों और पक्षियों का निवास (जो),
सौभाग्य, तेज (वह) पृथ्वी हममें कर दे स्थापित ॥

विश्वम्भरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी ।
वैश्वानरं बिभ्रती भूमिरग्निमिन्द्रऋषभा द्रविणे नो दधातु ॥६॥

विश्वम्भरा वसु की धात्री आधार (सभी का),
स्वर्णमय उर वाली[2] संसार बसाने वाली ।
वैश्वानर[3] को धारण करती भूमि अग्नि को
इन्द्ररूप वृषभ वाली धन में हमको रख दे ॥

यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम् ।
सा नो मधु प्रियं दुहामथो उक्षतु वर्चसा ॥७॥

जिसकी रक्षा करते निद्रा से रहित सदा ही
(सब) देव भूमि की विस्तृत की अप्रमाद हो ।
वही हमारे लिये मधु का प्रिय दोहन कर दे,
और पुष्ट करे (हमको अतुल) तेज से (सत्वर) ॥

यार्णवेऽधि सलिलमग्र आसीद्यां मायाभिरन्वचरन्मनीषिणः ।
यस्या हृदयं परमे व्योमन्त्सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः ।
सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे ॥८॥

---

१. विचक्रिरे, अपने आपको फैलाया (स्प्रैड देमसेल्व्स) ।
२. " स्वर्णपृष्ठ (गोल्ड-बैक्ड) ।
३. " सार्वभौम अग्नि (यूनिवर्सल फ़ायर) ।

जो (सृष्टि-)समुद्र के मध्य जल (-रूपा) पहले थी[1],
जिसके निज मायाओं से अनुचर हुए मनीषी।
जिसका (सूर्यरूप प्राणसम) हृदय परम व्योम में
सत्य से आवृत हुआ अमर पृथ्वी का शासी॥
वही हमारे भूमि (अपरिमित सदा) तेज को, बल को
राष्ट्र में कर दे स्थापित उत्तम में (उत्तम को)॥

मायाभिः—मनीषी विद्वान् मनुष्यों ने अपनी सर्जनात्मक प्रज्ञा के द्वारा इसका अनुचरण किया, सेवा की अर्थात् इस पर विविध निर्माण करके उसे सजाया सँवारा। निघ० ३।९।१६ में माया शब्द प्रज्ञा के पर्यायों में पठित है। इसके मूल में√मा (मापना) है, जिसके आधार पर अरविन्द इसे 'अनन्त चैतन्य की ग्रहण करने, मापने, निर्माण करने की शक्ति' या सर्जनात्मक प्रज्ञा मानते हैं।[2] किन्तु यह आश्चर्यकर है कि अनेक स्थलों पर यह हीन प्रज्ञा या कपट के अर्थ में भी आया है। उदाहरणार्थ ऋ० १।११।७ के मायाभिरिन्द्र मायिनं त्व शुष्णमवातिरः मन्त्रांश में स्पष्ट ही कम से कम 'मायिनम्' में तो यह हीनार्थ में ही है 'मायाभि' देवता से सम्बद्ध है, अतः इसके दोनों भाव हो सकते हैं।[3] व्हिट्ने ने इसका अर्थ 'उपाय' (डिवाइसज) किया है

हृदयम्—हृदय समस्त शरीर का प्रेरणास्रोत, प्राण है। हृदय की गति से ही शरीर की गति होती है। इसी प्रकार सूर्य भी पृथ्वी का मुख्य प्रेरणा-स्रोत है। पृथ्वी उसकी परिक्रमा करती रहती है, इसी से ऋतुएँ बनती हैं। अथवा चन्द्रमा में भी पृथ्वी का हृदय बताया गया है—वेद ते भूमि हृदयं दिवि चन्द्रमसि श्रितम् (पारस्कर गृह्यसूत्र १।१६।१७)।[4] किन्तु सत्य और अमरत्व की भावना सूर्य से अधिक सम्बद्ध है। (तु० हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्—ईशोपनिषद् १५)। अरविन्द ने तो सूर्य को'सत्य का प्रकाश' माना ही है।

यस्यामापः परिचराः समानीरहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति।
सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहामथो उक्षतु वर्चसा ॥९॥

---

१. व्हिट्ने महासागर में समुद्र थी (सौंज की अयोन द ओशन)।
२. ओरोबिन्दोज वैदिक ग्लॉसरी, पृ. ७१।
३. द्र सायणभाष्य—मायाभिः कपटोपेतं शुष्णमेतन्नामकमसुरं मायाभिः तत्प्रतिकूलैः कपटविशेषैः, यद्वा तद्वधोपायबोधकप्रज्ञाभिः हिंसितवानसि।
४. दे. लेखककृत गृह्यमन्त्र और उनका विनियोग, पृ २१२-३।

जिसमें जल परिचर (हो)[1] समान (रूप में विस्तृत)
दिनरात (निरन्तर) अप्रमत्त होकर बहते हैं।
वही हमारे लिये भूमि बहुधारा वाली जल को[2]
दोहे भी अरु सींचे (हमको विपुल) तेज से ॥

यामश्विनावमिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे ।
इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः ।[3]
सा नो भूमिर्वि सृजतां माता पुत्राय मे पयः ॥१०॥

जिसे (शशि-सूर्य) दोनों अश्विनों ने है मापा,
विष्णु (व्यापक) ने जिस पर विविधक्रमण किया है।
इन्द्र (प्रकाशक) ने जिसे बनाया अपने हेतु,
शत्रु रहित को, शक्ति के स्वामी ने (सृजन किया है) ॥
वही हमारी भूमि विविध (रसों की) करे सृष्टि।
माता पुत्र के लिये (ज्यों) मेरे हित दुग्ध (वृष्टि) ॥

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु ।
बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम् ।
अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम् ॥११॥

ऊँचे उठे तुम्हारे पर्वत हिममण्डित (जो),
अरण्य तुम्हारा पृथ्वी ! सुखकर हो (सबको)।
भूरी काली लाल सभी रूपों वाली (विविधा)
ध्रुवा भूमि विस्तृत पर इन्द्र द्वारा रक्षित पर ॥
अविजित (और) अहत अनाहत (हुआ) यहां पर,
(स्वतन्त्र) करूं शासन पृथ्वी पर मैं (जनहित पर) ॥

स्वतन्त्र शासन की भावना का अभिप्राय यही है कि मैं स्वयं किसी समान मानव के द्वारा अपमानित हुए बिना और उसके वशीभूत हुए बिना शुद्ध स्वतन्त्र विचारों वाला होकर जीवन-यापन करूं। कुछ विद्वानों के अनुसार

---

१ विहृत्ने—परिक्रमणशील जल (सर्कुलेटिंग वाटर)।
२ ,, दूध दे (यील्ड अस मिल्क)।
३ उभे वनस्पत्यादिषु युगपत् (पा ६।२।१४०) से दानों पद उदात्त।

बभ्रु का अर्थ 'सबका भरणपोषण करने वाली', कृष्णा का अर्थ 'किसानों द्वारा जोती गई', रोहिणी का 'नाना अन्न-वनस्पतियों से सम्पन्न' और विश्वरूपा का 'समस्त प्राणियों से सम्पन्न' है।

यत्ते॒ मध्यं॑ पृथिवि॒ यच्च॒ नभ्यं॒ यास्त॒ ऊर्ज॑स्त॒न्व॑: सम्बभू॒वुः।
तासु॑ नो धेह्य॒भि नः॑ पवस्व मा॒ता भूमि॑: पु॒त्रो अ॒हं पृ॑थि॒व्याः।
प॒र्जन्य॑: पि॒ता स उ॑ नः पिपर्तु ॥१२॥

जो तेरे मध्य पृथ्वी ! और जो उदरस्थ (सभी)
जो तेरी ऊर्जायें तन से उत्पन्न हुई हैं।
उनमें हमको स्थापित कर दो, हमें पवित्र करो
माता है भूमि पुत्र हूँ मैं पृथ्वी का (पोषित)
मेघ पिता (है), वही हमें परिपूर्ण करे (वृष्टि से) ॥

यस्यां॒ वेदिं॑ परिगृ॒ह्णन्ति॒ भूम्यां॒ यस्यां॑ य॒ज्ञं त॒न्वते॑ वि॒श्वक॑र्माणः।
यस्यां॑ मी॒यन्ते॒ स्वर॑वः पृथि॒व्यामू॒र्ध्वाः शु॒क्रा आहु॑त्याः पु॒रस्ता॑त्
सा नो॒ भूमि॑र्वर्धय॒द्वर्ध॑माना ॥१३॥

जिस पर वेदी को घेरा करते हैं भूमि पर,
जिस पर यज्ञ को फैलाते हैं विश्वकर्मा (भी)।
जिस पर निर्मित होते हैं यज्ञस्तम्भ धरा पर
ऊँचे उज्ज्वल आहुति से पहले (वैभवशाली)
यह हमें भूमि अभिवृद्ध करे (जो) वर्धमान (है) ॥

यो नो॒ द्वेष॑त्पृथिवि॒ यः पृ॒तन्या॒द्योऽभि॒दासा॒न्मन॑सा॒ यो व॒धेन॑।
तं नो॑ भूमि रन्धय पूर्वकृत्वरि ॥१४॥

जो हमसे द्वेष करे पृथ्वी ! जो करे आक्रमण
जो (हमको) नष्ट करे मन से, जो आयुध से (भी) ॥
उसे हमारे लिए भूमि हे ! कर दे नष्ट (अभी)
हे पूर्व (व्यवस्था) करने वाली (दूरदर्शिनी) ॥

ऐतरेयब्राह्मणम् ३३।३

न केवल वेदों को समझने के लिये, अपितु प्राचीन भारतीय संस्कृति का सम्पूर्ण चित्र प्राप्त करने के लिये भी ब्राह्मण-ग्रन्थ वैदिक वाङ्मय का महत्त्वपूर्ण अङ्ग हैं। निस्सन्देह इनका स्वरूप संहिताओं के मन्त्रों जितना मौलिक और शुद्ध तो नहीं है, फिर भी प्राचीन काल से ही इन्हें संहितामन्त्रों के साथ ही वेद कहा गया है (बोधायन गृह्यसूत्र २।६।३—मन्त्रब्राह्मणे वेद इत्याचक्षते)।[1] अधिकांश विद्वानों द्वारा ब्रह्म अर्थात् मन्त्र की व्याख्या के अर्थ में 'ब्रह्मन्' शब्द से अण् प्रत्यय लगकर 'ब्राह्मण' शब्द निष्पन्न माना जाता है।

ब्राह्मणों में बहुधा यज्ञ-अनुष्ठानों का सूक्ष्म विवेचन होने पर भी अनेक स्थलों पर उनमें मन्त्र व्याख्या के महत्त्वपूर्ण संकेत प्राप्त होते हैं। स्वयं यास्क कई निर्वचनों के लिये ब्राह्मणों का ऋणी है। प्रायः ब्राह्मणों में यज्ञों में प्रयुक्त अपनी अपनी शाखा की संहिताओं के मन्त्रों की व्याख्या, उसके लिये पौराणिक आख्यान तथा मन्त्रों के अथवा यज्ञ के वर्णन में आने वाले विशिष्ट शब्दों के निर्वचन दिये गये हैं। ब्राह्मणों का यह स्वरूप तैत्तिरीय संहिता (१।५।१) में निम्नलिखित शब्दों में बताया गया है :—ब्राह्मणं नाम कर्मणस्तन्मन्त्राणां च व्याख्यानग्रन्थः।[2] इस सामान्य स्वरूप के आधार पर ब्राह्मणों की विषयवस्तु के तीन विशेष विभाजन किये गये हैं, १—विधि अर्थात् यज्ञसम्बन्धी विधान, २—अर्थवाद अर्थात् प्रशंसावाक्य, उस विधान की व्याख्या या उसके फल आदि का कथन, ३—उपनिषद् अर्थात् शास्त्रसम्बन्धी, पौराणिक, आध्यात्मिक, दार्शनिक विवेचन। ब्राह्मणों के अध्ययन के बिना अनेक पौराणिक कथाओं के उद्भव और विकास का ज्ञान प्राप्त करना असम्भव है।

ब्राह्मणों की भाषा प्रायः सरल, समासरहित, चलती हुई एवं छोटे वाक्यों वाली है। बहुधा किसी कथन पर अधिक बल देने के लिये वाक्यों की आवृत्ति की गई है। यह भाषा यद्यपि लौकिक संस्कृत नहीं है, फिर भी संहिताओं की

---

१. आपस्तम्ब श्रौतसूत्र २४।१।३१—मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्।

२. शबरभाष्य (२.१.२) में ब्राह्मणों की विषयवस्तु का विस्तृत वर्णन है :—हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः। परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारणकल्पना। उपमानं दशैते तु विधयो ब्राह्मणस्य तु॥

भाषा से पर्याप्त भिन्न है। ब्राह्मणों में स्वराङ्कन की पद्धति भी भिन्न है। भाषा और विचारों की दृष्टि से भी ब्राह्मणों और संहिताओं (कृष्णयजुर्वेदीय संहिताओं को छोड़कर, क्योंकि उनमें स्वयं ब्राह्मणांश है) में अन्तर है। उदाहरणार्थ ब्राह्मणों में यज्ञ की प्रमुखता ही नहीं, प्रभुता देखने में आती है। प्रजापति, अग्नि, विष्णु आदि को यज्ञस्वरूप ही बताया गया है। जिन प्रजापति, विष्णु और रुद्र को ऋग्वेद में बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं प्राप्त था, वे ही, विशेषकर प्रजापति, ब्राह्मणों में सर्वोत्कृष्ट स्थान प्राप्त किये हुए दिखाई देते हैं। ब्राह्मणों में सृष्टिसम्बन्धी आख्यान भी अनेक स्थलों पर पाये हैं।

ऋग्वेद से सम्बद्ध ऐतरेय ब्राह्मण के प्रणेता ऋषि महीदास ऐतरेय हैं। सायण के अनुसार यह ऋषि इतरा नामक महिला का पुत्र था। इतरा ने पृथ्वी (मही) की उपासना की। पृथ्वी के आशीर्वाद से महीदास विद्वान् हो गया और उसने इस ब्राह्मण का प्रणयन किया। यह ब्राह्मण पाँच पाँच अध्यायों के आठ पञ्चकों में विभाजित है। तदनुसार इसमें कुल चालीस अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय कुछ खण्डों में उपविभाजित है।

इस ब्राह्मण का प्रस्तुत प्रकरण (३३।३) राजकृत्यों से सम्बद्ध राजसूय यज्ञ का अङ्ग है। तेंतीसवें अध्याय में प्रसिद्ध शुनःशेप आख्यान आता है। उसी आख्यान के प्रसङ्ग में हरिश्चन्द्र की प्रस्तुत कथा दी गई है। सायण ने इस कथा का फल बहुपुत्रलाभ बताया है।[1] इक्ष्वाकु वंश का राजा हरिश्चन्द्र सन्तानहीन था। महर्षि नारद ने उसे पुत्र-प्राप्ति का यह उपाय बताया कि तुम राजा वरुण से प्रार्थना करो और उसे कहो कि मेरा जो पुत्र होगा, उससे मैं तुम्हारा यजन करूँगा। उसका रोहित नामक पुत्र हुआ। स्वाभाविक रूप से वरुण ने उसे पुत्र द्वारा यजन के लिये कहा। परन्तु हरिश्चन्द्र उसे यह कहकर टालता रहा कि अभी इसके दाँत निकलने दो दाँत टूटने दो, फिर दाँत निकलने दो। अन्त में उसने कहा कि क्षत्रिय का पुत्र धनुष्, बाण, कवच इत्यादि से युक्त होने पर ही यज्ञ योग्य होता है। यह होने पर अर्थात् रोहित के धनुर्विद्या से युक्त होने पर पिता ने उसे सारी बात बताई। यह सुनकर रोहित धनुष-बाण लेकर वन में पहुँचा और एक वर्ष तक वहाँ रहा।

इधर हरिश्चन्द्र के जलोदर रोग हो गया। वरुण द्वारा उत्पन्न किये गये इस रोग का समाचार वन में रोहित को मिला तो वह वन से गाँव की ओर चला। परन्तु इन्द्र ने उसे रोका। इस प्रकार पाँच वर्ष तक इन्द्र द्वारा रोके जाने पर छठे वर्ष वन में घूमते हुए उसे अजीगर्त नामक ऋषि मिला। रोहित अपने आपको वरुण से छुड़ाने के लिये सौ गौओं के बदले में अजीगर्त के पुत्र

1. वर्णितश्चोऽयमध्यायः शौनःशेपेतिनामवान् । हरिश्चन्द्रकथा तत्र कथिता बहुपुत्रदा ॥

आत्मा—सा०-मध्यदेह', हॉग—सोल ।

फलग्रहि —सा०-आरोग्यरूपफलयुक्तो भवति । यथा वर्धमानो वृक्ष' कालेन फलानि गृह्णात्येव चरत पुरुषस्य बीजादिदीपनादिपाटवेन मध्यदेह आरोग्यरूप फल गृह्णाति । हॉग फल पकाने वाली (रीपिंग् दि फ्रूट) ।

प्रपथे—सा० प्रकृष्टे तीर्थक्षेत्रादिमार्गे श्रमेण तत्तद् यतादिदर्शने तीर्थयात्रादि-प्रयासेन विनाशिता । हॉग—घूमने मे (इन् वॉडरिंग) ।

शेरे—√शी लट् प्र० पु० बहु०, शेरते के स्थान पर वैदिक रूप । यहाँ 'लोपस्त आत्मनेपदेषु' (पा० ७।१।४१) के अनुसार तकारलोप हुआ है । सा०-शयाना इव भवन्ति । यथा शयाना पुरुषा स्वकार्यं कृषिवाणिज्यादिक कर्तुम-शक्ता एव पुण्यन विनष्टा' पाप्मानो नरक दातुमसमर्था इत्यर्थ । हॉग ने इसका अर्थ नही दिया प्रतीत होता (ऑल हिज सिन्ज आर डेस्ट्रॉय्ड) ।

चरैवेति वै मा ब्राह्मणोऽवोचदिति ह तृतीय संवत्सरम् अरण्ये चचार, सोऽरण्याद् ग्राममेयाय, तमिन्द्र पुरुषरूपेण पर्येत्योवाच—

आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठत' ।
शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगश्चरैवेति, इति ॥३॥

"निश्चय ही ब्राह्मण ने कहा है कि चलते ही रहो" यह सोचकर वह तीसरे वर्ष वन में चलता रहा । वह (फिर) वन से गाँव को आया । (मार्ग में) इन्द्र ने पुरुष के रूप में आकर उसको कहा—

बैठा रहता भाग्य बैठने वाले का (भी)
ऊँचा रहता खड़ा (वही) उठने वाले का ।
सोया रहता है सोने वाले का (सदैव)
चलता है चलने वाले का भाग्य (यहाँ पर), चलते ही रहो ।

मनुष्य का भाग्य उसके अपने हाथ मे है । जैसा और जितना कार्य मनुष्य करता है, वैसा ही उसका भाग्य होता है । जो मनुष्य अकर्मण्य होकर आलस्य में सोया रहता है, उसका भाग्य भी मानो सोता है । परन्तु कार्यशील व्यक्ति का भाग्य उसे उचित फल देने को तत्पर रहता है । तु०—जो जागत है सो पावत है, जो सोवत है सो खोवत है ।

आस्ते—सा०-सौभाग्य तथैव तिष्ठति, न तु वर्धते, अभिवृद्धिहेतोरुद्योगस्या-भावात् ।

तिष्ठति—सा० अभिवृद्धयुन्मुखस्तिष्ठति, कृषिवाणिज्याद्युद्योगस्य सम्भा-वितत्वात् ।

शेते—सा०-निद्रा करोति, विद्यमानधनरक्षादिचिन्ताया अप्यभावात् सर्वथैव विनश्यति ।

चरतः—सा०-तेषु तेषु देशेष्वर्जनार्थं पर्यटन कुर्वत. पुरुषस्य ।

चरति—√चर् लट् प्र० पु० एक० चरति का वैदिक रूप । सा०-दिने दिने वर्धते ।

चरैवेति वै मा ब्राह्मणोऽवोचदिति ह चतुर्थं संवत्सरमरण्ये चचार, सोऽरण्याद् ग्राममेयाय, तमिन्द्रः परुषरूपेण पर्येत्योवाच—

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः ।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरंश्चरैवेति, इति ॥४॥

"निश्चय ही मुझे ब्राह्मण ने कहा है कि चलते ही रहो" यह सोचकर वह चौथे वर्ष वन में चलता रहा। वह (फिर) वन से गाँव को आया। (मार्ग में) इन्द्र ने पुरुष के रूप में आकर उसको कहा—

कलियुग सोता हुआ हुआ करता है (भाई)
निद्रात्याग करता तो द्वापर (हो जाता है)।
उठता हुआ (मनुष्य) त्रेता होता है (सुखी)
कृतयुग बन जाता है चलता हुआ (निरन्तर), चलते ही रहो ॥

चारों युगों को मनुष्य की विभिन्न अवस्थाओं के परिणाम के प्रतीकरूप में प्रस्तुत किया गया है। जो मनुष्य सोया रहता है, वह कलियुग जैसा फल प्राप्त करता है जिसमें दुःख और कष्ट तथा पारस्परिक कलह अधिक है। आलस्य, असन्तोष अशान्ति इस युग की प्रमुख विशेषता है। परन्तु जो मनुष्य निद्रात्याग करके उठने को तैयार होता है अर्थात् कार्य में प्रवृत्त होने का विचार करता है उसे द्वापर जैसा फल प्राप्त होता है। द्वापर का अन्त महाभारत में हुआ था। महाभारत में उसका चित्र अंकित है। उससे पता चलता है कि यद्यपि दूषित प्रवृत्तियाँ प्रबल हैं, किन्तु अन्ततोगत्वा बहुत कुछ नाश होकर भी धर्म की विजय होती है। त्रेता का प्रतीक रामायण है। उठता हुआ अर्थात् कार्य में प्रवृत्ति आरम्भ करने वाला परन्तु पूर्ण न करने वाला भी न करने वाले से अच्छा है। वह त्रेता जैसा फल प्राप्त करता है। उसमें परस्पर स्नेह, धार्मिक भावना प्रबल होती है यद्यपि रावण वहाँ भी है। परन्तु चलने वाला तो कृतयुग का ही फल प्राप्त कर लेता है। कृतयुग पूर्ण शान्ति का सर्वोत्कृष्ट युग है। इसमें पूर्ण धर्म का प्रचार होता है। सब जन अपना-अपना कार्य करके ईश्वर पर पूर्ण विश्वास करते हुए केवल अपने कर्म के फल की आकांक्षा करते हैं। किसी अन्य के धनादि की कामना नहीं करते।

सा०—चतस्रः पुरुषस्यावस्थाः। निद्रा तत्परित्याग उत्थान सञ्चरण चेति।

तास्वोत्तरोत्तरश्रेष्ठत्वात् कलिद्वापरत्रेताकृतयुगे- समाताः । सततचरणस्य सर्वोत्तमत्वाच्चरैवेति ॥

चरैवेति वै मा ब्राह्मणोऽवोचदिति ह पञ्चमं संवत्सरमरण्ये चचार, सोऽरण्याद् ग्राममेयाय, तमिन्द्रः पुरुषरूपेण पर्येत्योवाच—

चरन्वै मधु विन्दति चरन् स्वादुमुदुम्बरम् ।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन् चरैवेति, इति ॥५॥

"निश्चय ही मुझे ब्राह्मण ने कहा है कि चलते ही रहो" यह सोचकर वह पाँचवें वर्ष वन में चलता रहा। वह (फिर) वन से गाँव को आया। (मार्ग में) इन्द्र ने पुरुष के रूप में आकर उसको कहा—

चलता हुआ (पुरुष) निश्चय ही मधु पाता है,
चलता हुआ स्वादु उदुम्बर फल (पा जाता),
सूरज की देखो तुम शोभा (अतुलित आभा),
जो नहीं अलस होता है चलता हुआ (कभी), चलते ही रहो ॥

मधु जीवन के माधुर्य, सुख का प्रतीक है। अन्यथा भी मधु का हमारी संस्कृति में विशेष महत्त्व है। अतिथिसत्कार की शास्त्रोक्त विधि में मधुमिश्रित 'मधुपर्क' को प्रमुख स्थान प्राप्त है। स्वास्थ्य की दृष्टि से भी मधु का महत्त्व कम नहीं। सम्भवतया इसीलिये नवजात शिशु को मधु चटाया जाता है। कार्यनिरत व्यक्ति ही मधु तथा तज्जन्य फल प्राप्त कर सकता है। उदुम्बर अर्थात् अंजीर का भी वेद में पर्याप्त यशोगान है। इसकी लकड़ी पवित्र मानी जाती थी और यज्ञ की समिधाओं के लिये उसका प्रचुर प्रयोग होता था। यहाँ यह सामान्य फल मात्र का प्रतीक है। मन्त्र के उत्तरार्ध में सतत गतिशील सूर्य की उपमा देकर चलते रहने या कार्यशील रहने की उपयोगिता स्पष्ट की गई है। गतिशील सूर्य अनादि काल से इसी प्रकार देदीप्यमान है, उसमें कभी आलस्य नहीं आता। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति तेजोमय और स्फूर्ति से युक्त जीवन चाहता है तो उसे निरन्तर गतिशील रहना चाहिये, निरन्तर क्रियाशील रहना चाहिये।

सा०—चरन्नेव पुरुषः क्वचिद् वृक्षाग्रे मधु माक्षिकं लभते। क्वचित् स्वादु मधुरमुदुम्बरादिफलविशेषं लभते। एतदुभयमुपलक्षणम्। तत्र तत्र विद्यमानं भोगविशेषं लभते। तत्र सूर्यो दृष्टान्तः। य. सूर्यः सर्वत्र चरन्नपि न तन्द्रयते कदाचिदप्यलसो न भवति तस्य सूर्यस्य श्रेमाणं श्रेष्ठत्वं जगद्वन्द्यत्वं (हॉग— सौन्दर्य, शोभा—ब्यूटी) पश्य। तस्माच्चरैव।

शतपथब्राह्मणम् ११।३।१

(अग्निहोत्रावयवोपासनाप्रकारः)

ब्राह्मणों को असङ्गतियों, अटकलों और कर्मकाण्डीय जटिलताओं का पुञ्ज बताया जाता है। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने ब्राह्मणसाहित्य को 'धर्म-विद्या-सम्बन्धी बकवाद' (थियोलोजिकल ट्वैडल) की संज्ञा दी है। किन्तु शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध शतपथ ब्राह्मण के प्रस्तुत अंश से इस धारणा का निराकरण होता है। इसमें अग्निहोत्र कर्म से सम्बद्ध विभिन्न वस्तुओं की आध्यात्मिक व्याख्या की गई है। इसमें बताया गया है कि यज्ञ केवल भौतिक ही नहीं होता अपितु उसका मर्म समझने के लिये या उसका उत्कृष्ट फल प्राप्त करने के लिये उसको आध्यात्मिक दृष्टि से समझकर उसका आध्यात्मिक अनुष्ठान करना आवश्यक है।

वाग्घ वाऽएतस्याग्निहोत्रस्याग्निहोत्री। मन ऽ एव वत्सस्तदिदम्मनश्च वाक्च समानमेव सन्नानेव तस्मात्समान्या रज्ज्वा वत्सञ्च मातरञ्चाभिदधति तेजऽएव श्रद्धा सत्यमाज्यम्[1] ॥१॥

अग्निहोत्री गौ इस अग्निहोत्र की वाणी ही है। (उसका) बछड़ा (इसका) मन ही है। तो यह मन और वाणी समान ही होते हुए भी भिन्न से (हैं), अत बछड़े और (उसकी) माता को एक समान रस्सी से बाँधते हैं। तेज अर्थात् अग्नि ही (अग्निहोत्र की) श्रद्धा, आज्य (घी) सत्य है॥

सा०—अग्निहोत्रमिति कर्मनामधेयम्। अग्नये होत्रं होमोऽस्मिन्निति व्युत्पत्तिः। उपचारात्तदर्थं पयोऽप्यग्निहोत्रम्। तस्य दोग्ध्री धेनुरपि अग्निहोत्रीत्युच्यते। तस्यैतस्याग्निहोत्राख्यस्य कर्मणः वागेव 'अग्निहोत्री' धेनुः। मनस्तस्या एव वत्सः, गवि वाग्बुद्धिः, वत्से मनोबुद्धिश्च कार्येत्यर्थः। तदेतत्समानधर्मयोगेन प्रतिपादयति। 'तदिदं' वाङ्मनसलक्षणं द्वयं 'समानम्' इदंप्रदेशे एकीभूतमेव सत् पश्चान्नानेव विभक्तमिव भवति। यस्मादेवं तस्माल्लोके दोग्धारः समान्या एकयैव रज्ज्वा वत्सं मातरं च अभिदधति बध्नन्ति। तत्र तेजसो हविषश्च श्रद्धासत्यरूपतामाह—तेज एव श्रद्धेति। होमाधिकरणभूतं यत्तेजस्तच्छ्रद्धात्मकत्वेन ध्यातव्यम्। तत्र होमद्रव्यमाज्यं तत्सत्यात्मकमिति॥

---

1. श. ब्रा. की अपनी विशेष स्वराङ्कन पद्धति है जिसके अनुसार उदात्त को दिखाने के लिये अक्षर के नीचे सीधी पड़ी रेखा दी जाती है। यदि कुछ उदात्त स्वर एक साथ आ रहे हों तो उनमें से केवल अन्तिम उदात्त को अङ्कित किया जाता है।

तद्धैतज्जनको वैदेहः । याज्ञवल्क्यम्पप्रच्छ वेत्थाग्निहोत्रं याज्ञवल्क्या ३ ऽ इति वेद सम्राडिति किमिति पय ऽ एवेति ॥२॥

तो इस (बात) को विदेह के (राजा) जनक ने याज्ञवल्क्य से पूछा—'हे याज्ञवल्क्य, क्या तुम अग्निहोत्र को जानते हो?' (उसने कहा—) "हे सम्राट् मैं जानता हूँ।" (जनक—) "वह क्या है?" (याज्ञवल्क्य—) 'वह दूध ही है।"

सा०—इममर्थं जनकयाज्ञवल्क्ययोरुक्तिप्रत्युक्तिभ्यां समर्थयते। तत्र खलु अग्निहोत्रविषय एतदुक्त तेजआज्ययो' श्रद्धासत्यस्परत्व विदेहानां राजा वैदेह जनकाख्यो राजा याज्ञवल्क्य महर्षि पप्रच्छ पृष्ठवान्। हे याज्ञवल्क्य! त्वम् अग्निहोत्रं वेत्सि जानासि किम्? इति प्रश्न। विचार्यमाणानाम्' (पा० ८।२।९७) इति प्लुति। सम्राट! वेद अहं जानामि अग्निहोत्रमिति प्रतिवचनम्। पुन किस्तदिति प्रश्न। 'पय एवेति तस्योत्तरम्। पय खलु नित्यतया अग्निहोत्रहोमसाधनत्वेन श्रुतम् अत पय एवाग्निहोत्रमित्यर्थ ॥

यत्पयो न स्यात्। केन जुहुया ऽ इति व्रीहियवाभ्यामिति यद्व्रीहियवौ न स्याताम् केन जुहुया ऽ इति या अन्याऽओषधय ऽ इति यदन्याऽओषधयो न स्यु केन जुहुया ऽ इति या ऽआरण्या ऽ ओषधय ऽ इति यदारण्या ऽ ओषधयो न स्यु केन जुहुया ऽ इति वानस्पत्येनेति यद्वानस्पत्य न स्यात् केन जुहुया ऽ इत्यद्भिरिति यदापो न स्यु केन जुहुया ऽ इति ॥३॥

(जनक—) 'यदि दूध न हो तो किसके द्वारा हवन करोगे?" (याज्ञ०—) "व्रीहि (धान) और यव (जौ) से।" (जनक—) 'यदि धान और जौ न हों तो किससे हवन करोगे?" (याज्ञ०—)"जो दूसरी (गाँव की, खेतों में होने वाली) ओषधियाँ (हैं उनसे)।" (जनक—) "यदि दूसरी (खेतों वाली) ओषधियाँ न हों तो किससे हवन करोगे?" (याज्ञ०—) "जो जगली ओषधियाँ (हैं उनसे)।" (जनक—) 'यदि जगली ओषधियाँ न हों तो किससे हवन करोगे?" (याज्ञ०—) "वनस्पतियों अर्थात् वृक्षों के फल से।" (जनक—) 'यदि वृक्षों का फल न हो तो किससे हवन करोगे?" (याज्ञ०—) 'जल से।' (जनक—) 'यदि जल न हो तो किससे हवन करोगे?"

सा०—यदि तर्हि पयो न स्यात् तदा केन द्रव्येण जुहुया इति प्रश्नस्योत्तर व्रीहियवाभ्यामिति। व्रीहियवयोरन्यतरत् साधनमित्यर्थ। एवमुत्तरेष्वपि प्रश्न प्रतिवचनेषु योजना। अन्या ओषधय इति। व्रीहियवातिरिक्ता ग्राम्या ओषधयो होमसाधनमित्यर्थ। आरण्या ओषधय इति। वेणुवश्यामाकधान्यादिकम् आरण्या।

नस्पत्येनेति । वनस्पतिर्वृक्ष तज्जन्यं फलादिक वानस्पत्य तेनेत्यर्थं । स्याप्यभावे आप एव होमद्रव्यमित्याह अद्भिरिति ॥

ह होवाच । न वाऽइह तर्हि किञ्चनासीदथैतदहूयतैव सत्यꣳ श्रद्धा-यामिति वेत्थाग्निहोत्रं याज्ञवल्क्य धेनुशतम् ददामीति होवाच ॥४॥

उस (याज्ञवल्क्य) ने कहा—"निश्चय ही यहां तब (सृष्टि के प्रारम्भ में) कुछ भी नहीं था, फिर भी सत्य का श्रद्धा में हवन किया जाता था।" "याज्ञवल्क्य ! तुम अग्निहोत्र को जानते हो। मैं तुम्हें सौ गौएं देता हूं।" (जनक ने) कहा।

सा०—तासामभावे केन होम इति पृष्टे मनसि रहस्यत्वेन स्थापितमर्थमाह। इत्थं खलु याज्ञवल्क्य उवाच—तर्हि, तथा सति इहास्मिन् लोके किंचन किमपि होमसाधनमन्यत् द्रव्य नैवासीत्। तथापि एतदग्निहोत्रम् अहूयतैव न लुप्यते। तत्किंरूपमित्युच्यते—यत्सत्यवदनरूपो यो धर्मः स एव श्रद्धारूपाग्नौ हुयत इति अन्तरतिगूढमर्थमाविष्कृतवान्। विद्योपदेशातुष्टस्य जनकस्य वाक्यम्—वेत्थाग्निहोत्रमिति। हे याज्ञवल्क्य ! त्वमेवाग्निहोत्र जानासि। अतस्तुभ्य रहस्यवेदिने धेनूना शतं पारितोषिक प्रयच्छामीत्यर्थः॥

एग्लिंग ने याज्ञवल्क्य के वचन का यह अनुवाद किया है—तब तो निश्चय ही यहां कुछ भी नहीं होगा और फिर भी आहुति दी जावेगी सत्य की श्रद्धा में।[1]

तदप्येते श्लोकाः। किꣳस्विद्विद्वान् प्रवसत्यग्निहोत्री गृहेभ्यः। कथꣳस्विदस्य काव्यं कथꣳसन्ततोऽअग्निभिरिति कथꣳस्विदस्यानपप्रोषित भवतीत्येवैतदाह ॥५॥

उस (अग्नि होत्र) के विषय में ये श्लोक भी हैं। अग्निहोत्र करने वाला (अग्निहोत्र को) क्या जानता हुआ (अपने) घर से प्रवास करता है ? कैसे उसका काव्य (अर्थात् 'जीवन पर्यन्त अग्नि होत्र करता रहे' यह वाक्य सिद्ध होता है) ? कैसे वह अग्नियों से सम्बद्ध (रहता है) ? यह (श्लोक) यही कहता है कि "कैसे उस (प्रवासी) का प्रवास-दोष का अभाव होता है ?"

सा०—अथ प्रवसद्विषये अग्निहोत्रमस्य मन प्राणात्मना सान्तत्य श्लोकमन्त्रं प्रतिपादयति। तत्तस्मिन् अग्निहोत्रविषये अपि खलु एते श्लोका पठ्यन्ते। तत्र प्रथमेन श्लोकेन प्रवासविषय प्रश्नमुद्भावयति। अग्निहोत्री यावज्जीव-

1. सेक्रिड बुक्स ऑफ द ईस्ट, ग्रं ४४, पृ ४६।

सङ्कल्पिताग्निहोत्रवान् यजमानः किं विद्वान् किंरूपमग्निहोत्रं जानन् गृहेभ्यः प्रवसति तथा ग्रस्य प्रवसतो यजमानस्य कथं वा तत् काव्य कविकर्म यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयादिति वाक्यं समर्थं भवति। तथा ग्रग्निभिः गार्हपत्यादिभिः कथं सन्ततं सम्बद्धो भवतीति। ग्रस्य मन्त्रस्य तात्पर्यार्थमाह—ग्रस्य प्रवसतो यजमानस्य ग्रनपप्रोषितं प्रवासदोषाभावः कथं सिद्धयतीति एतत् प्रथमश्लोकरूपमन्त्रवाक्यं प्रतिपादयतीत्यर्थः ॥

एगेलिंग—क ब्यम् प्रज्ञा (विज़्डम)—उसकी प्रज्ञा कैसे (व्यक्त होती) है? ग्रर्थात् जीवन भर प्रतिदिन नियमित रूप से दो बार ग्रग्निहोत्रानुष्ठान-सम्बन्धी ग्रपने ज्ञान को कैसे प्रकट करता है?[1]

यो जविष्ठो भुवनेषु। स विद्वान् प्रवसन् विदे। तथा तदस्य काव्यं तथा सन्ततोऽग्निभिरिति मनऽएवैतदाह मनसैवास्यानपप्रोषितं भवतीति ॥६॥

जो लोकों में (ग्रर्थात् लौकिक वस्तुग्रों में)[2] सबसे ग्रधिक वेगवान् है, वह विद्वान् प्रवास करता हुग्रा लाभ के लिये (होता है)। उस प्रकार उसका यह काव्य (ग्रग्निहोत्र नियमसम्बन्धी वाक्य सिद्ध होता है)। उस प्रकार वह ग्रग्नियों से सम्बद्ध (रहता है)। यह (श्लोक) मन को ही कहता है, मन के द्वारा ही उसके प्रवास दोष का ग्रभाव होता है।

सा—प्रश्नोत्तरं द्वितीयेन श्लोकमन्त्रेण प्रतिपादयति। यः यजमानः भुवनेषु लोकेष्वनुष्ठेयपदार्थेषु जविष्ठः ग्रतिशयेन वेगवान् मनसा कृत्स्नं दूरस्थमपि प्रयोगजातमनुसन्धातुं कुशल इत्यर्थः। स विद्वान् विदे लाभाय प्रवसन् प्रवासकारी भवति। तथा तेन वेदनेन ग्रस्य प्रवसतः तत् काव्यं यावज्जीववाक्यमपि सार्थकं भवति तथा तेनैव वेदनेन दूरे वर्तमानोऽपि ग्रग्निभिः सन्ततः ग्रव्यवहितसम्बन्ध एव भवति। इमं मन्त्रं तात्पर्यकथनेन व्याचष्टे—एतन्मन्त्रवाक्यं प्रवासजनितदोषनिवृत्तेः मन एव समाधानमिति ग्राह तात्पर्यतो ब्रूते इत्यर्थः। ग्रनपप्रोषितं प्रवासदोषविरहः ॥

यत्स दूरं परेत्य। अथ तत्र प्रमाद्यति कस्मिन् सास्य हुताहुतिर्गृहे यामस्य जुह्वतीति। यत्स दूरं परेत्याथ तत्र प्रमाद्यति कस्मिन्नस्य साहुतिर्हुता भवतीत्येवैतदाह ॥७॥

---

१ सेक्रिड बुक्स ग्रॉफ द ईस्ट, ख ४४, पृ ४७।
२ वही, एगेलिंग—लोकों में या प्राणियों के मध्य या प्राणियों में।

यदि वह (यजमान) दूर जाकर और वहां प्रमाद करता है (तो ऋत्विज्) उसकी जिस आहुति को अर्पित करते हैं, उसकी वह अर्पित आहुति किस घर में अर्पित होती है ? यदि वह दूर जाकर और वहां प्रमाद करता है (तो) उसकी वह आहुति किस (घर) में अर्पित होती है ?—यह (श्लोक) यही कहता है।[1]

सा यत् स दूरमिति तृतीयश्लोक । यत् यदि स यजमान दूर परेत्य अथ तत्र प्रमाद्यति अनवधानयुक्तो भवति । तदा अस्य यजमानस्य गृहे यामाहुतिम् ऋत्विज जुह्वति सा आहुतिरस्य प्रमाद्यतो यजमानस्य तस्मिन् गृहे एव हुता भवति । न त्वनेन सगच्छत इत्यथ । निगदसिद्धोऽर्थ ॥

यो जागार भुवनेषु । विश्वा जातानि योऽबिभ तस्मिन्नस्य हुताहुतिर्गृहे यामस्य जुह्वतीति प्राणमेवैतदाह तस्मादाहु प्राणऽएवाग्निहोत्रमिति ॥८॥

जो लोकों (अथवा प्राणिशरीरों) में जागता रहता है, जो सभी प्राणियों को धारण करता है उसकी वह आहुति उस (प्राणरूपी) घर में अर्पित होती है, उसकी जिस आहुति को (ऋत्विज) अर्पित करते हैं। यह (श्लोक) प्राण को ही बताता है। इसलिये कहते हैं कि प्राण ही अग्निहोत्र है।[2]

सा —एव हि तन्मनस्कस्य प्रवसतो मनसैवाग्निहोत्रसम्पत्तिमभिधाय प्राणरूपतामप्याह । य प्राणवायु भुवनेषु शरीरेषु जागार जागर्ति अनिद्र सदा वर्तते । तथा विश्वा सर्वाणि जातानि भूतजातानि योऽबिभ तदाधाररूपतया बिभर्ति तस्मिन् अनिरुक्तरूपिणि तस्मिन् प्राणवायो अस्य उक्त प्राणस्य विदुष प्रवसतो यजमानस्य सा अग्निहोत्राहुति हुता भवति । गतमन्यद् । इम मन्त्र व्याचष्टे—एतन्मन्त्रवाक्य प्राणमेव होमाधारत्वेन प्रतिपादयतीत्यर्थं । अत्र विद्वत्प्रसिद्धि संवादयति—इत्यमाहुत्यधिकरणत्वात् प्राण एव अग्निहोत्राख्य कर्मेति तत्र प्राणबुद्धि कार्येत्यथ । प्राणस्तु सर्वदा यजमानेन सम्बद्ध इति न प्रवासजनितदोषावकाश इत्यर्थं ॥

---

१ एगेलिंग—यत् अत्र, कस्मिन् सा जुह्वतीति—उसकी वह आहुति कहां अर्पित की जाती है, (और कहां) उसके घर में वे अर्पति का यज्ञानुष्ठान करते हैं ?

२ एगेलिंग—भुवनेषु—लोकों में, तस्मिन् जुह्वतीति—उसकी वह आहुति उसमें अर्पित होती है, (और उसमें) उसके घर में वे अगति की आहुति अर्पित करते हैं।

शब्दानुक्रमणिका

असयो ८४
अक्तौ १४५
अक्षा· १४०-१
अग्नि १-५
अग्निम् ५, १६६
अग्निहोत्रोपासना २०६-१३
अग्ने १४, १८
अघ्न्या १६०
अङ्कुशिन १४७
अङ्ग १७
अङ्गिर· १८
अचेतयत् १०१
अच्छान् १४२
अजिरम् १८५
अञ्जिअमन्त· ८१
अतप्ततनू १२५
अतव्यान् ११५
अद्भुत १३५
अध्वरम् १४, १३८
अध्वराणाम् २२
अनवभ्रराधम ८२
अनागा १०१
अनुष्वधम् ४२
अन्त ५३, १८१
अन्तर्वदरौ ६४
अपगूह ११७
अपस १८०
अपूर्वम् १८१
अप्रयुताम् १०८
अबोधि ६४
अमृतम् १६०, १६५
अमृतस्य ५६
अयुग्ध्वम् ७७
अरङ्कराणि १०१
अरूरुचत् १२६
अरेपस ७६
अर्का ८२
अर्कं ६४
अर्यम् ५६
अर्यं ४६, १०२, १७४
अवचिन्वती ६०
अवसा १६७
अवहीये १४५
अश्नवत् १२
अश्वेत् ६३
अश्वा ५८
असि १५, ३७
अस्य १६२
आकूति· १७७
आ गन्तन ७०
आत्मदा १५६
आदधु १३२
आप १७०
आ पप्रौ ४५
आ भर ५०, ५३
आयन् १६६
आयमम् ४४
आ ववृत्स्व ५६
आ ववृधे ४३
आविवासात् १०७
आशत १३६
आशव १२८

आस ६६
आ ससयुवम १७४
आस ११८
इळ पद १७४
इन् १५
इत्था १३४
इन्द्र २८-३४
इन्द्रवन्त ७०
इममि २२
इषण्यन् ६५
इषुमन्त ७३
इह १०
ईळे ५
ईडप १०
ईम् ३६
ईरयन्ती ५८
उपमाणा ८८
उक्षा १२६
उग्रा १६४
उत १०
उदम्यवे ७१
उदीरत ४०
उदैति १७६
उपरि १४६
उपाकयो ४३
उपो ६५
उभयाहस्त्या ४६
उरुगायाय १०६
उषा ५४-५६
ऋजुक्रतु ४६
ऋतज्ञा ८७
ऋतस्य २३, ६४
ऋतावरी ६३
ऋत्विजम् ७
ऋषिभि ६
ऋष्य ८३
ऋष्टिमन्त ७३
ऋष्व ४३
एकपरस्य १४३
एकस्नुष्टीन १६५
एव १२
एवयाव १०८
एपि ६४
ऐतरेयब्राह्मणम् २०२-४
करिष्यसि १८
कविक्रतु १६
कस्मै १५७
कीरय ११२
कुमारदेष्णा १४७
कृण्वन्ति १८०
कृतानि १४६
केतु ५६
कोपयथ ७६
क्रत्वा ४२
क्रन्दसी १६६
क्षयन्तम् ११५
क्षय ५३
गच्छति १५
गन्धर्व १३३
गमत् १७
गर्भम् १३२
गृत्सम् १०७
गोनाम् २३

चक्रम ९८
चन्द्ररथा ५८
चन्द्रवत् ८५
चन्द्रा १७१
चन्द्रेव ६५
चरणीयमाना ५६
चरसि ५७
चराति २०७
चरैवेति २०४ ८
चित्तम् १८४
चित्तिन १९३
चित्रम् ६४
चित्रश्रवस्तम १६
चेत १८२
चेतसा १२८
छाया १६०
जज्ञे २०४
जनानाम् ५३
जनिता १७०
जनिमानि १३५
जन्तव ५२
जरत १४३
जविष्ठम् १८५
जिह्मीळे १४२
जुनाति १०२
ज्यायस्वन्त १९३
तन्तव १२७
तन्वा १४६
तपो १२६
तवस १११
तवसम् ११५
नवीयान् १११
तस्तभाने १६७
तुर ९७
तुवीमघाम ८७
तृष्णजे. ७१
त्रिपञ्चाश १४८
त्वा २०
त्वायाम् ४५
त्वेषम् १११
त्वेषसन्दृश ८२
दक्ष ९९
दक्षम् १७०
दद ८६
ददि ४९
दभ्रस्य ३८
दमे २५
दयते १०६
दशस्यन् ११२
दा १०८
दाधार १५७
दाशत् १०१
दाशुषे १८, ४७
दिदृक्षु ९५
दिवस्पदे १२७
दिवे दिवे १२
दीदिविम् २४
दूळभ ९१
दूरगमम् १७९
देवम् ६
देवा १७५
देवान् १०
देवेषि १७
देवेषु १५

म्	१०६	पति	१४७
यस्य	८६	पराके	१११
यावस्त	२०	परादर्दाति	४७
ाम्	१५७	परादर्दि	३८
ौरिव	८०	परिवत्स्यम्	११६
द्सद	१६१	परिगृहीतम्	१८३
द्पदः	१६२	परिम	१५
वना	४०	पर्व	१०६
पिया	२१	पवितारम्	१२७
पीरा	६३	पवित्रम्	१२५
धुनिः	१८२	पशुतृपम्	६८
धुनि	६६	पाज	६३
ध्रुवास	११२	पितर	१३२
नम	१३८	पिता इव	२६
नम	२१	पिपिशे	८४
नमसा	६२	पुनन्ति	३७, १८६
नर	८७	पुरुत्रा	६५
मर्यम्	१०७	पुरुद्रप्सा:	८१
नाक	१६५	पुरुवसुम्	५१
नाकम्	६३	पुरुश्चन्द्रस्य	१०६
नानाथास्ताय	२०५	पुरोहितम्	५
नाम	८२	पूर्वेभिः	६
नि, जिहते	७६	पृथिवीम्	१५७
निधया	१३५	पृथुपाजस	५८
निमिषत	१६१	पृश्नि	१२६
नु	१०६	पृश्निमातरे	७४
नूतनै.	१०	पृषती	७७
नृचक्षसः	१३२	पोषम्	१२
नृभि	३६	प्र अविपद्	३७
नृम्णा	८४	प्रजापते	१७२
नृषद्	२०१	प्रज्ञानम्	१८२
नवीयसे	१८५	प्रतिदीव्ने	१४६

प्रतिष्ठिता १८४
प्रतीची ५६
प्रत्वक्षम ८०
प्रदिश १६३
प्रपा १६४
प्रववक्षे ११७
प्र वोच ६६
प्रशस्तिम् ८६
प्राणत १६१
बद्बधे ४५
बभूय ११८
बर्हणा १४७
बाहू १६३
बुध्ने ६४
बृहत् ८८
बृहती १६६
बृहद्गिरय ८८
ब्रह्म १६३
ब्रह्मणस्पते १२५
भक्षीय ४७, ८६
भद्रया १६२
भरन्त २१
भागम् १७५
भानुम् ६५
भूतस्य १५७
भूमि १६६ २००
भूरि ३८
भूर्णये १०१
मदच्युता ४१
मदाय ३५
मदे मदे ४८
मघुघा ६२
मथुन १३६
मनुषे १११
मनुष्यान् १८५
ममिरे १३१
मरुत ६६ ६
महित्वा ११०, १६३
महिना ८०, १७०
मादयस्व ५१
मायया १३१
माया ६५
मायाभि १६६
मायाविन. १३०
मिमेय १४२
मृळत ८७, १५३
यज्ञम् १८१
यजुर्वेद १७८ ६
यज्ञम् १७०
यज्ञस्य ६
यज्ञसम् १३
यायन ७४
यामन ७६
युध्व ४१
रज ४५
रजस १६५
रक्षस दृक् ६३
रत्नधातमम् ८
रथेष्ठा १८७
रयिम् १०
रसया १६३
राजतम् २२
राधस ४७
रिपुम् १३५

रुक्मवक्षस	८२	विपन्ति	१९३
रुद्रास:	७०	विश्वजन्याम्	१०८
रुद्रियासु	८६	विश्वा	१४
रेजमाने	१६७	विश्वम्	१६९
रोचना	४५, ६३	विश्ववारे	५७
वग्नति	११	विश्वानि	१७४
वना	७६	विश्वे	१६०
वयुनानि	११४	वीर	३७
वरुण	८९-९२	वीरवत्तमम्	१३
वर्धन्तु	११९	वृत्रहा	३५
वर्पं	११७	वृष	३८
वपनिर्णिज	७९	वेद	५३
वत्निश्च	४६	व्यश्विरन्	१२७
ववृधे	३८	व्रतम्	१९१
वसिष्ठम्	९८	शतचंक्षम्	११०
वसु	४९	शन्तियाम्	१९०
वसौ	४१	शवसे	३५
वस्यस्य	१४३	शिक्षतु	४७
वाजम्	१३८	शिक्षति	३९
वाजयु	१३०	शिपिविष्ट	११३
वाजिनि	५७	शिप्री	४४
वातेन	५७	शिवसंकल्पम्	१७९
वाजेषु	३६	शिशीहि	४९
वातत्विष	७८	शुभे	७७
वार्यम्	५२	शूशुजान	१४६
वाशीमन्त	७३	श्रव	१३९
वि चष्टे	१५२	सराधयन्त	१९३
वितनम्	१२५	स वदे	९४
विदथेषु	१८०	सगच्छध्वम्	१७५
विधेम	१५९	सगृभाय	४९
विपृच्छम्	९५	सचस्व	२६
विमान	१६६	सचा	५१

सजोपस	७०	सुवीरम	८५
सजानम्	१७३	सुवृक्तिम्	६२
सत्यः	१६	सुषारथि	१८५
सत्यधर्मा	१७१	सुष्टुतय	११६
सत्यम्	१६	सुसदृश	७६
सत्ययुत	८७	सुसहासति	१७७
सत्राचा	१०६	सूनवे	२६
सध	१३७	सूनृता	५८
सध्रीचीनान्	११४	सूपायन	२६
सनिष्यन्	१०६	सैन्य	३८
सपर्यंत	१६४	सोम	१००-४
सप्तहोतार (?)	१८३	सौमनस	१६५
समवतत	१५६	स्थविरस्य	१११
सम्यञ्च	१६१	स्यूम इव	६०
सव्रता	१६१	इव	६१, १६५
समृज्महे	५१	स्वधाव	६६
सह	८४	स्वदवा	७४
सहन्ते	१४६	स्वसारस्य	६१
सहस्रभृष्टि	१३६	स्वस्तये	२७
सहृदयम्	१८६	स्वस्तिभि	११६
सामनस्यम्	१८८ ६	स्वायुधा	७४
सुजनिमा	११२	हन	४१
सुजातास	८२	हये	८७
सुते	५१	हरी	४१
सुदसा	६१	हविषा	१५६
सुदानव	८१	हविष्म	१३७
सुधन्वान	७३	हिमवन्त	१६२
सुन्वत	३६	हिरण्यगर्भ	१५४ ६
सुपेशस	७६	हिरण्यरथा	७०
सुमृतिम्	१०८	हृत्प्रतिष्ठम्	१८५
सुपभ्रास	५८	हृदयम्	१६६
सुवितस्य		होतारम्	७
सुविताय			